इस्लाम एक नज़र में

लेखक

मौलाना सदरुद्दीन इस्लाही

अनुवाद

कौसर लईक़

पुनरावलोकन एवं संक्षिप्तीकरण

नसीम ग़ाज़ी फ़लाही

विषय सूची

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम

(अल्लाह के नाम से जो अत्यन्त करुणामय, दयावान है)

भूमिका

एक लम्बे समय से इस बात की ज़रूरत महसूस हो रही थी कि एक ऐसी किताब तैयार की जाए जो इस्लाम का सटीक और सुस्पष्ट परिचय करा दे। उसमें न तो बहस का सूक्ष्म-ज्ञानपरक ढंग अपनाया गया हो, न वार्ता आंशिक विषयों तक फैली हुई हो और न ही कुछ पहलुओं को ज़्यादा उभारा और कुछ को दबा दिया गया हो, बल्कि बहुत ही साफ़ और स्पष्ट शैली में और पूरे सन्तुलन के साथ यह बताया गया हो कि इस्लाम क्या है ? उसकी वास्तविकता और उसका उद्देश्य क्या है? उसके मूल तत्त्व और उसकी मौलिक शिक्षाएँ क्या हैं? समुचित रूप से उसकी क्या रूप-रेखा है? मानव को वह कौन-सा दृष्टिकोण देता, किस चरित्र और आचरण पर उभारता और किस प्रकार का जीवन गुज़ारने का निर्देश देता है?— यह पुस्तक इसी आवश्यकता के एहसास का परिणाम है। प्रयास किया गया है कि यह आवश्यकता इस पुस्तक से पूरी हो जाए तथा जो लोग मुसलमान होने के बाद भी सही रूप से यह नहीं जानते कि इस्लाम वास्तव में है क्या, वे मात्र इसी एक पुस्तक के अध्ययन से मौलिक और आवश्यक सीमा तक, उसे उसके शुद्ध रूप में देख लें। इस प्रयास में व्यवहारतः जितनी सफलता मिल सकी है वह मात्र अल्लाह का फ़ज़्ल (कृपा) है और जो भी असफलता लक्षित होती है, वह बन्दे के ज्ञान और चिन्तन की कमी का परिणाम है।

इस पुस्तक में आप संक्षिप्त वर्णन भी पाएँगे और विस्तृत वर्णन भी। इसका कारण मात्र समय की माँग है। 'दीन' (धर्म) की जिन बातों से लोग आम तौर पर परिचित हैं, या जिन पहलुओं पर लिखने और बोलनेवाले प्रायः बल दिया करते हैं, उचित यही था कि उनपर विस्तृत बहस न की जाए। किन्तु

जिन धार्मिक विचारों और समस्याओं का मामला इसके विपरीत है, जिनसे लोग सामान्यत: बहुत कम परिचित हैं और जिनपर लिखने और बोलनेवाले भी आवश्यक ध्यान नहीं दिया करते, उनके सम्बन्ध में अपेक्षित यही था कि उनपर ज़रा विस्तार पूर्वक विचार किया जाए। इसी प्रकार 'दीन' के वे पहलू, जिनके बारे में यही नहीं कि लोग बहुत कम जानते हैं, बल्कि जो जानकारी भी रखते हैं वह सही नहीं है और उनके पूरे महत्व को न तो विचार की दृष्टि से स्वीकार किया जाता है और न ही व्यावहारिक दृष्टि से, उनकी यह अविस्मरणीय अपेक्षा थी कि उनके बारे में विस्तार और विवेचना दोनों से काम लिया जाए।

अल्लाह तआला से दुआ है और आपसे यह निवेदन है कि आप भी यह दुआ करें कि जिस उद्देश्य से यह किताब लिखी गई है उसे यह पूरा करे, आम लोगों के लिए इसे इस्लाम के ज्ञान का साधन और इस गुनहगार के लिए आख़िरत का पाथेय (तोशा) बनाए।

सदरुद्दीन इस्लाही
28 रबी उल अव्वल 1414 हिजरी
17 सितम्बर, 1993 ई.

इस्लाम का अर्थ तथा अभिप्राय

इस्लाम का मौलिक अर्थ

शब्दकोशानुसार, 'इस्लाम' का अर्थ 'आज्ञानुपालन' होता है, किन्तु धर्म की परिभाषा में इस शब्द का अर्थ वह आज्ञानुपालन होता है, जो अल्लाह तआला के लिए हो तथा 'मुस्लिम' वह होता है जो अल्लाह तआला के आदेशानुसार जीवन व्यतीत करे और उसके आदेशों से मुँह न मोड़े।

नैसर्गिक इस्लाम

'अल्लाह के आदेशों' के सम्बन्ध में हम सभी जानते हैं कि वे दो प्रकार के होते हैं एक नैसर्गिक और दूसरे वैधानिक अर्थात् जिनका सम्बन्ध शरीअत या कर्मकाण्ड से होता है।

'नैसर्गिक आदेश' उन आदेशों को कहते हैं, जिनका पालन अनिवार्यतः करना ही पड़ता है और जिनका उल्लंघन असम्भव होता है, क्योंकि सृष्टि की प्रत्येक चीज़ पैदा ही इस तरह की गई है कि वह उन आदेशों के पालन करने हेतु विवश है । और उसे पैदाइशी तौर पर इस बात की स्वतन्त्रता बिलकुल नहीं प्राप्त है कि चाहे तो उनपर अमल करे और चाहे तो न करे। उदाहरणार्थ, सूरज को उसके और इस समस्त संसार के स्वामी का आदेश है कि वह एक नियत समय पर उदय हो और एक नियत समय पर अस्त हो जाए। पृथ्वी से एक निश्चित दूरी पर रहे और उसे प्रकाश और ऊष्मा पहुँचाए। सूर्य इन आदेशों के अनुपालन के लिए विवश है। उसे यह शक्ति प्राप्त नहीं कि वह उनके अनुपालन से कभी इनकार कर जाए। इसी प्रकार हवा को इस बात का आदेश है कि वह जीवधारियों को जीवित रखे। पानी को आदेश है कि प्यास बुझाए, अग्नि को आदेश है कि जलाए और मनुष्य को आदेश है कि वह मुत्र

से बोले, कान से सुने और नाक से सूँघे। और ये सब के सब इस बात पर बाध्य हैं कि इन आदेशों की पाबन्दी करें। इसके प्रतिकूल कोई मार्ग अपनाना उनके वश में है ही नहीं। इस प्रकार के आदेशों को नैसर्गिक विधान और प्राकृतिक नियम भी कहते हैं। सामन्यतः इस विधान के ये ही नाम अधिक प्रसिद्ध हैं।

'वैधानिक आदेश' अल्लाह तआला के उन आदेशों को कहते हैं जिनकी पैरवी पर प्राणी जन्मजात बाध्य नहीं होता, बल्कि उनकी पैरवी स्वतन्त्र रूप से स्वेच्छापूर्वक होती है। लोग इस बात पर स्वतन्त्र होते हैं कि चाहें तो अमल करें, चाहें तो न करें। उदाहरणार्थ, मनुष्य को आदेश है कि वह एक ईश्वर की बन्दगी करे, किन्तु वह ऐसा करने के लिए पैदाइशी तौर पर विवश नहीं है, बल्कि उसे इस बात का इख़्तियार (अधिकार) दिया गया है कि चाहे तो उसी एक ईश्वर की बंदगी करे, चाहे तो उसके साथ हज़ारों को ख़ुदा बना ले और चाहे तो सिरे से ख़ुदा और ख़ुदाई से ही इनकार कर बैठे। इन आदेशों को "संवैधानिक आदेश" या 'शरीअत के नियम' भी कहते हैं।

ये दोनों प्रकार के आदेश समान रूप से अल्लाह ही के आदेश हैं। चूँकि अल्लाह तआला के आज्ञानुपालन ही का नाम इस्लाम है, इसलिए उनमें से प्रत्येक का अनुपालन अर्थ की दृष्टि से 'इस्लाम' ही होगा। यह एक स्पष्ट और खुली सच्चाई है।

फिर चूँकि जड़-पदार्थों से लेकर मनुष्यों और फ़रिश्तों तक सृष्टि में कोई भी ऐसा नहीं है, जो अपने स्रष्टा के अधीन न हो और जिसे नैसर्गिक या संवैधानिक किसी प्रकार के आदेश न दिए गए हों, इसलिए 'इस्लाम' और 'मुस्लिम' होने का मसला मात्र इनसानों तक ही सीमित नहीं रह जाता, बल्कि सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त होता है और इस्लाम ईश्वर द्वारा रचित किसी एक रचना का नहीं, बल्कि पूरी सृष्टि (मख़लूक़) का धर्म ठहरता है। इसका अर्थ यह हुआ कि सृष्टि की उन समस्त चीज़ों का धर्म भी 'इस्लाम' ही है, जिन्हें इरादे और अधिकार की स्वतन्त्रता से वंचित रखा गया है और जिनको मात्र नैसर्गिक आदेश दिए गए हैं। इसी तरह चूँकि वे इन हुक्मों की पूरी-पूरी पाबन्दी

अनिवार्यत: करती हैं, इसलिए वे सब की सब 'मुस्लिम' और पूर्ण 'मुस्लिम' हैं—यह सूर्य 'मुस्लिम' है; क्योंकि यह उसी एक निश्चित व्यवस्था के अनुसार भ्रमण करता है, उदय और अस्त होता है, गर्मी पहुँचाता और रौशनी फैलाता है, जो उसके लिए नियत कर दिया गया है। ये चाँद और सितारे 'मुस्लिम' हैं; क्योंकि उनपर जिन नियमों की पाबन्दी अनिवार्य की गई है, वे उनका कभी उल्लंघन नहीं करते। यह वायु 'मुस्लिम' है; क्योंकि यह उसी तरह चलती, उसी तरह बादलों को हँकाती, उसी प्रकार वनस्पतियों को आहार देती और ताज़गी प्रदान करती और उसी प्रकार जीवधारियों को जीवित रखती है, जिस तरह उसे आदेश दिया गया है। यह जल 'मुस्लिम' है; क्योंकि यह पृथ्वी को सिंचित करता है, पौधों को उगाता है, प्यास बुझाता है और गर्मी पाकर भाप बन जाता है और यही कुछ उसके सृष्टिकर्ता व स्वामी की ओर से उसका कर्त्तव्य ठहराया गया है।

यह बात कि उन सभी का समस्त धर्म भी 'इस्लाम' है, जिनमें संकल्पशक्ति नहीं पाई जाती, यह बात मात्र बुद्धि और अनुमान के आधार पर नहीं कही जा रही है, बल्कि इसका मूलाधार क़ुरआन की स्पष्ट और खुली व्याख्याएँ हैं। जैसा कि क़ुरआन में है –

> "क्या ये (सत्य का इनकार करनेवाले) अल्लाह के 'दीन' (धर्म) से हटकर किसी और धर्म के इच्छुक हैं? जबकि वे सब के सब, उसी के 'मुस्लिम' (आज्ञानुपालक) हैं, जो आकाशों में और पृथ्वी पर हैं....।"
>
> (क़ुरआन, 3:83)

क़ुरआन के ये शब्द इस बात के प्रमाण हैं कि आकाशों से लेकर पृथ्वी तक सृष्टि की हर चीज़ — सत्यधर्म के इनकारी इनसानों के सिवा — अल्लाह की 'मुस्लिम' है और हरेक का धर्म 'इस्लाम' ही है।

एक और आयत देखें जो इसी यथार्थ को दूसरे शब्दों में बयान कर रही है –

> "सातों आसमान और ज़मीन और वे जो उनमें हैं सब के सब अल्लाह की पवित्रता और उच्चता बयान कर रहे हैं। इस जगत् की कोई वस्तु भी ऐसी

नहीं जो उसकी महिमा के साथ उसका गुणगान न कर रही हो, किन्तु तुम उनके गुणगान को समझते नहीं।" (क़ुरआन, 17:44)

एक तीसरी आयत और देखें –

"क्या तुमने नहीं देखा कि वास्तव में सभी अल्लाह को सजदा कर रहे हैं, वे जो आकाशों में हैं और वे जो ज़मीन में हैं — और सूरज, और चाँद और तारे और पहाड़ और पेड़ और चौपाए और बहुत-से इनसान।"

(क़ुरआन, 22:18)

मालूम हुआ कि सृष्टि की एक-दो चीज़ नहीं, अपितु ये आकाश और ज़मीन, यह चाँद और सूरज, ये सितारे और ग्रह, यह हवा और पानी, ये पेड़ और पौधे, ये नदियाँ और पहाड़, ये पशु और पक्षी, ये इनसान और जिन्न — मतलब यह कि कण से लेकर सूरज तक प्रत्येक छोटे-बड़े, जीवधारी, निर्जीव, बुद्धिवाले और बुद्धिहीन अल्लाह का 'गुणगान' कर रहे हैं और उसी के आगे नत-मस्तक हैं। इस महिमागान और गुणगान का और इस सजदे का कम से कम इतना अर्थ तो स्पष्ट ही है कि सृष्टि की ये चीज़ें उन आदेशों और नियमों की पूरी-पूरी पाबंदी करती रहती हैं जो उनके लिए अल्लाह तआला ने नियत किए हैं, और इस प्रकार उसके व्यक्तित्व और गुणों की अपनी ख़ामोश ज़बान में गवाही देती रहती हैं।

क़ुरआन की इन आयतों ने यह बात बिलकुल स्पष्ट कर दी है कि सृष्टि की वे सारी चीज़ें जो अपने संकल्प और स्वेच्छा से कुछ करने का अधिकार नहीं रखतीं उनका धर्म 'इस्लाम' ही है, किन्तु उन्हें जो आदेश दिए गए हैं वे चूँकि नैसर्गिक प्रकार के हैं, इसलिए उनके इस्लाम का आकार-प्रकार भी 'नैसर्गिक या जन्मजात' इस्लाम का होगा और उनको 'नैसर्गिक या जन्मजात' मुस्लिम कहा जाएगा।

संवैधानिक और पारिभाषिक इस्लाम

अब सृष्टि के उन जीवों को लीजिए जिन्हें संकल्प और स्वेच्छा से कुछ करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। उनकी स्वाभाविक स्थिति यह है कि यदि

बहुत-सी बातों में वे भी पहले प्रकार की सृष्टि की चीज़ों की ही तरह विवश और अधिकारविहीन हैं, तो बहुत-से मामलों में इस तरह विवश और अधिकार विहीन नहीं भी हैं, वरन् जन्म से ही उन्हें इस बात की स्वतन्त्रता प्राप्त है कि उन मामलों में जो नीति चाहें, अपनाएँ। उदाहरणार्थ, मानव के लिए अल्लाह तआला के कुछ क़ानून ये हैं कि वह आँख से देखने का, कान से सुनने का और ज़बान से बोलने का काम ले और कुछ अन्य विधान ये हैं कि वे आँख से अमुक चीज़ देखे. और अमुक चीज़ न देखे। कान से इस प्रकार की बातें सुने और इस प्रकार की न सुने। उसकी ज़बान से इस प्रकार की बातें निकलें और इस प्रकार की न निकलें। पहले प्रकार के क़ानून का अनुपालन तो वह अनिवार्य रूप से करता है, क्योंकि उन आदेशों में उसे अनुपालन करने और न करने की कोई स्वतंत्रता दी ही नहीं गई है, इसलिए वह विवश है कि उन्हीं क़ानूनों के अनुसार व्यवहार करे, किन्तु दूसरे प्रकार के क़ानून के सम्बन्ध में उसे इस प्रकार की कोई विवशता नहीं है। वह चाहता है तो उन पर अमल करता है, चाहता है तो नहीं करता। इस सम्बन्ध में उसे आज्ञा मानने और आज्ञा न मानने दोनों की स्वतन्त्रता मिली हुई है। इसलिए जिस प्रकार पहली क़िस्म के आदेशों की हद तक और जीवन के अनाधिकारिक क्षेत्रों में, सम्पूर्ण मनुष्यों का 'इस्लाम' भी नैसर्गिक और जन्मजात इस्लाम ही कहा जाएगा, उसी प्रकार जीवन के शेष क्षेत्र-अर्थात् अधिकार प्राप्त क्षेत्र में उनके इस्लाम को वैधानिक और ऐच्छिक इस्लाम कहना चाहिए। किन्तु इस्लामी परिभाषा में 'शरई अहकाम' (संवैधानिक आदेश) के लिए 'शरई आदेश' या संवैधानिक व ऐच्छिक इस्लाम के लिए 'संवैधानिक व ऐच्छिक इस्लाम' के शब्द प्रयुक्त नहीं किए गए हैं, बल्कि संवैधानिक और ऐच्छिक के बन्धन के बिना मात्र 'अहकामे-इलाही' (अर्थात् ईश्वरीय आदेश) और 'इस्लाम' के शब्दों के प्रयोग को पर्याप्त समझा गया है। कारण इसका बिलकुल स्पष्ट है, सृष्टि के जो प्राणी नैसर्गिक आदेश के साथ-साथ संवैधानिक आदेश के भी पाबन्द हैं, उनकी हद तक अनुपालन और अनुपालनफल के ऐतिबार से नैसर्गिक आदेश का कोई महत्व शेष ही नहीं रह जाता और शरई व संवैधानिक आदेश ही सब कुछ बन जाते हैं। इसलिए सामान्य वार्ता में 'ईश्वरीय आदेश' और 'इस्लाम' का शब्द उचित

रूप से मात्र इन शरई या संवैधानिक आदेश के लिए विशिष्ट होकर रह जाना चाहिए था और यही किया गया है।

फिर इसी बात की अपेक्षा यह भी हुई कि जो लोग तशरीई (संवैधानिक) आदेशों को न मानें उनके लिए 'मुस्लिम' का शब्द बिलकुल ही प्रयोग न किया जाए। हालाँकि वे इस स्थिति में भी नैसर्गिक आदेशों की पूरी तरह पाबन्दी कर रहे होते हैं और इस बिनापर उनकी हद तक तो वे अनिवार्यतः 'मुस्लिम' ही होते हैं। लेकिन चूँकि ऐच्छिक इस्लाम के न होने की स्थिति में अनैच्छिक इस्लाम का कोई मूल्य नहीं रह जाता, इसलिए इसको कोई महत्त्व भी नहीं दिया जाता और शरीअत की परिभाषा में किसी व्यक्ति को 'मुस्लिम' केवल उस समय कहा जाता है जब वह 'नैसर्गिक आदेशों' के अनैच्छिक और बलात् अनुपालन से आगे बढ़कर संवैधानिक आदेशों के समक्ष भी स्वेच्छापूर्वक झुक चुका हो।

इस्लाम और इनसान

जैसा कि इशारा किया जा चुका है कि जिन प्राणियों को संकल्प और कुछ करने का अधिकार दिया गया है, इनसान भी उन्हीं में से एक है और न यह कि उन्हीं में से एक है, बल्कि इस मामले में उसे एक विशिष्टता भी प्राप्त है। इसलिए स्वाभाविक रूप से उसे शरई (संवैधानिक) आदेश भी दिए गए हैं। क़ुरआन मजीद में है कि जिस वक़्त पहला इनसान इस दुनिया में बसने के लिए भेजा जा रहा था उसी वक़्त अल्लाह तआला ने एलान क़र दिया था कि—

> "......अगर मेरे यहाँ से तुम्हारे पास कोई हिदायत पहुँचे तो जो लोग मेरी हिदायत की पैरवी करेंगे उनके लिए कोई भय की बात न होगी और न वे शोकाकुल होंगे और जो लोग इनकार के रास्ते पर चलेंगे और हमारी आयतों को झुठलाएँगे, वे जहन्नमी होंगे।" (क़ुरआन, 2: 38, 39)

इस एलान में 'हिदायत' यानी 'शरई आदेश' भेजने की बात ज़ाहिर में 'अगर' की शर्त के साथ कही गई थी, किन्तु वास्तव में यह शर्त नहीं है,

बल्कि बात करने का एक शाहाना अन्दाज़ है और अर्थ यह है कि तुम्हारे पास मेरे आदेश (अहकाम) अनिवार्यतः जाएँगे, जिनका अनुपालन करना तुम्हारा अनिवार्य कर्त्तव्य होगा।

अतएव व्यवहारतः जो कुछ हुआ उसका स्पष्टीकरण क़ुरआन मजीद के इस फ़रमान से होता है–

"कोई उम्मत ऐसी नहीं हुई जिसमें कोई सचेत करनेवाला न गुज़रा हो।"

(क़ुरआन, 35:24)

इन दोनों आयतों से स्पष्ट हो जाता है कि इस ज़मीन पर इनसान की आबादी और शरई आदेशों का आना – दोनों एक साथ शुरू हुए हैं और उस समय से आज तक यह मानवीय जगत् धर्म तथा शरीअत (ईश-विधान) से कभी ख़ाली नहीं रहा है और कोई उम्मत (समुदाय) नहीं जो अल्लाह तआला की हिदायत व मार्गदर्शन से वंचित और अनभिज्ञ रखी गई हो, जैसा कि मानव के स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त प्राणी होने को अपेक्षित था।

प्रत्येक समुदाय का धर्म इस्लाम था

चूँकि शरई आदेश के वे सारे ग्रन्थ जो पहले दिन से आज तक आए हैं, सब के सब अल्लाह तआला ही के भेजे हुए थे, इसलिए उनमें से हर एक का अनुपालन अल्लाह तआला ही का आज्ञानुपालन था और इस आधार पर उनमें का प्रत्येक आदेश-संग्रह अर्थात् प्रत्येक धर्म वास्तव में इस्लाम ही था, और उनके माननेवाले सब-के-सब वास्तव में मुस्लिम ही थे। यह एक ऐसी बात है जिसपर अक़्ल का फ़ैसला और क़ुरआन मजीद की गवाही दोनों एकमत हैं। हज़रत इबराहीम (अलै.) के बारे में आदेश होता है–

"इबराहीम (अलै.) न यहूदी था न ईसाई, वरन् ऐसा मुस्लिम था जो हर तरफ़ से कटकर अल्लाह ही के लिए एकाग्र हो चुका था।"

(क़ुरआन, 3:67)

एक और जगह हज़रत इबराहीम (अलै.) और उनकी औलाद – हज़रत

इसमाईल, हज़रत इसहाक़, हज़रत याक़ूब, हज़रत यूसुफ़ (अलै.) आदि – सभी के बारे में फ़रमाया गया है कि –

> "याद करो उस समय को जबकि इबराहीम से उसके रब ने कहा था कि 'मुस्लिम' (अर्थात् आज्ञाकारी) बन जा, तो उसने जवाब दिया था कि मैं सारे लोकों के स्वामी का 'मुस्लिम' बन गया। फिर इसी बात की वसीयत की थी इबराहीम ने अपनी सन्तान को, और याक़ूब ने अपनी सन्तान को, कि ऐ मेरे बेटो! अल्लाह ने तुम्हारे लिए यह दीन (धर्म) चुना है। इसलिए देखना आख़िरी साँस तक 'मुस्लिम' रहना .... उन्होंने जवाब में कहा था कि हम बन्दगी करेंगे आपके पूज्य की .... और हम उसी के मुस्लिम (आज्ञाकारी) हैं।" (क़ुरआन, 2:131-133)

क़ुरआन मजीद में इसी प्रकार के सविस्तार विवरण हज़रत लूत, हज़रत मूसा, हज़रत सुलैमान और हज़रत ईसा (अलै.) आदि नबियों के सम्बन्ध में भी प्रस्तुत किए गए हैं और स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वे और उनके अनुयायी सब-के-सब 'मुस्लिम' थे और सबका धर्म 'इस्लाम' ही था।

'इस्लाम' केवल अंतिम धर्म का नाम है

इस वास्तविकता की मौजूदगी में जिसका अभी उल्लेख किया गया है, किसी भी ईश्वरीय धर्म को दूसरे धर्मों के मुक़ाबले में नाम और अभिव्यंजना की दृष्टि से कोई विशिष्टता प्राप्त न होनी चाहिए और चाहे क़ुरआनी शरीअत (क़ुरआन-विधान) हो चाहे तौराती, हज़रत आदम (अलै.) का लाया हुआ धर्म हो या हज़रत नूह (अलै.) का, हज़रत इबराहीम (अलै.) पर नाज़िल होनेवाली हिदायत (मार्गदर्शन) हो या हज़रत ईसा (अलै.) पर – नाम भी सभी का एक समान रूप में 'इस्लाम' और उनके अनुयायियों का 'मुस्लिम' ही होना चाहिए, जिस प्रकार कि अपनी असूल और हक़ीक़त की दृष्टि से ये सारी शरीअतें एक समान रूप से 'इस्लाम' ही थीं और उन सभी के अनुयायी 'मुस्लिम' ही थे। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है, बल्कि इससे भिन्न है। और वह यह कि क़ुरआन की विशेष परिभाषा में 'इस्लाम' मात्र उसी एक धर्म का

नाम है जिसे वह स्वयं प्रस्तुत करता है और जिसको आख़िरी नबी हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) पर उतारा गया था। इसी प्रकार 'मुस्लिम' का नाम भी मात्र उन्हीं लोगों के लिए विशिष्ट है जो इसी आख़िरी धर्म के माननेवाले हैं। अतः वह जब 'अल-इस्लाम' का शब्द प्रयोग करता है, तो उस समय उससे अभिप्रेत 'इस्लाम' का सामान्य अर्थ नहीं होता, बल्कि इससे अभिप्रेत ख़ास वही एक धर्म और ईश्वरीय आदेशों का संकलन होता है। उदाहरणार्थ –

> "मुसलमानो! आज मैंने तुम्हारे लिए तुम्हारे धर्म को परिपूर्ण कर दिया और तुम पर अपनी अनुकम्पा (नेमत) पूरी कर दी और तुम्हारे लिए धर्म के रूप में केवल 'इस्लाम' को पसन्द किया।" (क़ुरआन 5:3)

> "निस्सन्देह, अल्लाह के निकट-प्रिय एवं स्वीकृत धर्म इस्लाम ही है।" (क़ुरआन 3:19)

इन आयतों में 'अल-इस्लाम' स्पष्टतः ख़ास उसी एक धर्म को कहा गया है, जो क़ुरआन और हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) का लाया हुआ धर्म है।

जहाँ तक 'मुस्लिम' नाम का सम्बन्ध है, तो इसका मामला इससे भी अधिक स्पष्ट है। क़ुरआन मजीद का यह आदेश सुनिए–

> "............... उसी ने तुम्हारा नाम पहले ही से और इसी चीज़ को देखते हुए 'मुस्लिम' रखा है।" (क़ुरआन, 22:78)

ये शब्द अपने आशय में बिलकुल साफ़ और स्पष्ट हैं। ये निर्णायक ढंग में कहते हैं कि भावात्मक दृष्टि से और गुणधर्म के आधार पर यद्यपि वे तमाम लोग भी 'मुस्लिम' ही थे, जो पिछले ज़मानों में किसी नबी पर ईमान लाए थे, किन्तु यह इम्तियाज़ी शान मात्र उसी आख़िरी दीन के माननेवालों को प्राप्त है कि भावात्मक दृष्टि से मुस्लिम होने के साथ-साथ ज़ाहिरी नाम व उपाधि भी उनकी "मुस्लिम" ही है। उनके सिवा ईमानवालों का और कोई गिरोह नहीं जिसका नाम भी मुस्लिम रखा गया हो। यदि ऐसा होता कि दूसरों का नाम भी मुस्लिम होता तो यह कहे जाने का कोई अवसर न होता कि उसने तुम्हारा नाम मुस्लिम रखा है, क्योंकि जब ईमानवालों के दूसरे तमाम गिरोह भी नाम की

दृष्टि से मुस्लिम ही थे तो किसी एक गिरोह के बारे में यह स्पष्टीकरण व्यर्थ होता कि उसका नाम मुस्लिम रखा गया है। इसलिए क़ुरआने करीम में जब भी किसी और समुदाय या गिरोह को मुस्लिम कहते सुना जाएगा (जैसा कि प्रायः कहा गया है) तो यह वास्तव में इसके भावात्मक दृष्टिकोण की सूचना मात्र होगी या यूँ कहिए कि उसका गुणवाचक नाम होगा, पारिभाषिक नाम और उपाधि न होगी।

विशिष्टता का कारण

प्रश्न किया जा सकता है कि यह विशिष्टता क्यों है? जब कि दूसरे नबियों के लाए हुए दीन (धर्म) भी उसी तरह अल्लाह ही के भेजे हुए थे, जिस तरह कि हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) का लाया हुआ दीन (धर्म) है। और उनके अनुयायी भी उसी प्रकार अल्लाह तआला के मुस्लिम और आज्ञापालक थे जिस प्रकार कि इस धर्म के अनुयायी हैं, तो 'इस्लाम' नाम सिर्फ़ इसी एक धर्म का और मुस्लिम नाम मात्र इसी एक धर्म के अनुयायियों का क्यों हुआ? अगर वास्तव में सभी धर्म 'इस्लाम' ही थे और अन्य सभी नबियों के माननेवाले भी 'मुस्लिम' ही थे तो उन सबका नाम व उपाधि भी 'इस्लाम' और 'मुस्लिम' क्यों न ठहराया गया? इसका उत्तर यह है कि नाम रखे जाने के एक सुपरिचित और महत्वपूर्ण नियम के आधार पर ऐसा हुआ है, अकारण नहीं हुआ है। नियम यह है कि एक विशेषता यदि बहुत-से लोगों में पाई जाती हो तो इस बात का हक़दार कि वह विशेषता उसका नाम और उसकी उपाधि भी बन जाए केवल वही व्यक्ति होता है, जिसमें वह विशेषता दूसरे प्रत्येक व्यक्ति की तुलना में बढ़ी हुई होती है क्योंकि किसी विशेषता का किसी व्यक्ति का नाम पड़ जाना वास्तव में इस दावे को प्रकट करना होता है कि इस व्यक्ति के अन्दर यह विशेषता अपनी चरम सीमा को पहुँची हुई है, और दूसरों में भी यद्यपि पाई जाती है लेकिन इस सीमा तक नहीं पाई जाती, और इस सम्बन्ध में वे इससे इतने पीछे हैं कि इस सूरज के सामने उन सितारों की रौशनी मानो कि शेष ही नहीं रह जाती। उदाहरणार्थ, 'सिद्दीक़ियत, (सत्यप्रियता) एक विशेषता है, जो अल्लाह के कितने ही बन्दों को दी जा चुकी है। किन्तु सिद्दीक़ शब्द उपाधि स्वरूप केवल हज़रत अबू बक्र (रज़ि.) के लिए ख़ास है। इसका यह अर्थ तो

किसी प्रकार नहीं हो सकता कि सिद्दीक़ियत के मक़ाम पर सिर्फ़ आप (रज़ि.) ही सुशोभित थे और दूसरे तमाम सहाबा (रज़ि.) इससे वंचित थे। जबकि उन महानुभावों में ऐसे लोग भी मौजूद हैं जिनके बारे में नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं कि यदि नुबूवत ख़त्म न हो गई होती तो वे नबी होते। इसलिए यक़ीन के साथ कहा जा सकता है कि इस पवित्र समुदाय में एक-दो नहीं, अनगिनत 'सिद्दीक़' थे। फिर क्या कारण है कि 'सिद्दीक़' की उपाधि से सुसज्जित होने का सौभाग्य सिर्फ़ हज़रत अबू बक्र (रज़ि.) के हिस्से में आया ? स्पष्ट है, इसका कारण इसके सिवा और कुछ नहीं हो सकता कि वे 'सिद्दीक़ियत' के गुण में सबसे बढ़े हुए थे । जैसा कि इस्लामी इतिहास की पुस्तकें, इस्लामी महानुभावों के जीवन वृतान्त और हदीसों की पुस्तकें इस बात की गवाह हैं।

इस सिद्धांत को सामने रखकर आप हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) के लाए हुए दीन (धर्म) और दूसरे नबियों के लाए हुए धर्मों के विषय पर विचार कीजिए। मानना पड़ेगा कि यद्यपि सारे धर्म (दीन) अर्थ की दृष्टि से इस्लाम ही थे किन्तु वह धर्म जो क़ुरआन के रूप में आख़िरी पैग़म्बर के द्वारा आया, वही इस बात का हक़दार था कि उसका नाम भी 'इस्लाम' हो, क्योंकि उसकी 'इस्लामियत' (आज्ञापालन का गुण) दूसरे सारे धर्मों की 'इस्लामियत' से कहीं बढ़ी हुई है और वह उनकी तुलना में क़तई तौर पर एक सबसे ऊँची हैसियत का मालिक है। दूसरे अन्य धर्मों का हाल यह है कि उसके आदेशों का संग्रह भी अपेक्षाकृत संक्षिप्त और सीमित था। उनका सम्बोधन-क्षेत्र भी सीमित था और उनके लागू होने की अवधि भी सीमित थी। जबकि इस धर्म का आदेश-संग्रह भी विस्तृत और व्यापक है, इसका सम्बोधन-क्षेत्र भी असीम है और इसके लागू होने की अवधि भी कभी समाप्त होनेवाली नहीं है। यह सदा के लिए है, इसका सम्बोधन सारे जगत् से है, इसका शरई स्वभाव मानव स्वभाव के अनुकूल है, इसकी शिक्षाएँ सारे इनसानों के लिए एक पूर्ण और उत्तम जीवन-व्यवस्था पर आधारित हैं और आदम (अलै.) के समय से अल्लाह तआला की जिस हिदायत और नेमत का अवतरित होना शुरू हुआ था, यही धर्म उसका चरम बिन्दु है। जब वस्तुस्थिति यह थी तो नामकरण के सामान्य नियम का तक़ाज़ा यही था कि 'इस्लाम' केवल इसी कारण अन्तिम,

सर्व व्यापक तथा सबसे पूर्ण धर्म का नाम होता।

इसी प्रकार और समुदायों को छोड़कर सिर्फ़ हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) ही के अनुयायियों को 'मुस्लिम' का नाम व उपाधि इसलिए मिली कि उनकी 'मुस्लिमाना' हैसियत दूसरों के मुक़ाबले में बहुत बढ़ी हुई थी। वे एक ऐसे धर्म के ध्वजावाहक थे जो अपनी पूर्णता और अपने उद्देश्य की व्यापकता और उच्चता में अद्वितीय है। उनपर क़ियामत तक के लिए यह भारी ज़िम्मेदारी डाली गई है कि एक-एक क़ौम तक अल्लाह का पैग़ाम पहुँचाएँगे, सारी दुनिया के सामने इस्लाम की गवाही देंगे और इस ज़मीन के चप्पे-चप्पे पर सत्य-धर्म स्थापित कर चुकने से पहले चैन न लेंगे। जबकि दूसरे किसी समुदाय के ऊपर ऐसी बड़ी ज़िम्मेदारी नहीं डाली गई थी। इसलिए उचित यही था कि वही 'ख़ैरुल-उमम' अर्थात उत्तम समुदाय कहे जाएँ और मुस्लिम का नाम इन्हीं के लिए विशिष्ट किया जाए।

इन विवरणों से मालूम हुआ कि यद्यपि नैसर्गिक रूप से तो सारा संसार ही मुस्लिम है और शरीअत के तौर पर भी वे सभी लोग मुस्लिम ही थे जो अल्लाह के भेजे हुए किसी 'दीन' के अनुयायी थे। इसी तरह अल्लाह तआला की ओर से आनेवाला प्रत्येक धर्म 'इस्लाम' ही था, किन्तु 'इस्लाम' और 'मुस्लिम' के शब्द जब उर्फ़ और नाम के तौर पर बोले जाते हैं तो 'इस्लाम' से अभिप्रेत केवल वह धर्म होता है, जिसे अल्लाह के आख़िरी नबी हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) लेकर आए थे और ''मुस्लिम'' से अभिप्रेत केवल वे लोग होते हैं जो उस धर्म को सच्चे दिल से मानकर उसका अनुसरण करें।

❂ ❂ ❂

इस्लाम की मौलिक धारणाएँ

इस्लाम जिन शिक्षाओं पर आधारित है, सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों हैसियतों से उनके महत्त्व की श्रेणियाँ अलग-अलग हैं और उनमें एक स्वाभाविक क्रम भी पाया जाता है। उनमें से कुछ की स्थिति नींव की-सी है, कुछ की दीवारों और स्तम्भों की-सी है, कुछ की छत की-सी है और कुछ की बाह्य साज-सज्जा की-सी। इस्लाम को ठीक तौर से समझने के लिए आवश्यक है कि उसका इसी क्रम से अध्ययन किया जाए। इसलिए सबसे पहले हम उसकी उन शिक्षाओं पर विचार करते हैं जिनकी हैसियत आधारशिला की है और जिन्हें इस्लामी परिभाषा में 'ईमानियात' या 'अक़ाइद' अर्थात् विश्वास या आस्था कहा जाता है।

विश्वास या आस्था (ईमानियात या अक़ाइद) का धर्म (दीन) का आधार होना एक ऐसी स्पष्ट वास्तविकता है जिसपर किसी तर्क की आवश्यकता नहीं है। सभी जानते हैं कि विश्वास 'ज्ञान' है और शेष सारी चीज़ें 'कर्म' (अमल), और ज्ञान को कर्म पर प्रधानता प्राप्त होती है। 'कर्म' की स्थिति एक पेड़ की-सी है और 'ज्ञान' की स्थिति 'बीज' की-सी। जिस प्रकार बीज के बिना पेड़ का अस्तित्व सम्भव नहीं, ठीक उसी प्रकार ज्ञान के बिना कर्म भी अस्तित्व में नहीं आ सकता। इसलिए जब तक विश्वास और आस्था अस्तित्व में न आ जाएँ, उस समय तक शेष 'इस्लाम' के अस्तित्व में आने की कोई सम्भावना नहीं। क़ुरआन में है–

> "......... बल्कि नेकी केवल उस व्यक्ति की नेकी है जो विश्वास रखता है अल्लाह पर, अंतिम दिन पर, फ़रिश्तों पर, अल्लाह की किताब पर और नबियों पर ...." (क़ुरआन 2:177)

इससे मालूम हुआ कि विश्वास और आस्था के बिना नेकी और अच्छे कर्म की कोई संभावना ही नहीं पाई जाती।

इस्लाम की ये ईमान और आस्थाएँ क्या हैं ? क़ुरआन की पवित्र आयत ने यह बात भी बता दी है। इस आयत के और इसी प्रकार की दूसरी बहुत-सी आयतों के अनुसार ये आस्थाएँ पाँच हैं :

(1) अल्लाह पर विश्वास,

(2) आख़िरत (परलोक) पर विश्वास,

(3) नबियों पर विश्वास,

(4) अल्लाह की अवतरित किताबों पर विश्वास, और

(5) फ़रिश्तों पर विश्वास।

किन्तु हदीसों से मालूम होता है कि इनके अतिरिक्त एक और चीज़ भी है जो आस्था में सम्मिलित है और वह है — भाग्य (तक़दीर) पर विश्वास जिबरईल (अलै.) की हदीस में है कि प्यारे नबी (सल्ल.) से उन्होंने पूछा, ‘‘ईमान (आस्था) क्या है ?’’ तो नबी (सल्ल.) ने उत्तर दिया

> ‘‘ईमान यह है कि तुम विश्वास रखो अल्लाह पर, उसके फ़रिश्तों पर, उसकी किताबों पर, उसके रसूलों पर, आख़िरी दिन (महाप्रलय) पर और दृढ़ विश्वास रखो भाग्य की भलाई और बुराई पर।’’
>
> (हदीसः मुस्लिम, भाग-1, किताबुल ईमान)

क़ुरआन और हदीस के उल्लेखों में यह किसी मतभेद की बात नहीं है, बल्कि केवल संक्षिप्त और विस्तृत विवरण का अंतर है। क्योंकि भाग्य पर विश्वास वास्तव में अल्लाह पर विश्वास ही का एक अंश है। इसलिए क़ुरआन मजीद ने इसका अलग से कोई उल्लेख नहीं किया, जबकि हदीस में कुछ मस्लहतों की वजह से इसका नाम लेकर अलग से उल्लेख कर दिया गया है। बहरहाल यह एक हक़ीक़त है कि भाग्य पर विश्वास रखना आवश्यक है, जिस प्रकार कि अल्लाह तआला के दूसरे समस्त गुणों पर और उनकी समस्त अपेक्षाओं पर विश्वास रखना अनिवार्य है।

ये हैं इस्लाम की वे 6 आस्थाएँ जिनसे पूर्ण व्यवस्थित शरीअत (विधान)

अस्तित्व में आई है।

किन्तु अध्ययन से मालूम होता है कि इन आस्थाओं में भी सभी का महत्त्व एक समान नहीं है, बल्कि कुछ का अधिक है और कुछ का कम। यदि मोटे तौर पर विभाजन किया जाए तो ज्ञात होगा कि आरंभ की तीन आस्थाओं का मौलिक महत्त्व है और शेष वास्तव में इन्हीं तीनों की अनिवार्य अपेक्षाओं या शाख़ाओं की हैसियत रखती हैं, इसलिए यदि मात्र इन्हीं तीन को थोड़ा विस्तार से समझ लिया जाए तो यह पूरी बात समझ लेने के लिए पर्याप्त होगी।

1- अल्लाह पर ईमान

अल्लाह पर ईमान लाने का अर्थ

अल्लाह पर ईमान लाने का अर्थ यह है कि –

(1) उसके अस्तित्व को स्वीकार किया जाए।

(2) उसे उन समस्त विशेषताओं और गुणों से, जिनकी व्याख्या क़ुरआन और अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल.) ने की है, पूरी तरह परिभूषित माना जाए।

(3) उन अधिकारों को उसी के लिए विशिष्ट माना जाए जो उन विशेषताओं की अनिवार्य अपेक्षाओं की हैसियत रखते हैं।

(4) उन अधिकारों को भी केवल उसी का अधिकार माना जाए जो उन गुणों से स्वाभाविक रूप से जुड़े हुए हैं और जिनको माने बिना उन गुणों का मानना निरर्थक हो जाता है।

जहाँ तक इनमें से पहली चीज़ की बात है, वह तो स्वयं ही स्पष्ट है, इसलिए उसके बारे में व्याख्या व विस्तार का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यदि कोई व्यक्ति अल्लाह तआला के अस्तित्व ही को नहीं मानता, तो वह उसपर आस्था ही क्या रखेगा—!

हाँ, शेष चीज़ें इस तरह स्पष्ट नहीं हैं, और वे अवश्य ही स्पष्टीकरण की अपेक्षा करती हैं। इसलिए आवश्यकता है कि उनके विषय में थोड़ी विस्तार से चर्चा की जाए और यह बताया जाए कि अल्लाह तआला के गुण क्या-क्या हैं ? और उन गुणों की अपेक्षाएँ क्या हैं ? लेकिन चूँकि अल्लाह के सभी गुण भी समान हैसियत नहीं रखते, बल्कि उनमें प्रधानता की हैसियत मात्र चंद ही (बल्कि वास्तव में एक ही) को प्राप्त है, शेष गुण वास्तव में उन्हीं मौलिक गुणों की अपेक्षाएँ या शाखाएँ हैं। यदि मौलिक गुणों को आवश्यक हद तक स्पष्ट कर दिया जाए तो शेष गुणों की व्याख्या की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रह जाएगी और इससे यह बात समझ में आ जाएगी कि अल्लाह पर ईमान रखने के लिए उसे किस प्रकार के गुणों का स्वामी मानना चाहिए। यहाँ केवल उन्हीं कुछ मौलिक गुणों का और उनकी आवश्यक अपेक्षाओं का उल्लेख किया जाता है।

अल्लाह तआला के मौलिक और महत्त्वपूर्ण गुण ये हैं :-

(1) वह अनादि और शाश्वत और स्वयंभू है। इसका अर्थ यह है कि वह हमेशा से है, हमेशा रहेगा। उसे किसी ने पैदा नहीं किया है, बल्कि वह आपसे आप मौजूद है।

(2) वह स्रष्टा (ख़ालिक़) है, अर्थात् यह कि वह चीज़ों को पैदा करता है और अनास्तित्व से अस्तित्व में लाता है।

(3) वह रब है, अर्थात वह आजीविका देता और पालन-पोषण करता है।

(4) वह स्वामी और शासक है और सृष्टि-प्राणियों में एक-एक उसकी मिल्कियत और उसके वशीभूत है।

(5) वह सर्वज्ञ (अलीम) है, अर्थात् वह हर बात, हर काम और प्रत्येक गतिविधियों को जानता है। क्या हुआ, क्या हो रहा है, क्या होगा — सब उसके ज्ञान में है। कोई चीज़ उसके ज्ञान से बाहर नहीं है।

(6) वह तत्त्वदर्शी (हकीम) है, उसका कोई काम तत्त्वदर्शिता से रहित निरुद्देश्य और निष्फल नहीं होता, बल्कि प्रत्येक कार्य के पीछे उच्चतम

समझ, उच्चतम तत्त्वदर्शिता और उच्चतम उद्देश्यमयता काम कर रही होती है।

(7) वह शक्तिशाली (अज़ीज़) है, वह प्रत्येक कर्म की शक्ति व सामर्थ्य रखता है। उसके किसी इरादे को व्यावहारिक रूप देने से रोका नहीं जा सकता। उसका कोई फ़ैसला रद्द नहीं किया जा सकता, उसके किसी हुक्म को चुनौती नहीं दी जा सकती।

(8) वह न्यायकारी (आदिल) है, उसका प्रत्येक कार्य न्याय व इनसाफ़ पर आधारित होता है। उसके नैसर्गिक आदेश भी पूरी तरह न्यायपूर्ण होते हैं और उसके वैधानिक आदेश भी, और उसी तरह उसके सारे फ़ैसले भी ठीक-ठीक न्यायानुकूल होते हैं।

(9) वह मुजाज़ी (बदला देनेवाला) है, अर्थात् वह कर्मों का बदला देता है, बुरे कर्म का बुरा बदला और अच्छे कर्म का अच्छा बदला।

(10) वह आराध्य(माबूद) है। यह उसका हक़ है कि उसकी अराधना व पूजा की जाए, सिर उसी के आगे झुकें और दुआएँ और प्रार्थनाएँ उसी से की जाएँ।

(11) वह अकेला है, अर्थात् उसके जितने गुण हैं, उनमें से किसी गुण में भी उसका कोई साझी और प्रतिद्वन्द्वी नहीं। यही नहीं कि वह आदि और अनन्त, स्रष्टा और पालनहार, स्वामी और शासक, सर्वज्ञ और तत्त्ववेता (हिकमतवाला), शक्तिशाली और न्यायकर्ता, बदला देनेवाला और पूज्य है, बल्कि ऐसा केवल वही है।

अल्लाह तआला के इन मौलिक गुणों में से आख़िरी गुण, जिसे तौहीद (एकेश्वरवाद) का गुण कहते हैं, को एक विशिष्ट हैसियत प्राप्त है। जिस प्रकार पूरे इस्लाम की जान उसकी धारणाएँ हैं, उसी प्रकार उन धारणाओं की जान तौहीद की धारणा है। यदि ग़ौर से देखिए तो मालूम होगा कि यह गुण वस्तुतः अन्य समस्त गुणों का चरम बिन्दु है। इसलिए केवल यही एक गुण वास्तव में सारे गुणों का प्रतीक बन जाता है। जिसने पूरी चेतना और विश्वास

के साथ कह दिया कि अल्लाह ही पूज्य है, उसने वास्तव में अल्लाह के समस्त गुणों पर आस्था रखने की उद्घोषणा कर दी। अल्लाह के एक होने की इस विशिष्ट और व्यापक हैसियत को अगर सामने रखा जाए तो इसकी आवश्यकता नहीं रह जाती कि उसके समस्त गुणों की अपेक्षाएँ बयान की जाएँ और न इसकी आवश्यकता रह जाती है कि उनमें से प्रत्येक के विषय में पृथक-पृथक वार्ता की जाए, बल्कि केवल उन्हीं चीज़ों का सामने आ जाना पर्याप्त होगा। इसलिए यहाँ वार्ता उन्हीं अपेक्षाओं तक सीमित रहेगी।

क़ुरआन मजीद और अल्लाह के रसूल (सल्ल.) के आदेश बताते हैं कि 'तौहीद' की आस्था की महत्त्वपूर्ण और मौलिक अपेक्षाएँ ये हैं :

(1) 'अल्लाह' के अतिरिक्त और कोई हस्ती नहीं जो स्वयंभू हो, बल्कि प्रत्येक वस्तु उसी की बनाई हुई और अल्लाह ही की पैदा की हुई है, (अल्लाह हर चीज़ का स्रष्टा है। –क़ुरआन, 39:62), उसी की मिल्कियत है। प्रत्येक वस्तु उसी की मोहताज और उसी के अधीन है। कोई भी चीज़ ऐसी नहीं जिसका अपना गुण अप्रदत्त हो। जो भी गुण किसी में पाया जाता है वह अल्लाह तआला का दिया हुआ है और उसी समय तक उसके पास रह सकता है, जब तक वह चाहे।

(2) अल्लाह तआला की सत्ता मौलिक रूप से समस्त चीज़ों से भिन्न है और किसी प्रकार भी कोई चीज़ उसकी सजातीय नहीं। (उस जैसी कोई चीज़ नहीं।–क़ुरआन, 42:11) किसी बड़ी से बड़ी हस्ती पर भी उसको क़यास नहीं कर सकते (उसकी मिसाल अत्यन्त उच्च है।–क़ुरआन, 16:60), (न वह किसी का बाप है न किसी का बेटा।–क़ुरआन, 112:3), न वह किसी और हस्ती के साथ जुड़कर एक (मुत्तहिद) होता है, न उसके अन्दर प्रविष्ट करता है, वह शरीर नहीं रखता और न उसके गुण शारीरिक हैं (अर्थात वह निराकार है)।

(3) केवल अल्लाह ही है जिसकी प्रसन्नता की इनसान को चिंता करनी चाहिए। यही उसके सारे कामों का वास्तविक प्रेरक होना चाहिए और वास्तविक उद्देश्य भी।

(4) हमारे सारे कर्म और गतिविधियाँ केवल अल्लाह ही के लिए होनी चाहिएँ, जो अपनी वास्तविकता और अपने बाह्य रूप की दृष्टि से पूजा या आराधना के अंतर्गत आती हों। सजदा केवल उसी को किया जा सकता है, नज़्र (मन्नत) उसी के नाम की मानी जा सकती है, दुआ केवल उसी से की जा सकती है, अगोचर शरण केवल उसी की ढूँढ़ी जा सकती है, ग़ैबी सहायता के लिए केवल उसी को पुकारा जा सकता है।

(5) वे सारे भाव और सारी मानसिक प्रवृत्तियाँ भी अल्लाह ही के लिए ख़ास कर देनी चाहिएँ जिनमें भक्ति-भाव पाया जाता हो। भरोसा केवल उसी पर किया जाए, आशाएँ केवल उसी से जोड़ी जाएँ, संयम मात्र उसी का अपनाया जाए, भय केवल उसी का रखा जाए और वास्तविक प्रेम सिर्फ़ उसी से किया जाए।

(6) इस पूरे जगत का, जिसका हमारी यह दुनिया भी एक छोटा-सा भाग है, सर्वोच्च शासक अल्लाह ही है। आदेश देने, रोकने और अपनी इच्छा पूरी कराने का अधिकारी केवल वही है। वास्तव में विधान और क़ानून का रचयिता भी वही है। किसी प्राणी की ज़िन्दगी का अनिवार्य कर्त्तव्य निश्चित करने, उसके मामले का फ़ैसला करने, उसे क्षमा करने या दण्ड देने का अधिकार भी पूरे का पूरा उसी के हाथ में है।

(7) अल्लाह तआला के सिवा और कोई नहीं जिसमें उपास्यता होने की गरिमा पाई जाती हो, जो पूजे जाने के योग्य हो और जिसकी प्रसन्नता चाही जाए। कोई और नहीं जो इस योग्य हो कि जिसके आगे सिर झुकें, नज़्रें पेश की जाएँ और आभार प्रकट किया जाए। कोई और नहीं जिसे 'संरक्षक' और कार्य साधक, ज़रूरतें पूरी करनेवाला और संकट मोचक समझा जाए, जिससे प्रार्थना की जाए, जिसे आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पुकारा जाए और जिसे पुकारा जाए कि परोक्ष रूप से सहायक हो। और कोई नहीं जिसपर भरोसा किया जाए, दिल में जिसका डर और भय रखा जाए, जिससे आशाएँ जोड़ी जाएँ और जिससे वास्तव में प्यार किया जाए। कोई और नहीं जिसके हाथ में लेशमात्र वास्तविक प्रभुत्त्व हो, जो तनिक भी किसी को लाभ या हानि पहुँचा सकता हो, जो किसी के लिए

क़ानून बनाने और अपना हुक्म चलाने का अधिकार रखता हो और मूलतः जिसका आज्ञापालन वैध हो।

तौहीद की ये मौलिक अपेक्षाएँ इतना महत्त्व रखती हैं कि इनमें से एक का भी इनकार अल्लाह पर आस्था (ईमान) रखने के दावे को निरर्थक करके रख देता है। इसका अर्थ यह है कि ये सारी बातें तौहीद की धारणा के वास्तविक अर्थ में सम्मिलित हैं, और कोई व्यक्ति सही अर्थों में मुसलमान हो ही नहीं सकता जब तक यह धारणा अपने पूरे भाव के साथ उसके दिल में न उतर चुकी हो।

बहुदेववाद (शिर्क)

ज़ेहनों में कोई बात स्पष्ट उसी वक़्त हो पाती है जब उसके विपरीत बात का भी साथ-साथ उल्लेख कर दिया जाए। इसी लिए महत्त्वपूर्ण नियम व दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण के समय सामान्यतः इस बात का आयोजन अनिवार्यतः किया जाता है कि उनके विरोधी नियमों और दृष्टिकोणों को भी उनके सम्मुख रख दिया जाए। एकेश्वरवाद (तौहीद) की धारणा से अधिक महत्त्व किस दृष्टिकोण और आस्था को प्राप्त हो सकता है, इसलिए इसे अच्छी तरह समझ लेने के लिए अनिवार्य है कि उसकी विरोधी धारणा – अर्थात् 'शिर्क' (बहुदेवाद) को भी समझ लिया जाए। अतएव, क़ुरआन मजीद ने अपनी वर्णनशैली से इस विषय में भी हमारा मार्गदर्शन किया है। उसने एकेश्वरवाद की शिक्षा देते हुए बात केवल इतने ही पर समाप्त नहीं कर दी है कि एकेश्वरवाद इसे कहते हैं और इसके तर्क और लाभ व परिणाम ये होते हैं। बल्कि सविस्तार यह बताना भी अनिवार्य समझा है कि अनेकेश्वरवाद (शिर्क) क्या है ? उसके कर्म क्या हैं ? उसके लक्षण क्या हैं ? उसकी हानियाँ क्या हैं? और वह क्यों नितांत अवास्तविक और असत्य धारणा है ? हद यह है कि स्वयं एकेश्वरवाद की अवधारणा की शिक्षा देने के लिए उसने विधिवत रूप से जो वाक्य प्रयोग किया है, उसमें एकेश्वरवाद की पुष्टि और बहुदेववाद का खण्डन, दोनों साथ-साथ पाए जाते हैं। अर्थात् उसने बात यूँ नहीं कही है कि — "अल्लाह तआला अकेला प्रभु है", वरन यूँ कहा है कि – "नहीं है

कोई प्रभु-पूज्य, अतिरिक्त अल्लाह के'' (ला इला-ह इल्लल्लाहु)। इस प्रस्तुत शैली से स्पष्ट ज्ञात होता है कि एकेश्वरवाद की विशुद्ध अवधारणा उत्पन्न नहीं हो सकती जब तक कि अनेकेश्वरवाद का पूरी तरह खण्डन न कर दिया जाए और जब अनेकेश्वरवाद का खण्डन अनिवार्य है तो उसका समझ लेना भी निश्चित रूप से ज़रूरी होगा।

'बहुदेववाद' के लिए अरबी में 'शिर्क' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ 'साझापन' है और इस्लाम धर्म की परिभाषा में 'शिर्क' अर्थात् अनेकेश्वरवाद नाम है इस बात का कि अल्लाह के व्यक्तित्व में या उसके गुणों व विशेषताओं में या इन गुणों की अनिवार्य अपेक्षाओं में किसी को उसका साझी ठहराया जाए। मानो अनेकेश्वरवाद के तीन प्रकार हैं :

एक वह अनेकेश्वरवाद, जिसका सम्बन्ध अल्लाह तआला के व्यक्तित्व से होता है।

दूसरा वह अनेकेश्वरवाद, जिसका सम्बन्ध उसके गुणों व विशेषताओं से होता है।

तीसरा वह अनेकेश्वरवाद, जिसका सम्बन्ध उसके गुणों व विशेषताओं की अनिवार्य अपेक्षाओं से होता है।

पहले प्रकार के अनेकेश्वरवाद के व्यावहारिक रूप ये हैं :

पहला, यह कि किसी को अल्लाह तआला के समान ठहराया जाए। दूसरा, उसे उसका बाप या उसकी सन्तान समझ लिया जाए। तीसरा, यह कि यह मान लिया जाए कि वह किसी और शक्ति के साथ मिलकर उससे संगठित हो सकता है। चौथा, यह माना जाए कि वह किसी प्राणी की शक्ल धारण करके प्रकट हुआ करता है। अर्थात् कोई प्राणी उसका अवतार हो सकता है। उदाहरणार्थ अरबवाले फ़रिश्तों को अल्लाह तआला की बेटियाँ और जिन्नों को उसकी जाति-बिरादरी समझते थे। इसी प्रकार ईसाई लोग हज़रत ईसा (अलै.) को अल्लाह तआला का इकलौता बेटा और उसका अवतार ठहराते थे। उसके व्यक्तित्व में साझीदार ठहरानेवाले ये कर्म वास्तव में अनेकेश्वरवाद है।

दूसरे प्रकार के अनेकेश्वरवाद का व्यावहारिक रूप यह है कि अल्लाह तआला जिन गुणों से अभिभूषित है, उस प्रकार का कोई गुण किसी और के अन्दर भी मौजूद मान लिया जाए और उसी अर्थ और भाव में मौजूद मान लिया जाए जिस अर्थ व भाव में वह अल्लाह तआला के अन्दर पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ – 'ज्ञान', अल्लाह तआला का एक गुण है, जिसका अर्थ यह है कि वह खुली और छिपी हर बात को जानता है। उसके लिए अप्रत्यक्ष भी प्रत्यक्ष है और बीता हुआ या आनेवाला काल भी वर्तमानकाल है। अब यदि कोई यह समझ बैठे कि अमुक प्राणी भी उसी प्रकार हर बात को जानता है तो यह उसके गुणों में साझीदार ठहराना होगा। इसी प्रकार लाभ या हानि पहुँचाना अल्लाह तआला का एक गुण है, जिसका अर्थ यह है कि वह जिसको चाहता है ख़ुशी और आराम के साधन प्रदान करता है और जिसको चाहता है वंचित रखता है। अब यदि कोई व्यक्ति यह आस्था रखे कि अमुक फ़रिश्ता या जिन्न या बुज़ुर्ग इनसान भी उसी की तरह हमारी बिगड़ी बना सकता है या हमें तकलीफ़ और नुक़सान पहुँचा सकता है तो यह अल्लाह तआला के एक गुण में उसे साझीदार ठहराना होगा और उसके इस काम को अल्लाह तआला के गुणों में साझीदार ठहराना अर्थात् 'शिर्क फ़िस्सिफ़ात' कहा जाएगा।

तीसरे प्रकार के अनेकेश्वरवाद (शिर्क) की स्थिति यह है कि अल्लाह के गुणों की जो अनिवार्य अपेक्षाएँ हैं उन्हें अल्लाह ही के लिए विशिष्ट न माना जाए, बल्कि उन्हें या उनमें से किसी को अन्य दूसरी हस्तियों के लिए भी साबित और मौजूद मान लिया जाए। उदाहरणार्थ, अल्लाह के गुणों की एक अपेक्षा यह है कि वस्तुतः अनुपालन और प्यार केवल अल्लाह का हक़ है। अब यदि कोई व्यक्ति किसी और से भी ऐसा ही प्यार और आस्था रखे या उसी प्रकार का आज्ञानुपालन का उसे पात्र ठहरा ले, तो यह अल्लाह के गुणों की अपेक्षाओं में अल्लाह के अलावा दूसरों को साझीदार ठहराना होगा। इसी प्रकार इन गुणों की एक अपेक्षा यह भी है कि सर्वोच्च सत्ता मात्र अल्लाह के हाथ में है और आदेश देने और क़ानून बनाने का अधिकार वस्तुतः उसी को पहुँचता है। इसलिए यदि किसी और को भी यह हैसियत दे दी जाए चाहे वह कोई एक व्यक्ति हो या बहुत-से लोगों का समूह तो यह अल्लाह के अधिकार में साझेदारी ठहराना होगा।

इन तीनों प्रकारों में से चाहे जिस प्रकार का भी शिर्क (अनेकेश्वरवाद) हो इसकी मौजूदगी में तौहीद (एकेश्वरवाद) की इस्लामी आस्था मौजूद नहीं पाई जा सकती और जहाँ एकेश्वरवाद न हो वहाँ क़ुरआन का अपेक्षित 'ईमान' भी मौजूद नहीं हो सकता। और जहाँ ईमान मौजूद न हो वहाँ इस्लाम का अस्तित्व भी सम्भावना से बाहर ही होगा। इसी लिए शिर्क को क़ुरआन ने "सबसे बड़ा ज़ुल्म" (31:13) ठहराया है और फ़रमाया है कि :

> "अल्लाह के यहाँ प्रत्येक अपराध को क्षमा कर देने की सम्भावना है, किन्तु अल्लाह का साझीदार ठहराने (अनेकेश्वरवाद अपनाने) के अपराध की क्षमा सम्भव नहीं।" (क़ुरआन, 4:48)

मानना पड़ेगा कि इससे अधिक सत्य और न्याय की बात और कोई नहीं हो सकती। यह ऐसी ही पक्की बात है, जैसे यह कहा जाए कि इलाज से वह मरीज़ तो अच्छा हो सकता है जो तपेदिक़ के तीसरे दर्जे में पहुँच गया हो, किन्तु वह व्यक्ति अच्छा नहीं हो सकता जिसका हृदय गति करने की क्षमता ही खो बैठा हो। आख़िर जहाँ बीज ही न हो, वहाँ पेड़ कैसे अस्तित्व में आ सकता है?

(2) आख़िरत पर ईमान

आख़िरत पर ईमान लाने का अर्थ

आख़िरत पर ईमान लाने का अर्थ यह है कि निम्नलिखित तथ्यों को सच्चे दिल से स्वीकार किया जाए–

1. इनसान की पैदाइश एक उच्च और निश्चित उद्देश्य के लिए हुई है। वह एक ज़िम्मेदार प्राणी है। उसके पैदा करनेवाले ने उसे जीवन व्यतीत करने का एक पूर्ण मार्गदर्शन देकर पैदा किया है। उसे व्यवहार में लाना ही वास्तव में सत्यकर्म और नेकी है और उसे छोड़कर मनमाने रास्ते पर चलना पथभ्रष्टता और बुराई है।

2. मानव-जीवन मृत्यु के साथ ही समाप्त नहीं हो जाता, वरन् उसके बाद

भी निरन्तर शेष रहता है। इस सांसारिक जीवन में वह जो कुछ करता है, अपने भौतिक परिणाम की दृष्टि से यद्यपि वह इसी जगह समाप्त हो जाता है, किन्तु अपने नैतिक परिणामों की दृष्टि से पूर्णतः शेष रहता है। एक दिन ऐसा आएगा जब अल्लाह तआला की तत्त्वदर्शिता और ज़मीन व आसमान का यह सारा कारख़ाना अस्त-व्यस्त कर दिया जाएगा और इस ज़मीन पर एक जीवधारी भी जीवित न रहेगा। सभी मौत की नींद सुला दिए जाएँगे। क़ुरआन की परिभाषा में इसे 'क़ियामत' (महाप्रलय) कहते हैं।

3. 'क़ियामत' के बाद, वे समस्त जीवधारी जो दुनिया के आरम्भ से आज तक पैदा होकर मर चुके हैं और अभी उस दिन के आने तक पैदा होकर मिट जानेवाले हैं, पुनः शरीर व प्राण के साथ जीवित करके उठा खड़े किए जाएँगे, इसे 'हश्र' कहते हैं।

4. 'हश्र' के बाद से हमारे जीवन का दूसरा चरण आरम्भ होगा। इस चरण का आरम्भ इस बात से होगा कि हम सभी अल्लाह तआला की अदालत में पेश किए जाएँगे और वह हम सब से हमारे जीवन के पहले चरण का हिसाब लेगा। उस समय हमारी हर छोटी-से-छोटी नेकी और बदी (बुराई) तक का सच्चा रिकार्ड हमारे सामने रख दिया जाएगा। न्याय-तुला स्थापित होगी। प्रत्येक व्यक्ति के कर्म काँटे की तौल तुलेंगे। जिस सौभाग्यशाली का कर्म भारी सिद्ध होगा और कर्म-पत्र भलाइयों का कर्म-पत्र सिद्ध होगा, उसको जीवन का यह दूसरा दौर व्यतीत करने के लिए नेमतों भरा स्थान प्रदान किया जाएगा। ये नेमतें असीमित और अगणित होंगी, कभी समाप्त न होंगी, और ऐसी होंगी जिनकी इस संसार में रहते हुए कल्पना भी नहीं की जा सकती है और जिनके बाद मानव किसी और वस्तु की कामना तक न करेगा – उस स्थान का नाम 'जन्नत' (स्वर्ग) है।

   और जिस अभागे का मामला इसके विपरीत होगा अर्थात् जिसका कर्म-पत्र दुष्कर्मों का कर्म-पत्र होगा, जो अपने जीवन का पहला चरण ग़फ़लत और सत्य से अनभिज्ञ रहकर व्यतीत करके अल्लाह के समक्ष

उपस्थित होगा, उसे जीवन का यह दूसरा दौर व्यतीत करने के लिए एक ऐसा स्थान दिया जाएगा, जहाँ ऐसी तकलीफ़ें और यातनाएँ होंगी जिन्हें शब्दों में बयान करना असम्भव है, ऐसी तकलीफ़ों और यातनाओं का स्थान जो कभी समाप्त होनेवाला न होगा। उस स्थान का नाम — 'जहन्नम' (नरक) है।

5. इस हिसाब-किताब और फ़ैसले के बाद हमारे जीवन का दूसरा चरण अपने पूरे हाव-भाव के साथ अस्तित्व में आ जाएगा और यह चरण ऐसा होगा जिसका कोई अन्त न होगा। यह जीवन शाश्वत जीवन होगा। यहाँ मौत तो क्या, मौत का नाम तक बाक़ी न रहेगा।

यह है वह चीज़ जिसे 'आख़िरत' (परलोक) कहा जाता है और यह है उस 'आख़िरत' पर ईमान लाने का मतलब।

आख़िरत पर ईमान लाने का महत्व

सच्चा मुसलमान (मोमिन) होने के लिए बिलकुल अनिवार्य है कि जिस प्रकार अल्लाह पर ईमान लाया जाए, उसी प्रकार आख़िरत पर भी ईमान लाया जाए। इसके बिना आदमी एक सच्चा मुसलमान व मोमिन नहीं हो सकता और इसके बिना अल्लाह पर ईमान लाना भी अर्थमय व लाभदायक नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि आख़िरत का होना भी अल्लाह ही के कुछ गुणों की अनिवार्य अपेक्षा है। उदाहरणार्थ, उसके गुण, न्याय, तत्त्वदर्शिता, दयालुता, गुणग्राहकता और प्रभुता को अपेक्षित है कि आख़िरत का दिन आए। क़ियामत के न आने और मानव-कर्म का बदला न मिलने की स्थिति में यह बात केवल एक निरर्थक दावा बनकर रह जाएगी कि इस संसार का पैदा करनेवाला न्यायशील और ज्ञानवान है, दयावान और गुणग्राहक है, प्रभु और शासक है। क्योंकि कर्मों के नैतिक परिणाम वर्तमान संसार में तो अपेक्षित रूप में दिखाई नहीं देते। अत्याचारी फूलता-फलता है, तो सत्यवादी मुसीबतें उठाता रहता है। इसलिए इस जीवन के बाद यदि हर व्यक्ति को अपने किए का बदला मिलनेवाला न हो तो यह एक आश्चर्यजनक स्थिति होगी, ऐसी स्थिति जो अल्लाह तआला के न्याय, ज्ञान और उसकी दयालुता और

प्रभुता के प्रतिकूल होगी। इसलिए अल्लाह पर ईमान और कर्मों के प्रतिफल का इनकार, इन दोनों बातों का कभी भी एक साथ निर्वाह नहीं हो सकता।

सिफ़ारिश की बहुदेववादी धारणा

आख़िरत में इस बात का फ़ैसला करना सर्वथा अल्लाह ही के हाथ में होगा कि संसार में किस व्यक्ति ने कर्त्तव्यपरायण दास की हैसियत से जीवन व्यतीत किया है, अत: उसे जन्नत में जगह मिलनी चाहिए — सभी कुछ अल्लाह ही के हाथ में होगा –

"शासन उस दिन अल्लाह का होगा वह लोगों के बीच न्याय करेगा।"

(क़ुरआन 22:56)

बुद्धि भी जिस पहलू से देखती है, हक़ीक़त उसे यही नज़र आती है। उदाहरणार्थ –

1. अल्लाह ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का शासक और प्रभु है, इसलिए कोई कारण नहीं कि न्याय का अधिकार किसी दूसरे के हाथ में हो।
2. वह सर्वज्ञाता है, आदि से लेकर अन्त तक की हर बात से वह प्रत्यक्षत: परिचित है। किसने संसार में क्या किया है ? उसके हाथों ने क्या कमाया है ? उसके दिल के क्या इरादे रहे हैं ? उसका सीना किन भावनाओं को पालता रहा है ? रात की सुनसान अंधेरियाँ और दिन की व्यस्त घड़ियाँ उसने किस प्रकार और किन कामों में गुज़ारी हैं ?— ये सब कुछ उसके समक्ष ऐसा ही रौशन होगा, जिस प्रकार हमारी निगाहों के सामने दोपहर का सूरज रौशन होता है। इस यथार्थ के कारण सही फ़ैसलों तक पहुँचने के लिए वह किसी भी दशा में किसी की मदद का मुहताज नहीं हो सकता, न किसी और की राए या सलाह या गवाही की उसे कोई ज़रूरत पेश आ सकती है। विशेषकर ऐसी स्थिति में जबकि यह 'कोई और' ऐसा हरगिज़ नहीं हो सकता कि जिसे स्वयं अपने ही भूत और भविष्य का कोई यथार्थ ज्ञान प्राप्त न हो। फिर एक बहुत कम जाननेवाला, बल्कि वस्तुत: कुछ न जाननेवाला, सब कुछ जाननेवाले को वस्तुस्थिति

तक पहुँचने में क्या सहायता कर सकता है ?

3. वह न्यायशील है, इसलिए यह भी नहीं हो सकता कि किसी सिफ़ारिश पर उन लोगों को भी क्षमा कर दे जो अपने ईमान और कर्म की दृष्टि से नियमानुसार क्षमा किए जाने के योग्य न हों, क्योंकि यह न्याय की बात न होगी।

सारांश यह कि जिस पहलू से भी देखिए, ऐसी किसी ख़ुशगुमानी की थोड़ी भी गुंजाइश नज़र नहीं आती कि आख़िरत की सफलता ईमान व सुकर्म के अतिरिक्त कुछ बुज़ुर्ग हस्तियों की प्रसन्नता पर भी निर्भर है, वहाँ के हिसाब-किताब में उन्हीं की सिफ़ारिश से काम बन जाएँगे और वह अल्लाह तआला के फ़ैसले पर अपना प्रभाव डालकर लोगों को अनिवार्यतः दण्ड पाने से बचा लेंगे, चाहे वह उसके प्रतिफल प्रदान करने के नियमानुसार क्षमा किए जाने के तनिक भी योग्य न ठहरते हों। क़ुरआन मजीद इस प्रकार के विचार को बिलकुल निराधार ठहराता है और खुलकर कहता है कि इस प्रकार की कोई सिफ़ारिश वहाँ काम न आ सकेगी। काम न आ सकने की बात तो अलग रही, सिरे से ऐसी कोई सिफ़ारिश की ही न जा सकेगी।

> "......... उस दिन के आने से पहले जिस दिन कि न कोई लेन-देन होगा, न कोई दोस्ती होगी और न कोई सिफ़ारिश होगी।"
>
> (क़ुरआन, 2: 254)

सिर्फ़ यही नहीं कि इस प्रकार की सिफ़ारिश का विचार एक निराधार और व्यर्थ विचार है, बल्कि थोड़ा ग़ौर कीजिए तो वह सरासर एक बहुदेववादी विचार प्रतीत होगा। क्योंकि यह धारणा उसी वक़्त स्वीकार की जा सकती है जब पहले यह मान लिया जाए कि अल्लाह तआला न अपनी सल्तनत का अकेला शासक है और न ऐसा है कि उसे अपनी प्रजा के सम्बन्ध में फ़ैसला करने में किसी हस्तक्षेप का भय न हो, न हर बात उसके ज्ञान की परिधि में है और न वह न्यायनिष्ठ है। स्पष्ट है कि अल्लाह तआला के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पनाएँ एक बहुदेववादी ही की हो सकती हैं, मोमिन की नहीं हो सकतीं।

सिफ़ारिश की इस्लामी अवधारणा

किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि आख़िरत में किसी प्रकार की कोई सिफ़ारिश होगी ही नहीं। इसके विपरीत सच्चाई यह है कि जहाँ क़ुरआन और हदीस में इस सिफ़ारिश की बहुदेववादी अवधारणा का बार-बार खण्डन किया गया है, वहीं एक विशेष प्रकार की सिफ़ारिश का उनसे खुला हुआ सुबूत भी मिलता है। अत: यह बात इस्लाम की विस्तृत धारणाओं में सम्मिलित है कि क़ियामत के दिन कुछ लोग कुछ लोगों की सिफ़ारिश करेंगे।

यह सिफ़ारिश जिस प्रकार की होगी, उसका बहुत कुछ अन्दाज़ा अपनी बुद्धि से भी लगाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, इतनी बात तो बिलकुल स्पष्ट है कि सिफ़ारिश उपरोक्त सिफ़ारिश जैसी और उसकी धारणा के अनुरूप न होगी, बल्कि उससे मूलत: भिन्न होगी। यह सिफ़ारिश ऐसी होगी जिससे अल्लाह तआला के किसी गुण का या उस गुण की किसी अनिवार्य अपेक्षा का इनकार न होता हो और जो इस तथ्य से किसी प्रकार भी टकराती न होगी कि अल्लाह तआला ही इस पूरे ब्रह्माण्ड का स्वामी व शासक है, वह सब कुछ जानता है, उसका प्रत्येक कार्य और प्रत्येक निर्णय न्याय व इनसाफ़ की तराज़ू में तुला होता है। फिर अगर ये बातें बिलकुल स्पष्ट और खुली हुई हैं तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि यह सिफ़ारिश सामान्य और निर्बद्ध न होगी, बल्कि विशिष्ट और सीमित होगी, कुछ शर्तों के साथ होगी, किसी नियम और सिद्धान्त के अधीन होगी।

क़ुरआन मजीद न केवल यह कि इसको ठीक बताता है, बल्कि उसने इस नियम और सिद्धान्त का पूरा विवरण भी प्रस्तुत कर दिया है, जिसके अन्तर्गत यह सिफ़ारिश होगी। और वह इस प्रकार है :

1. सिफ़ारिश का मामला पूरे का पूरा अल्लाह तआला के हाथ में होगा और जो कुछ होगा, उसकी मरज़ी के अधीन ही होगा।

"कहो, सिफ़ारिश तो सब की सब अल्लाह के लिए है।"

(क़ुरआन, 39:44)

2. सिफ़ारिश के लिए ज़बान सिर्फ़ वही व्यक्ति खोल सकेगा, जिसे अल्लाह तआला की अनुज्ञा प्राप्त होगी।

"कौन है जो उसके सामने बिना उसकी अनुज्ञा के सिफ़ारिश कर सके?" (क़ुरआन, 2:255)

3. सिफ़ारिश करनेवाला सिफ़ारिश सिर्फ़ उसी व्यक्ति के बारे में कर सकेगा, जिसके पक्ष में सिफ़ारिश करने की उसे अल्लाह तआला की अनुमति और स्वीकृति मिल चुकी होगी।

"और वे किसी की सिफ़ारिश नहीं करते सिवाय उसके जिससे वह (अल्लाह) राज़ी हो।" (क़ुरआन, 21:28)

4. इस सिफ़ारिश में वह केवल ऐसी ही बात कहेगा जो हर पहलू से ठीक और सत्य होगी।

"बोलेंगे नहीं, सिवाय उस व्यक्ति के जिसे रहमान (कृपाशील अल्लाह) अनुज्ञा दे दे और वह बात भी ठीक कहे।" (क़ुरआन, 78:38)

इन सीमाओं के अन्दर जो सिफ़ारिश होगी वह कैसी होगी यह कुछ ढकी-छिपी बात नहीं रह जाती। वह निश्चय ही दासतापूर्ण विनय-निवेदन और प्रार्थना व क्षमा याचना से बाल बराबर भी भिन्न कोई चीज़ नहीं हो सकती। सिफ़ारिश करनेवाला न तो किसी व्यक्ति के ईमान (आस्था) और कर्म के सम्बन्ध में अल्लाह की जानकारी बढ़ाएगा, न ही उसके क्षमायोग्य होने की बात मुँह से निकाल सकेगा और न किसी पहलू से अल्लाह तआला के निर्णय पर प्रभाव डालने का विचार तक मन में ला सकेगा। बल्कि मात्र यह करेगा कि जगत् सम्राट के समक्ष, और वह भी उसकी अनुमति मिलने के पश्चात्, विनम्रतापूर्ण निवेदन करेगा, दया-कृपा की भिक्षा माँगेगा। कहेगा— "प्रभु! अपने अमुक बन्दे के गुनाहों को क्षमा कर दे। उसकी कोताहियों पर उसे न पकड़, उसपर दया कर और उसे क्षमा कर दे।" इस प्रकार सच्ची बात यही हो सकती है कि जिस प्रकार उस सिफ़ारिश का स्वीकार करनेवाला अल्लाह तआला होगा, उसी प्रकार यह सिफ़ारिश करनेवाला या सिफ़ारिश करानेवाला भी वास्तव में वही होगा। अतएव कुछ स्थानों पर क़ुरआन मजीद ने यह

स्पष्टीकरण किया भी है। उदाहरणार्थ :

"उनके लिए उसके सिवा कोई कारसाज़ होगा न कोई सिफ़ारिश करनेवाला।" (क़ुरआन, 6:51)

ये सिफ़ारिश करनेवाले कौन लोग होंगे और जिनके पक्ष में सिफ़ारिश की जाएगी वे कौन और कैसे लोग होंगे? इस सम्बन्ध में हदीस यह बताती है कि सिफ़ारिश करनेवाले अल्लाह के भले और समीपवर्ती बन्दे होंगे और जिनके पक्ष में सिफ़ारिश की जाएगी वे ऐसे लोग होंगे जिनका ईमान व अमल हिसाब-किताब के समय कुछ ऐसा कम वज़न होगा कि अल्लाह तआला के सामान्य क्षमा कर देने की नीति के अन्तर्गत वे क्षमा कर दिए जाने के पात्र न होंगे और इस पात्रता में कुछ कमी रह गई होगी। यही कमी वह चीज़ होगी जिससे दरगुज़र कराने के लिए सिफ़ारिश की जाएगी।

यहाँ मन में एक और प्रश्न उठता है और वह यह कि इस सिफ़ारिश की वास्तव में क्या सार्थकता होगी? वह वस्तुतः किस उद्देश्य के लिए होगी? यदि सिफ़ारिश करनेवाला सिफ़ारिश करने के विषय में इतना अविवश है जितना कि उपरोक्त आयतों से स्पष्ट है, तो इसका खुला अर्थ यह है कि सिफ़ारिश के बाद जिन लोगों की क्षमा की घोषणा की जाएगी उनकी क्षमा का निर्णय अल्लाह तआला अपने तौर पर पहले ही कर चुका होगा। फिर इस सिफ़ारिश को बीच में लाने का उद्देश्य क्या होगा? इसका उत्तर यह है कि इस सिफ़ारिश की असल ग़रज़ अल्लाह की ओर से उसके उन विशिष्ट बन्दों को सम्मानित करना होगा, जिनको वे अपने दरबार में ज़बान खोलने और निवेदन करने की अनुमति देगा। 'हश्र' के भरे मैदान में जहाँ सब ख़ामोश, सहमे और सिर झुकाए खड़े होंगे और किसी को दम मारने तक का साहस न होगा, उन लोगों के लिए निस्सन्देह बड़ी ही इज़्ज़त और सौभाग्य की बात होगी, जिन्हें बात करने की अनुमति मिल जाए, और बात भी इतने बड़े निवेदन के लिए कि "ऐ ख़ुदा! अमुक-अमुक बन्दों को, जो अमल करने में कोताही कर गए हैं, क्षमा कर दे।" इसके बाद समस्त ब्रह्माण्ड के सत्ताधारी अल्लाह की ओर से इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिए जाने और उन बन्दों को क्षमा कर दिए जाने की उद्घोषणा भी हो जाएगी।

इस सम्पूर्ण व्याख्या से यह वास्तविकता पूरी तरह स्पष्ट हो गई कि सिफ़ारिश वास्तव में अल्लाह की एक ऐसी विशिष्ट क्षमा-नीति का नाम है जो क्षमा करने के आम क़ानून से कुछ भिन्न है। उसको हम क्षमा करने की रिआयती नीति कह सकते हैं। किन्तु है यह भी बहरहाल एक विधान ही, जो अल्लाह तआला के एकत्व गुण, न्यायप्रियता, सर्वप्रभुत्व गुण और ज्ञान एवं तत्वदर्शिता जैसे गुणों की अपेक्षाओं के अनुकूल ही है और जिससे मूल प्रतिदान एवं दण्ड विधान की सार्थकता को तनिक भी हानि नहीं पहुँचेगी।

निस्सन्देह क़ुरआन व हदीस से यही स्पष्ट होता है कि आख़िरत में किसी की भी बख़्शिश अल्लाह तआला की करुणा और कृपा के बिना न हो सकेगी। यह इस्लाम के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) ही का फ़रमान है कि कोई व्यक्ति भी मात्र अपने कर्म के बल पर मुक्ति न पा सकेगा (हदीस-मुस्लिम)। किन्तु जिस प्रकार यह बात अपनी जगह सच है, उसी प्रकार यह वास्तविकता भी कुछ कम सच नहीं कि अल्लाह तआला की यह 'करुणा और कृपा' भी बहरहाल अपना एक न्यायिक विधान रखती होगी और वह केवल उन्हीं लोगों को अपनी छत्रछाया में लेगी, जो अपने ईमान और कर्म की दृष्टि से उसके पात्र होंगे। जो व्यक्ति जितना ही अधिक अच्छा ईमान (आस्था) व कर्म लेकर उपस्थित होगा, वह उस करुणा व कृपा का उतना ही अधिक हक़दार साबित होगा। जिसके पास यह पूँजी जितनी ही कम होगी वह उस अनुग्रह के लिए उतना ही अयोग्य समझा जाएगा, यहाँ तक कि कितने ही ऐसे भी होंगे जो इस कृपा के बिलकुल ही पात्र न ठहरेंगे। सारांश यह कि व्यवहारत: क्षमा का आधार मनुष्य का अपना ईमान और अमल (आस्था तथा कर्म) ही होगा और इस सम्बन्ध में प्रारम्भ से अन्त तक सभी निर्णय केवल अल्लाह ही के हाथ में होंगे।

यह है इस्लाम में सिफ़ारिश की सही धारणा। आख़िरत पर ईमान लाने और रखने का दावा बिलकुल निरर्थक है जब तक सिफ़ारिश के बारे में सही इस्लामी अवधारणा को अपनाकर उस मिथ्या धारणा से अपने मन को पूर्ण रूप से मुक्त न कर लिया गया हो, जिसका उल्लेख अभी ऊपर सिफ़ारिश की बहुदेववादी धारणा के अन्तर्गत हो चुका है। क्योंकि इस मिथ्या धारणा के होते

हुए एकेश्वरवाद (तौहीद) और आख़िरत पर विश्वास रखने का उद्देश्य ही शेष नहीं रह जाता है। अल्लाह और आख़िरत पर ठीक-ठीक ईमान रखने का उद्देश्य यही तो है कि मानव को यथार्थ का सही ज्ञान हो ताकि वह अपनी ज़िन्दगी में कर्म का सही तरीक़ा अपना सके तथा इस संसार में अल्लाह का 'बन्दा' और उसका 'मुस्लिम' (आज्ञाकारी) बनकर रहे। क्या सिफ़ारिश का यह दृष्टिकोण इनसान को विशुद्ध यथार्थ का ज्ञाता और सही कर्त्तव्यनिष्ठता पर अग्रसर रहने दे सकता है ? नहीं, कभी नहीं। क्योंकि वह तो उसे भ्रम में लिप्त कर देता है कि आख़िरत की पूछगाच्छ में सफलता का मूलाधार ईमान व कर्म नहीं, वरन् कुछ बुज़ुर्ग हस्तियों की प्रसन्नता और सिफ़ारिश है। और उन हस्तियों की प्रसन्नता और सिफ़ारिश प्राप्त होने का आधार मात्र इस बात पर है कि उनके मठों पर श्रद्धापूर्वक चढ़ावे चढ़ाए जाते रहें। सोचिए इस दृष्टिकोण के साथ आख़िरत का सच्चा चिंतन और अल्लाह तआला के सही आज्ञानुपालन का एहसास क्योंकर शेष रह सकता है ? खुले तौर पर यह एक पूरी-की-पूरी विकृत सोच है तथा इस सोच के साथ आख़िरत का मानना न मानने के बराबर ही रह जाता है। इसलिए आख़िरत की इस्लामी आस्था को उसकी अपनी सही शक्ल में ठीक-ठीक समझ लेने के लिए अनिवार्य है कि सिफ़ारिश के बारे में ज़ेहन अच्छी तरह साफ़ हो गया हो।

(3) रिसालत पर ईमान

'रिसालत' और उसकी आवश्यकता

इस्लाम की तीसरी अनिवार्य मौलिक धारणा 'रिसालत' है। रिसालत का शाब्दिक अर्थ 'दूतत्त्व' या 'पैग़म्बरी' है। शरीअत की परिभाषा में रिसालत उस दूतत्त्व को कहते हैं जिसे अल्लाह तआला ने इनसानों तक अपनी शरीअत के आदेश पहुँचाने और उन्हें अपनी मरज़ी की राह बताने के लिए क़ायम किया है। इसका दूसरा नाम नुबूवत है।

रिसालत का सिलसिला क्यों क़ायम किया गया है ? इसकी आवश्यकता किस लिए हुई ? और इसपर ईमान लाना क्यों अनिवार्य है ? इन प्रश्नों पर

विचार करने के लिए हमें थोड़ी दूर से चलना होगा अर्थात् पहले यह देखना होगा कि इनसान जिस उद्देश्य से पैदा किया गया है उसके पूर्ण होने का व्यावहारिक रूप क्या हो सकता था ?

इस्लाम ने इनसान के पैदा किए जाने का जो उद्देश्य तथा उसके जीवन का जो अनिवार्य कर्त्तव्य बताया है, वह अल्लाह तआला की दासता और आज्ञानुपालन है। और यही वह चीज़ है जिसपर आख़िरत की सफलता निर्भर करती है। अल्लाह की दासता और आज्ञानुपालन का नाम आते ही स्वाभाविक रूप से अल्लाह के आदेशों और इच्छाओं का प्रश्न सामने आ खड़ा होता है। क्योंकि पालन तो आदेशों ही का किया जाएगा और आदेश के बिना आज्ञापालन की कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती। इसलिए एक इनसान जिस समय अपने पालनहार का दास और आज्ञानुपालक बनकर रहने का निर्णय करेगा वह तत्काल यह जानना चाहेगा कि उसके मालिक के वे आदेश क्या हैं जिनका उसे पालन करना है ? वह किन बातों को पसन्द करता है और किन बातों को नापसन्द ? क्या करे कि वह उसका वफ़ादार कहलाने लगे और क्या करने से बचे कि उसकी अवज्ञा के दण्ड से सुरक्षित रहे ? इसके ज्ञान के बिना वह दासता (बन्दगी) और उसके आज्ञानुपालन के मार्ग में एक क़दम भी नहीं चल सकता।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होगा कि अल्लाह तआला के आदेशों व इच्छाओं के जानने का साधन क्या है ? इनसान यह कैसे मालूम कर सकता है कि अल्लाह ने अमुक बातों के करने का आदेश दिया है और अमुक कामों से रोका है ?

इसके प्रत्युत्तर में जिन साधनों का नाम लिया जा सकता है उनमें से एक तो हर व्यक्ति की अपनी बुद्धि है, किन्तु हर व्यक्ति तो क्या, कोई एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं हो सकता, जो अपने तौर पर अपनी बुद्धि से यह मालूम कर ले कि उसके जीवन की और इस विश्व की वास्तविक सच्चाइयाँ क्या हैं ? उसका पैदा करनेवाला पालनहार किन गुणों से सुशोभित है ? हम इनसानों से उसके उन गुणों की अपेक्षाएँ क्या हैं ? और हमारे लिए उसके आदेश क्या हैं ?

सारांश यह कि इस बारे में बुद्धि की असफलता बिलकुल स्पष्ट है।

दूसरी चीज़ इनसान का अपना विवेक और उसकी आंतरिक शक्ति है, लेकिन इस शक्ति का मामला भी बुद्धि से कुछ अधिक भिन्न नहीं। तप और तपस्या का बड़े -से-बड़ा प्रयास भी यहाँ इस प्रश्न के हल करने में कुछ भी काम नहीं आ सकता। क्योंकि इनसान अपने अन्तःकरण को मांझकर चाहे कैसा ही दर्पण क्यों न बना ले, उसमें अल्लाह तआला के आदेश और इच्छाओं का प्रतिबिम्ब आप से आप कभी भी दिखाई नहीं दे सकता। दर्पण में किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब बनने के लिए यही तो पर्याप्त नहीं है कि वह स्वच्छ और चमकदार हो, बल्कि यह भी अनिवार्य है कि वह अनावरण-स्थिति में उसके समक्ष हो और उसके निकट मौजूद हो। इसलिए अल्लाह जब तक स्वयं ही अपने आदेश निर्धारित करके उन्हें अस्तित्व में न ला दे और अस्तित्व में लाकर मानव-हृदय के सामने न रख दे, लाख साफ़ और चमकदार होने के बावजूद भी उसके अन्दर उनकी प्रतिछाया नहीं पड़ सकती। आज तक यह दावा नहीं किया जा सका है कि अल्लाह ने ऐसा किया है कि किसी व्यक्ति ने तपस्या की और अपने मन को स्वच्छ किया और अल्लाह ने अपने आदेश और अपनी मर्ज़ी से उसे अवगत करा दिया, इसलिए अल्लाह के आदेशों को जानने का यह साधन भी अत्यन्त असफल साधन है।

तीसरी चीज़ व्यक्ति – व्यक्ति के बजाए बहुत-से लोगों का सामूहिक चिंतन-मनन है। किन्तु जिस प्रकार हज़ारों और लाखों अंधे मिलकर एक आँखोंवाले व्यक्ति का दर्जा हासिल नहीं कर सकते, उसी प्रकार लोगों की बड़ी से बड़ी संख्या भी अल्लाह के आदेशों को मालूम करने में सफल नहीं हो सकती। आख़िर 'बहुत-से लोगों' का यह समूह भी तो ऐसे ही लोगों से मिलकर बना होगा, जिनमें का कोई एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं जो अपनी बुद्धि से अल्लाह के आदेशों का ज्ञान प्राप्त कर लेने का स्वप्न भी देख सके। अतः यह साधन भी उतना ही असफल साधन है जितना कि पहला।

तात्पर्य यह कि इन तीनों ही साधनों में से कोई एक भी ऐसा नहीं जो मानव-जीवन की इस सबसे महत्त्वपूर्ण और असाधारण आवश्यकता की पूर्ति कर सके।

यह सत्य है कि बहुत-से काम ऐसे हैं जिनके बुरे या भले होने का हमें स्वयं ही आभास हो जाता है और उनकी बुराई या भलाई का निर्णय हम अपनी प्रकृति या अपनी बुद्धि या अपने विवेक से स्वयं भी कर सकते हैं। दूसरी ओर यह भी एक सर्वमान्य तथ्य है कि ईश्वरीय मार्गदर्शन भी बुरे और भले कामों के निर्धारण ही का दूसरा नाम है। किन्तु मात्र इतनी-सी बात से यह विचार कर बैठना उचित न होगा कि मानव अपने तौर पर अल्लाह तआला के समस्त आदेशों और इच्छाओं का अन्दाज़ा कर सकता है। क्योंकि 'कुछ' कामों के बुरे या भले होने का ज्ञान व अनुमान 'समस्त' कामों के विषय में ज्ञान का बदल नहीं हो सकता।

निगाहें फैलाकर अपनी दुनिया को देखिए, आख़िर वह कितनी मान्यताओं के विषय में एकमत है? कितने काम हैं जिनके भले होने पर और कितने काम हैं जिनके बुरे होने पर सम्पूर्ण मानवजाति सहमत है? बड़ी रिआयत के बाद भी आप ऐसे कामों और ऐसी मान्यताओं की कोई गणनीय संख्या नहीं सामने ला सकते, जिनकी भलाई और बुराई पर सभी लोग सहमत हों। और जिन थोड़ी-सी बातों पर सहमति होगी भी, विस्तार में जाने के बाद उनके बारे में भी यह सहमति ज्यों की त्यों शेष न रहेगी। स्पष्ट है कि इतनी निर्मूल-सी बुनियाद पर इतने बड़े दावे का भवन किसी प्रकार निर्मित नहीं किया जा सकता। कुछ थोड़े-से कामों के बुरे या भले होने का निर्णय मानवजाति अगर स्वयं कर सकती है तो यह बात भलाई और बुराई की पूरी समस्या को हल कर लेने का दायित्व नहीं निभा सकती। निस्सन्देह यह तो नहीं कहा जाएगा कि दीपक की रौशनी रौशनी नहीं, लेकिन यह ज़रूर कहा जाएगा कि एक दुनिया को प्रकाशमान करने के लिए जिस सूरज की आवश्यकता है, यह दीपक उसकी जगह कभी भी नहीं ले सकता।

मालूम हुआ कि इस विषय में मानव शक्ति की बेबसी एक अकाट्य तथ्य है, जिसके विरुद्ध न बुद्धि कुछ कह सकती है, न अनुभव और न निरीक्षण। इस वस्तुस्थिति की अपेक्षा यही थी कि ऊपर से मानव का मार्गदर्शन किया जाए, क्योंकि उसके चिंतन और विवेक शक्तियों में यदि यह क्षमता न थी कि वे अल्लाह की इच्छाओं को मालूम कर सकें, यद्यपि मानव

को उनकी आवश्यकता आहार और जल की तरह थी, तो अब उसकी इस आवश्यकता के पूरा होने का उपाय इसके अतिरिक्त और कोई रह ही नहीं जाता कि उसकी अल्लाह तआला ही की ओर से कोई बाह्य व्यवस्था हो।

एक ओर तो यह वस्तुस्थिति और मानव की यह सबसे बड़ी मौलिक आवश्यकता थी, दूसरी ओर अल्लाह तआला का पालनहार होना था, उसकी दयालुता थी, उसका न्याय था, उसकी तत्त्वदर्शिता थी और इनमें से प्रत्येक गुण को यह अपेक्षित था कि मानव को यूँ ही विवशता के अँधेरे में न छोड़ा जाए, बल्कि उसकी सहायता की जाए और उसको उन आदेशों से साफ़ और खुले शब्दों में अवगत करा दिया जाए, जिनको जाने बग़ैर वह बन्दगी और आज्ञापालन का मार्ग अपना ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में सम्भव न था कि जगत् का पालनहार, अल्लाह तआला अपने आदेशों और इच्छाओं से इनसानों को परिचित कराने का कोई बाह्य और ऊपरी प्रबन्ध न करता, इस सम्बन्ध में एक दिन का भी विलम्ब किया जाता और मानव जाति के आरम्भ के साथ ही इसकी व्यवस्था भी न कर दी जाती। जिस पालनहार (प्रभु) ने आदम की सन्तान की भौतिक आवश्यकताओं की सामग्री प्राप्त करने के लिए ज़मीन पर इतना बड़ा प्रबन्ध कर रखा था, उसके पालनहार होने के बिलकुल विरुद्ध था कि वह उसकी नैतिक और धार्मिक आवश्यकताओं की ओर ध्यान न देता। जिस प्रभु ने इनसान पर यह भारी ज़िम्मेदारी डाली थी कि वह उसकी पसन्द की हुई राह पर चले, उसकी करुणा, उसकी कृपा और उसके न्याय को यह कैसे पसन्द होता कि वह उसे उस राह से सूचित करने का ज़रूरी प्रबन्ध करे। अतएव उसने यह व्यवस्था की और परिपूर्ण ढंग से की और यही वह प्रबन्ध है जिसे इस्लाम की परिभाषा में 'रिसालत' (ईशदूतत्त्व) कहा जाता है, और जिस माध्यम के द्वारा यह व्यवस्था की जाती है उसे 'रसूल' (पैग़म्बर या सन्देष्टा) कहते हैं।

जहाँ यह बात प्रकाशमान दिन की तरह विदित है कि बिना रिसालत के इनसान अल्लाह तआला के आदेशों और उसकी इच्छाओं को नहीं जान सकता, वहाँ इस तथ्य को भी स्पष्ट ही समझना चाहिए कि रिसालत पर ईमान लाना मोमिन और मुस्लिम बनने के लिए हर हाल में अनिवार्य तथा आवश्यक

है। यह ठीक उसी प्रकार आवश्यक है, जिस तरह देखने के लिए आँखों की पुतली में नेत्र ज्योति ज़रूरी होती है। स्पष्ट है जो चीज़ किसी मंज़िल तक पहुँचने का एकमात्र साधन हो, जब तक उसको न अपना लिया जाए, मंज़िल तक पहुँचने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होगा।

फिर बात इतने ही पर ख़त्म नहीं हो जाती। अगर ग़ौर कीजिए तो मालूम होगा कि रिसालत का व्यावहारिक महत्त्व इससे भी बढ़कर है। अर्थात् वस्तुस्थिति मात्र यही नहीं है कि इसके बिना अल्लाह के आदेशों को नहीं जाना जा सकता, बल्कि यह भी है कि इसके बिना स्वयं अल्लाह और आख़िरत को भी नहीं जाना-पहचाना जा सकता। रिसालत ही वह एक मात्र साधन है जो अल्लाह तआला और आख़िरत का सही ज्ञान प्रदान करता है बल्कि स्पष्ट शब्दों में रिसालत के बिना अल्लाह और आख़िरत पर ईमान भी जैसा चाहिए नहीं लाया जा सकता। इसलिए रिसालत पर ईमान रखना भी अगर इस्लाम की मौलिक धारणाओं में सम्मिलित है तो इसे सम्मिलित होना ही चाहिए था।

मूलत: जब यह बात मालूम हो चुकी कि रिसालत आहार और जल की तरह इनसान की एक अवश्यंभावी आवश्यकता है और इस्लाम की मौलिक धारणाओं में सम्मिलित है तो अब इस धारणा के आवश्यक विवरण का अवलोकन कर लेना चाहिए।

क़ुरआन मजीद ने रिसालत के बारे में जिन महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डाला है वे ये हैं :

1. रसूल इनसान ही थे

अल्लाह ने इनसानों तक अपने आदेश पहुँचाने का माध्यम इनसानों ही को बनाया है अर्थात् अल्लाह के ये रसूल न फ़रिश्तों में से होते थे, न जिन्नों में से, न किसी और प्राणी वर्ग में से और न ही ऐसा है कि अपने आदेशों से अवगत कराने के लिए अल्लाह स्वयं ही किसी इनसानी या ग़ैर-इनसानी रूप में यहाँ आता रहा हो। इसके विरुद्ध सत्य यह है कि जब भी कोई रसूल भेजा

गया मानव ही में से भेजा गया। अल्लाह का फ़रमान है :

> "ऐ नबी ! हमने तुमसे पहले भी (रसूल बनाकर) केवल आदमियों ही को भेजा था, जिन पर हम अपनी 'वह्य' अवतरित करते थे।"
>
> (क़ुरआन, 12:109)

क़ुरआन मजीद ने पिछली क़ौमों और हक़ की ओर बुलाने के जो वृत्तांत बयान किए हैं, उनसे मालूम होता है कि अल्लाह के रसूलों को लोगों ने सदैव लगभग यही कह कर ठुकराया कि "तुम भी तो हमारे ही जैसे मनुष्य हो, फिर अल्लाह के दूत और संदेशवाहक (रसूल) होने का दावा किस प्रकार करते हो ?" (क़ुरआन, 14:10) और इस आपत्ति के उत्तर में उन लोगों ने कभी यह नहीं कहा कि नहीं, तुम ग़लत कह रहे हो कि हम भी तुम्हारे ही जैसे मनुष्य हैं; बल्कि सब ने यही कहा कि निस्संदेह हम मनुष्य हैं और तुम्हारे ही जैसे मनुष्य हैं। (क़ुरआन, 14:11) इसलिए यह एक जानी-मानी सच्चाई है कि रिसालत के लिए हमेशा इनसानों ही की नियुक्ति हुई, ठीक हमारे और आप जैसे इनसानों की। हमारी ही तरह वे शरीर व प्राण रखते, क्षमताएँ और इच्छाएँ रखते, पत्नी-सन्तान रखते, नैसर्गिक नियम के अनुसार जन्म लेते, पलते-बढ़ते, खाते-पीते, सोते-जागते, दुख-सुख का अनुभव करते, हँसते और रोते, स्वस्थ रहते, बीमार पड़ते तथा मृत्यु को प्राप्त होते। मतलब यह कि वे हर दृष्टि से मनुष्य ही होते और मनुष्य होने की एक-एक अनिवार्य चीज़ और गुण उनके अन्दर मौजूद होता। रसूल इनसान ही होते थे यह बात सिर्फ़ "हम तुम्हारे ही जैसे मनुष्य हैं" जैसी आयतों ही से समझ में नहीं आता, बल्कि क़ुरआन मजीद ने जगह-जगह इस बात का विवरण और व्याख्या भी की है :

> "........... निस्संदेह ये रसूल खाना खाते और (सौदा ख़रीदने के लिए) बाज़ारों में चलते-फिरते।" (क़ुरआन, 25:20)
>
> "हमने उनके लिए बीवी-बच्चे बनाए थे।" (क़ुरआन, 13:38)

जिस उद्देश्य के कारण 'रिसालत' के लिए मनुष्यों ही की नियुक्ति हुई उसकी ओर भी क़ुरआन मजीद ने संकेत कर दिया है। जब लोगों ने नबी (सल्ल.) की नुबूवत के विरुद्ध यह तर्क दिया कि यदि अल्लाह को हमारे पास

अपना कोई रसूल भेजना होता तो किसी फ़रिश्ते को भेजता न कि हमारे ही जैसे एक इनसान को, तो इसके जवाब में अल्लाह तआला ने फ़रमाया :

> "ऐ नबी ! उनसे कह दो कि अगर ज़मीन में फ़रिश्ते चलते-फिरते और आबाद होते तो हम अवश्य उनपर आसमान से किसी फ़रिश्ते (ही) को रसूल बनाकर भेजते।" (क़ुरआन, 17:95)

यह आयत रिसालत (ईशदूतत्त्व) के बारे में अल्लाह तआला का एक निश्चित किया हुआ नियम बता रही है और वह यह है कि 'रसूल' को उसी प्राणी-वर्ग में से होना चाहिए, जिसके पास जाकर उसे रिसालत का कर्त्तव्य निभाना है। देखने में यह यद्यपि मात्र एक बात है किन्तु वास्तव में यह एक ऐसा हिकमत भरा वाक्य है, जो सद्बुद्धि रखनेवालों को पूरी बात समझा देता है। इससे यह तथ्य आप से आप खुलकर सामने आ जाता है कि इनसानों तक अल्लाह के आदेश पहुँचानेवाले रसूलों का इनसान ही होना ज़रूरी था, अन्यथा रिसालत का उद्देश्य पूरा ही न हो पाता। क्योंकि रसूल यद्यपि लोगों तक ईश्वरीय आदेश पहुँचने का माध्यम होता है, लेकिन मात्र माध्यम नहीं होता कि वह केवल डाकिया हो और उसकी हैसियत इसके अतिरिक्त और कुछ न हो कि वह बस फ़ोन और टेलीग्राम के तारों की तरह अल्लाह तआला के आदेश उसके बन्दों तक पहुँचा दे, बल्कि वह इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ होता है। वह अल्लाह तआला के आदेशों का पहुँचानेवाला अवश्य होता है, किन्तु इसी के साथ-साथ उन आदेशों का आवाहक भी होता है, मार्गदर्शक भी होता है, शिक्षक भी होता है, व्याख्याकार भी होता है, उनके अनुसार लोगों को ज्ञान और व्यवहार की दृष्टि से पूर्ण भी बनाता है और सबसे पहले स्वयं ईश्वरीय आदेशों पर चलकर दूसरों के समक्ष एक उच्च आदर्श (उस्वए हसना) भी प्रस्तुत करता है। ये सब बातें उसके कर्त्तव्यों में सम्मिलित होती हैं। दूसरे शब्दों में यह कि जब तक यह सब कुछ न हो, उस उद्देश्य की प्राप्ति सम्भव नहीं जिसके लिए ईशदूतत्त्व (रिसालत) का सिलसिला जारी किया गया। ग़ौर कीजिए कि क्या कोई दूसरा प्राणी इन सारे कामों को पूरा कर सकता है ? ज़ाहिर है इसका केवल एक ही उत्तर होगा और वह यह कि दूसरा कोई प्राणी इन कामों में से कुछ को पूरा कर दे, किन्तु सबको किसी भी दशा में

पूरा नहीं कर सकेगा। उदाहरणत: फ़रिश्तों ही को ले लीजिए जिनकी ओर इस सम्बन्ध में सबसे पहले निगाह उठ सकती है। यदि फ़रिश्ते को रसूल बनाकर इनसानों के पास भेजा जाता तो सोचिए कि स्थिति क्या होती ? यह तो सत्य है कि वह अल्लाह के आदेश लोगों तक ज्यों के त्यों अवश्य पहुँचा देता, किन्तु फ़रिश्ता होते हुए वह उनमें उन आदेशों का आख़िर ख़ुद कैसे पालन (व्यवहार) कर पाता जिनका सम्बन्ध नितांत रूप से मानवीय भावनाओं, अपेक्षाओं, विशिष्ट मानवीय समस्याओं और मामलों से है ? जब वह उन आदेशों पर अमल कर ही न पाता तो उनके विषय में अपने अनुयायियों के लिए 'उत्तम आदर्श' कैसे पेश कर सकता था ? इस प्रकार वह उन मानवीय भावनाओं और अपेक्षाओं से अनभिज्ञ होते हुए उनसे सम्बन्ध रखनेवाले मामलों में लोगों का तत्काल मार्गदर्शन कैसे कर पाता ? उनकी समस्याओं को कैसे हल करता ? उनके लिए अल्लाह की किताब में वर्णित की हुई पूरी जीवन-प्रणाली की मौलिक रूपरेखा में विस्तृत रंग कैसे भरता ? वह जानता ही नहीं कि मानव-मन की प्रवृत्तियाँ क्या रुख़ अपनाती रहती हैं, फिर वह उसको विकसित किस प्रकार करता ?

क़ुरआन मजीद का बयान है कि हर नबी उसी क़ौम के अन्दर से होता था जिसके पास उसे नबी बनाकर भेजा जाता था। इसी प्रकार उसपर उतरनेवाला अल्लाह का कलाम (ईशवाणी) भी उसी ज़बान में होता था जो ज़बान कि उसकी क़ौम बोलती थी (क़ुरआन, 14:4), ताकि वह अल्लाह का संदेश क़ौम पर अच्छी तरह स्पष्ट कर दे (क़ुरआन, 14:4)। क़ुरआन मजीद के इस बयान से अंदाज़ा लगाइए कि अल्लाह तआला ने लोगों पर अपने पैग़ाम को प्रकाशमान दिन की तरह स्पष्ट कर देने की कैसी बहुआयामी और पूर्ण व्यवस्था कर रखी है और इस बात को कितना महत्त्व दिया है कि कोई वास्तविक कठिनाई या कारण उसकी भेजी हुई जीवन-प्रणाली (दीन) के समझ पाने के मार्ग में आड़े न आ सके और लोगों के समक्ष उसका तर्कयुक्त प्रमाण हर प्रकार से आ जाए। स्पष्ट है कि इस उद्देश्य-प्राप्ति के लिए यदि नबी का सहजाति होना और ईश्वरीय संदेश का उसी क़ौम की भाषा में होना अनिवार्य था, तो कोई संदेह नहीं कि नबी का इनसान होना उससे कई गुना ज़्यादा ज़रूरी था।

2. 'रिसालत' के पद का स्वरूप

रिसालत (पैग़म्बरी) कोई अर्जनात्मक वस्तु नहीं है कि उसे प्रयास करके प्राप्त क्रिया जा सके, बल्कि वह एक 'वहबी' (अल्लाह की ओर से प्रदान की जानेवाली) वस्तु और अल्लाह का विशेष उपहार है, और उसी को मिलती है जिसको वह प्रदान करता है। उसके मिलने में मानवीय प्रयास और इरादे की कोई भूमिका नहीं होती।

अल्लाह तआला इस पद या ज़िम्मेदारी के लिए व्यक्तियों का चुनाव स्वयं करता रहा है, जिसे क़ुरआन की भाषा में 'इस्तिफ़ा' कहते हैं। 'इस्तिफ़ा' का अर्थ है— बहुत-सी चीज़ों में से सबसे अच्छी चीज़ को चुन लेना। यह शब्द बताता है कि रिसालत के लिए चुनाव ऐसे ही व्यक्तियों का होता रहा है, जो अपनी विविध क्षमताओं और शक्तियों की दृष्टि से इस महान और पवित्र पद के लिए सबसे अधिक योग्य होते थे। यह बात बुद्धि की दृष्टि से भी ज़रूरी मालूम होती है और क़ुरआन मजीद के कतिपय संकेतों से भी इसका स्पष्टीकरण होता है। नबी (सल्ल.) के विरोधियों ने जब मुहम्मद (सल्ल.) के नबी बनाए जाने के दावे पर आपत्ति की और अपने लिए भी बराबर की पात्रता की बातें कीं तो इसके जवाब में अल्लाह ने कहा :

> "अल्लाह बेहतर जानता है कि उसे पैग़म्बरी किसके सुपुर्द करनी चाहिए थी।" (क़ुरआन, 6:124)

न केवल यह कि 'रिसालत' सीखने और कोशिश करने से प्राप्त नहीं हो सकती, बल्कि दूसरे लोग तो इसकी वास्तविकता को समझ भी नहीं सकते, जैसाकि क़ुरआन मजीद कहता है :

> "ये लोग वह्‌य के बारे में तुमसे पूछते हैं कि वह क्या है ? उनसे कह दो कि वह्‌य मेरे पालनहार के (विशिष्ट) मामलों में से है और (जहाँ तक तुम आम इनसानों का सम्बन्ध है) तुम्हें बहुत कम ज्ञान दिया गया है।"
>
> (क़ुरआन, 17:85)

अर्थात् स्वाभाविक रूप से तुम्हारे ज्ञान और तुम्हारी बुद्धि की पहुँच इतनी है ही नहीं कि तुम 'वह्य' को समझ सको और उसकी हक़ीक़त को पा सको। वह्य का न समझ पाना वास्तव में नुबूवत की वास्तविकता का न समझ पाना है, क्योंकि यही वह्य नुबूवत की ख़ास बुनियाद है, इसी के मिलने से एक व्यक्ति नबी बनता है।

3. रिसालत की व्यापकता

नबी प्रत्येक समुदाय में भेजे गए हैं :

"कोई भी समुदाय नहीं, जिसमें कोई सचेत करनेवाला (रसूल) न आया हो।" (क़ुरआन, 35:24)

और स्पष्ट है कि ऐसा होना ही चाहिए था। क्योंकि इनसान-इनसान सब बराबर हैं, चाहे उनका सम्बन्ध किसी जाति या भू-खण्ड से हो। सब एक ही उद्देश्य के लिए पैदा हुए हैं। अल्लाह की बन्दगी को सभी का जीवन-कर्त्तव्य ठहराया गया है, और आख़िरत में इस कर्त्तव्य के सम्बन्ध में जो पूछ-गच्छ होगी वह सभी से होगी। फिर ऐसा क्यों होता कि कुछ लोगों को तो अल्लाह तआला उनका यह कर्त्तव्य याद दिलाता और कुछ को बेख़बर छोड़ देता? कुछ गिरोहों को अपने आदेशों का ज्ञान दे देता, कुछ को इससे वंचित रखता? जबकि वह समान रूप से सभी का रचयिता, सभी का स्वामी, सभी का पालनहार और सभी का पूज्य-प्रभु है। उसकी रहमत सबके लिए आम है और उसका न्याय पक्षपात से पूरी तरह पाक है।

स्पष्ट रहे कि प्रत्येक 'समुदाय' में रसूल के आने का मतलब यह है कि कम से कम उसकी किसी एक पुश्त (पीढ़ी) में कोई रसूल अवश्य भेजा गया है।

4. रसूल की शिक्षाओं की हैसियत

रसूल, धार्मिक जीवन-शैली व धर्मविधान (शरीअत) के नाम पर लोगों को जो कुछ भी बताता है, वह सब अल्लाह की ओर से होता है। कोई बात

भी उसके अपने मन की उपज नहीं होती :

> "नबी (धर्म के मामले में) अपनी इच्छा से कोई बात नहीं कहता। वह जो कुछ कहता है, वह मात्र वह वह्य होती है जो उस पर अवतरित की जाती है।" (क़ुरआन, 53:3,4)

नबी की सारी शिक्षाओं का अल्लाह की ओर से होने का अर्थ थोड़ा विस्तृत है और उसकी दो क़िस्में होती हैं–

1. पहली यह कि अल्लाह तआला ने अपने आदेश व मार्गदर्शन निश्चित शब्दों में स्वयं सीधे या फ़रिश्तों के द्वारा नबी को सिखा दिए हों।
2. दूसरी यह कि अल्लाह तआला की ओर से नबी को जो आदेश सिखाए और बताए गए हों नबी ने उन्हें सामने रखकर उसमें चिंतन किया हो और अल्लाह की इच्छाओं को स्पष्ट करते हुए उनसे स्वयं कुछ आदेश निर्धारित किए हों।

इन दो प्रकारों में पहले प्रकार की शिक्षाएँ मूलत: सीधे अल्लाह की ओर से होती हैं और दूसरे प्रकार की शिक्षाएँ भी अल्लाह की ओर से ही होती हैं मगर नबी के माध्यम से होती हैं।

5. नबी दोषरहित होते हैं

नबी दोषरहित (मासूम) होता है। वह न विचारों में ग़लती करता और न चिंतन एवं प्रयास से आदेशों के निर्धारण में ग़लती करता है। उससे न कर्म में कोई ग़लती होती है और न नैतिक व्यवहार में उससे कोई भूल होती है। उसकी भावनाओं, उसके शील-स्वभाव, विचार एवं कर्म में मनेच्छा और शैतान का प्रवेश बिलकुल नहीं होता। उससे यदि कभी भूल हो भी सकती है, तो केवल ऐसे सोच-विचार और अनुमान में हो सकती है, जिसका सम्बन्ध ऐहिक उपायों से होता है या फिर ऐसे मामलों से होता है जो शरीअत की परिधी में नहीं आते। स्पष्ट है कि इस प्रकार की त्रुटियों और अनुमान की ग़लती से नबी के दोषरहित होने में कोई अन्तर नहीं आ सकता। क्योंकि नबी

के दोषरहित होने का अर्थ केवल यह है कि नबी अल्लाह के आदेशों को समझने और उनसे तफ़सीली आदेश निर्धारित करने में ग़लती नहीं करता और न अल्लाह की इच्छाओं का व्यवहारत: पालन करने में उससे कोई कोताही होती है। इसलिए अन्य मामलों में सोच और अनुमान की ग़लती का नबी के दोषरहित होने के विषय से कोई सम्बन्ध नहीं।

नबी दोषरहित (मासूम) इसलिए नहीं होता कि स्वाभाविक रूप से उसकी सोच में या अमल में कोई ग़लती हो ही नहीं सकती। इसके विपरीत सत्य वास्तव में यह है कि दूसरों की भाँति नबियों (अलै.) से भी ग़लती की सम्भावना अवश्य होती है । किन्तु होता यह है कि यह सम्भावना मात्र सम्भावना ही रहती है और व्यावहारिक रूप धारण नहीं करती। (यदि कभी अनजाने में नबी से कोई भूल हो भी जाती है तो वह अपनी इस ग़लती पर क़ायम नहीं रहता, अल्लाह उसे उसकी अपनी ग़लती से अवगत करा देता है और फिर नबी का फ़ैसला बदल जाता है।) नबी के विचार करने की क्षमता और विवेक शक्ति अत्यंत पूर्ण होती है और उसकी नैतिक शक्ति भी अत्यंत बढ़ी हुई होती है। एक ओर तो उसे उत्तम क्षमताएँ एवं योग्यताएँ प्राप्त होती हैं, जिससे वह ईश्वरीय आदेश के आशय को भली-भाँति समझ लेता है और अपने इज्तिहाद (गूढ़ चिन्तन) के द्वारा तफ़सीली आदेश निर्धारित कर लेता है। दूसरी ओर उसे अपने मन की इच्छा पर पूरा-पूरा नियन्त्रण प्राप्त होता है और उसकी नैतिक चेतना, उसका ईश-भय और उसकी पारलौकिक चिन्ता इतनी बढ़ी हुई होती है कि गुनाह के उत्प्रेरक तत्त्व सिर उठा ही नहीं पाते।

किन्तु फिर भी वास्तव में नबियों के दोषरहित होने के समस्त कारणों में केवल यही कारण नहीं है बल्कि एक और चीज़ भी है जो उन्हें इस 'प्रशंस्य स्थान' (पसन्दीदा स्थान) तक पहुँचा देती है और वह है अल्लाह तआला की विशिष्ट निगरानी और सुरक्षा। यही 'निगरानी' है जो उन्हें नैतिकता और कर्म की त्रुटियों से भी बचाती है और विचार व इज्तिहाद की ग़लतियों से भी बचाए रखती है। अत: वास्तविक तथ्य यह नहीं है कि नबी से कोई राय क़ायम करने में चूक हो ही नहीं सकती, बल्कि यह है कि उससे यह चूक हो सकती है। किन्तु ज्यों ही ऐसा होता है उसे अल्लाह की ओर से तुरन्त सचेत कर दिया

जाता है और इससे पूर्व कि नबी की कोई राय शरीअत (धर्म-विधान) का आदेश बनकर उसके अनुयायियों तक पहुँचे, अल्लाह तआला अपने 'इलहाम' या वह्य (प्रकाशना) के द्वारा उसका सुधार कर देता है। इसी प्रकार बुराई की रूझान और प्रवृत्तियाँ सिर उठाना चाहती हैं और नबी की अपनी ईमानी और नैतिक शक्ति उन्हें कुचल डालने के लिए आगे बढ़ती है तो वह अकेला नहीं होता, बल्कि अल्लाह की ख़ास मदद भी उसके साथ होती है। जिसके बाद सम्भावना ही नहीं रह जाती कि ये रुचियाँ शेष रह जाएँ।

ग़ौर कीजिए तो साफ़ एहसास होगा कि नबी का दोषरहित होना उस उद्देश्य के लिए अत्यंत ज़रूरी था, जिसके लिए 'रिसालत' का सिलसिला स्थापित किया गया है। एक ऐसे व्यक्ति पर, जिससे इस बात की आंशका हो कि, मिसाल के तौर पर, वह झूठ बोल सकता है, धोखा-धड़ी कर सकता है, ग़लत इच्छाओं का शिकार हो सकता है, अल्लाह की मंशा का ग़लत अर्थ प्रस्तुत कर सकता है, लोग यह विश्वास किस प्रकार कर सकते हैं कि वह अपनी नुबूवत (पैग़म्बरी) के दावे में सच्चा है और किसी झूठ से काम नहीं ले रहा है ?अल्लाह के नाम पर हमें जो हिदायतें दे रहा है वे सब की सब वस्तुत: अल्लाह ही की ओर से हैं और उसने उनमें अपनी ओर से कोई कमी-बेशी नहीं की है। फिर ऐसा व्यक्ति लोगों के लिए आचार-विचार व कर्म करने का अच्छा आदर्श भी प्रस्तुत नहीं कर सकता। क्योंकि जिसका स्वयं अपना दामन दाग़-धब्बों से पवित्र न हो वह दूसरों को क्या दिखाकर हिदायत कर सकता है कि तुम्हें अपने दामनों को इस प्रकार पवित्र व पाक रखना चाहिए। नुबूवत का काम उस समय तक पूर्ण हो ही नहीं सकता, जब तक कि नबी अपने अनुयायियों के सामने परिपूर्ण 'इस्लाम' और 'अल्लाह के आदेश' के परिपूर्ण अनुपालन का व्यावहारिक नमूना भी प्रस्तुत न करता रहे।

न केवल यह कि नबी दोषरहित और मासूम होता है, बल्कि मासूम और दोषरहित सिर्फ़ नबी ही होता है। सोच और इज्तिहाद की ग़लतियों और चरित्र तथा आचरण के विचलनों से पाक होना अल्लाह के सिर्फ़ इन्ही ख़ास बन्दों की विशेषता है। दूसरे लोग धर्म की समझ और सूझ-बूझ और नेकी और ईशपरायणता के चाहे कितने ही सर्वोच्च शिखर तक पहुँच जाएँ किन्तु उस

अंतिम चोटी तक, जिसका नाम 'मासूमियत' है, कभी भी नहीं पहुँच सकते। फिर शायद यह तो सम्भव हो कि किसी का चरित्र और कर्म मासूमियत की सीमाओं के निकट पहुँच जाए, किन्तु यह किसी तरह सम्भव नहीं कि उसके चिंतन और इज्तिहाद (खोज व तहक़ीक़) की शक्तियाँ ग़लतियों से मुक्त हो जाएँ और वह जो कुछ सोचे वह अनिवार्यतः धर्म और ईश्वरीय अभिप्राय की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति हो।

इस वार्तालाप का यह अंतिम बिन्दु एक विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि जब तक यह तथ्य मन में गहराई के साथ न उतर जाए कि ग़ैर-नबी मासूम नहीं होता, तब तक नबी की मुहब्बत और अनुकरण का हक़ पूरी तरह अदा नहीं हो सकता और कुछ असंभव नहीं कि इनसान किसी-न-किसी हद तक नुबूवत में शिर्क की गुमराही में पड़ जाए। (यानी वह ग़ैर-नबी को वह दर्जा देने लगे जो वास्तव में नबी का दर्जा है। और ऐसा करना मानो ग़ैर-नबी को नबी बनाने के समान है जो इस्लाम की दृष्टि में बिलकुल ग़लत है।)

6. नबियों की हैसियत

नबी की पूरी पैरवी ज़रूरी होती है और ऐसा समझना ईमान की शर्त है। 'दीन और शरीअत' की परिधि में नबी जो कुछ भी कहता है, एक मोमिन का अनिवार्य कर्त्तव्य है कि उसके अनुपालन में नानुकुर न करे। उसके आदेश में निहित हित समझ में आए या न आए, प्रत्येक स्थिति में विश्वास यही रखे कि वह भलाई ही भलाई है और पूर्णतः सत्य ही है। — नबी की यह हैसीयत स्वयं अल्लाह तआला की नियत की हुई है। उसने क़ुरआन में कहा है :

> "हमने जिस रसूल को भी भेजा इसी लिए भेजा कि अल्लाह के आदेशानुसार उसका आज्ञानुपालन किया जाए।" (क़ुरआन, 4:64)

फिर यह अनुपालन भी मात्र बाह्य रूप में ही नहीं होना चाहिए, बल्कि हार्दिक इच्छा के साथ होना चाहिए। अपने एक नबी (अर्थात् आख़िरी नबी हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा सल्ल.) की वस्तुतः आज्ञानुपालन का उल्लेख करते हुए अल्लाह ने फ़रमाया है :

"…….(ऐ नबी) तुम्हारा पालनकर्ता गवाह है कि ये लोग ईमानवाले नहीं हो सकते जब तक कि अपने आपस के झगड़ों में तुम्हें निर्णय करनेवाला न बनाएँ, और फिर तुम जो कुछ निर्णय करो उसपर अपने दिलों में कोई तंगी भी न पाएँ, बल्कि उसे पूरे तौर पर स्वीकार कर लें।" (क़ुरआन, 4:65)

और ऐसा होना हर हाल में ज़रूरी भी था। बुद्धि इसके अतिरिक्त एक नबी के लिए किसी और हैसियत की कल्पना ही नहीं कर सकती। इनसान यदि अल्लाह तआला की उपासना और उसके आदेशों के अनुपालन के लिए पैदा किया गया है और यदि इस बन्दगी का ढंग मालूम करने और उन आदेशों के जानने का एक मात्र साधन नबी ही है, तो नबी के पूर्ण आज्ञापालन और अनुवर्तन के बिना अल्लाह के आज्ञापालन और दासता की कोई सूरत सम्भव ही नहीं रह जाती। अगर रास्ता चले बिना आप मंज़िल तक नहीं पहुँच सकते और उड़ान-यंत्रों का प्रयोग किए बिना वायुयात्रा नहीं कर सकते, तो नबी की समस्त बातों के स्वीकार करने और उसके पीछे चले बिना अल्लाह की बन्दगी भी नहीं कर सकते। यही कारण है जो आप क़ुरआन मजीद में देखते हैं कि प्रत्येक नबी अपनी नुबूवत की उद्घोषणा करते हुए कहता है कि "अल्लाह का डर रखो और मेरा अनुसरण करो" (क़ुरआन 26:126)। यह वास्तव में उसकी ओर से इसी सच्चाई की उद्घोषणा होती है कि अल्लाह का डर व संयम और बन्दगी का मार्ग तुम्हें केवल मेरे अनुकरण के द्वारा ही मिल सकता है। मैं ही बता सकता हूँ कि तुम्हारे पालनकर्ता के आदेश क्या हैं और उन आदेशों को व्यावहारिक रूप कैसे दिया जाए और उनपर किस प्रकार चला जाए? यही कारण है कि क़ुरआन मजीद में अल्लाह तआला ने केवल अपनी ही आज्ञा का पालन कर देने पर बस नहीं किया, बल्कि जगह-जगह "अल्लाह का आज्ञापालन करो" के साथ "रसूल का आज्ञापालन करो" (क़ुरआन, 4:59) का आदेश भी दिया है।

फिर यह हक़ीक़त कि नबी 'दीन' (धर्म) व शरीअत की परिधि में जो कुछ कहता है वह सब-का-सब अल्लाह ही की ओर से होता है, नबी की इस हैसियत को और अधिक स्वीकार्य और आवश्यक बना देती है। क्योंकि इस सच्चाई के अन्तर्गत नबी का आज्ञापालन वस्तुत: अल्लाह का आज्ञापालन

बन जाता है। जैसा कि कहा भी गया है :

> "जो (अल्लाह के) रसूल की आज्ञा का पालन करता है वास्तव में वह अल्लाह का आज्ञापालन करता है।" (क़ुरआन, 4:80)

इसमें कोई संदेह नहीं कि जिसका आज्ञापालन वास्तव में अल्लाह का आज्ञापालन हो उसकी हैसियत ऐसे व्यक्ति की है जिसका पूर्णत: और बिना शर्त के आज्ञापालन किया जाना चाहिए।

मतलब यह कि रिसालत पर ईमान लाने का यह एक खुला हुआ बड़ा बुनियादी तक़ाज़ा है कि रसूल का पूर्णरूप से आज्ञापालन किया जाए, ऐसा आज्ञापालन जिसमें न कोई बंदिश तथा शर्त हो, न कोई बेदिली। जो व्यक्ति नबी का मक़ाम इससे नीचे समझता है, वह सही अर्थों में उसपर ईमान ही नहीं रखता और नहीं जानता कि नुबूवत किसे कहते हैं।

7. एक नबी का इनकार भी कुफ़्र है

रिसालत पर ईमान उस समय तक कुछ नहीं, जब तक कि सारे नबियों की रिसालतों पर ईमान न लाया जाए। क़ुरआन उन लोगों को मोमिन स्वीकार नहीं करता, जो कुछ नबियों को तो अल्लाह का रसूल मानते हों और कुछ को न मानते हों :

> "जो लोग अल्लाह का और उसके रसूलों का इनकार करते हैं और चाहते हैं कि अल्लाह और उसके रसूलों के बीच अन्तर करें और कहते हैं कि हम (रसूलों में से) कुछ को मानेंगे और कुछ को न मानेंगे और (इस प्रकार) चाहते हैं कि इनकार और ईमान के बीच की एक राह निकाल लें, निस्सन्देह वे पक्के अधर्मी हैं।" (क़ुरआन, 4:150-151)

इन शब्दों पर ठहरकर चिंतन कीजिए। ये स्पष्टत: परिघोषणा करते हैं कि किसी एक रसूल का भी इनकार परले दर्जे का इनकारी और अधर्मी बना देता है और इस एक इनकार की मौजूदगी में शेष सभी नबियों को स्वीकार करना भी कोई अर्थ व मूल्य नहीं रखता। बाह्य रूप में यह एक कठोर निर्णय मालूम

होता है, किन्तु सच्चाई की अपेक्षा यही थी कि निर्णय इसके अतिरिक्त कुछ और न हो, और एक नबी के इनकार को भी इससे निम्न श्रेणी का अपराध न ठहराया जाए। जब यह मालूम है कि चाहे कोई भी रसूल हो वह अल्लाह ही की ओर से आता है और उसी के आदेश लोगों को सुनाता है, दूसरे शब्दों में यह कि वह समस्त ब्रह्माण्ड के वास्तविक सत्ताधारी ही की ओर से नियुक्त किया हुआ प्राधिकृत हाकिम और शासक होता है, तो उसका इनकार वास्तव में उसका इनकार नहीं है बल्कि सम्पुर्ण ब्रह्माण्ड के शासक की अवज्ञा और नाफ़रमानी है। उसके विरुद्ध बग़ावत का एलान है और उसका इनकार व बग़ावत के एलान की मौजूदगी में दूसरे नबियों को स्वीकार करना बिलकुल ऐसा ही है जैसे किसी हुकूमत के नियुक्त किए हुए बहुत-से अधिकारियों को तो उसका प्राधिकृत हाकिम स्वीकार कर लिया जाए मगर फिर उसी हुकूमत के किसी एक अधिकारी को उसका प्रतिनिधि और प्राधिकृत हाकिम मानने से इनकार कर दिया जाए। यह शासन का आज्ञानुपालन तो न हुआ बल्कि अपने मत और इच्छा का आज्ञानुपालन हुआ। इसका अर्थ तो यह होगा कि जिन अधिकारियों को हुकूमत का प्रतिनिधि और प्राधिकृत हाकिम स्वीकार किया गया है उनका यह स्वीकार करना भी वास्तव में शासन के प्रति कर्त्तव्यानुपालन के अन्तर्गत नहीं, बल्कि अपने मन की इच्छा के कारण से है, इसलिए इस स्वीकृति का वास्तव में कोई मूल्य भी नहीं। अतः अल्लाह तआला ने उन लोगों को, जो किसी एक रसूल का इनकार करते हों, सारे रसूलों का इनकार करनेवाला घोषित किया है। उदाहरणार्थ — नूह (अलै.) की क़ौम के सम्बन्ध में उसने कहा कि "जब उन्होंने हमारे रसूलों को झुठलाया तो हमने भी उन्हें डुबो दिया।" (क़ुरआन, 25:37) यद्यपि घटना की वस्तुस्थिति के अनुसार उन्होंने केवल एक रसूल हज़रत नूह (अलै.) का इनकार किया था, शेष रसूलों की तो उनके समक्ष कोई बात ही न थी।

हमें अभी मालूम हो चुका है कि जो रसूल भी आता है इसी लिए आता है कि अल्लाह के आदेशानुसार उसका आज्ञानुपालन किया जाए तथा यह कि जो अल्लाह के रसूल का अनुपालन करता है वह वास्तव में अल्लाह का आज्ञानुपालन करता है।' जब वस्तुस्थिति यह है तो क्या इसका खुला हुआ अर्थ यह नहीं कि किसी रसूल को स्वीकार न करना वास्तव में अल्लाह की

आज्ञा को ठुकराना और अल्लाह के आज्ञापालन का इनकार है ? ऐसी स्थिति में एक रसूल का इनकार भी अधर्म व विद्रोह का आख़िरी दर्जा क्यों न होगा? और अल्लाह के एक-एक रसूल को सत्यनिष्ठ माने बिना ईमान का प्रमाण-पत्र (सनद) मिल जाना, नियम और न्याय की बात कैसे हो सकती है ?

हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) की रिसालत

रिसालत के सम्बन्ध में जो भी विवरण ऊपर की पंक्तियों में आ चुके हैं, उनमें रिसालत की धारणा का केवल सामान्य और मौलिक तथा सैद्धांतिक स्पष्टीकरण हुआ है न कि पूर्ण स्पष्टीकरण। इसलिए इस्लाम में रिसालत की धारणा का यही पूर्ण अर्थ नहीं होता और न केवल इन्हीं बातों का स्वीकार कर लेना इस्लामी रिसालत की धारणा को मान लेना है। इस्लामी रिसालत की धारणा का अभिप्राय जिस बात से पूरा होता है और अपने पूर्ण और स्पष्ट रूप में सामने आता है, वह यह है कि आख़िरी रसूल हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) का अनुसरण और आपकी लाई हुई शरीअत का अनुसरण दोनों को अनिवार्यत: स्वीकार किया जाए। अर्थात् सिद्धांत के अनुसार तो आप (सल्ल.) को भी उसी तरह अल्लाह का रसूल माना जाए जिस तरह दूसरे रसूलों को माना जाता है, और दूसरे रसूलों को भी इसी तरह अल्लाह के रसूल माना जाए जिस प्रकार कि आप (सल्ल.) को माना जाता है। किन्तु जहाँ तक व्यावहारिक अनुपालन का मामला है इसके लिए आप (सल्ल.) ही को नमूना बनाना चाहिए और इस विश्वास के साथ बनाना चाहिए कि अब आप (सल्ल.) ही का अनुसरण ज़रूरी है। दूसरे समस्त रसूल, अल्लाह के रसूल थे और आप (सल्ल.) भी अल्लाह के रसूल हैं। जब कोई व्यक्ति रिसालत की उपर्युक्त धारणा को सामान्य और मौलिक तथ्यों के साथ इस विशिष्ट सत्य को भी स्वीकार कर लेता है, तब जाकर वह रिसालत की इस्लामी धारणा पर ईमान लानेवाला कहलाता है।

मौलिक कर्म
(इस्लाम के आधारस्तम्भ)

धारणाओं के बाद स्वाभाविक तौर पर कर्म की बहस आती है। इसलिए इस्लाम की धारणाओं को जान लेने के बाद अब हमारी बुद्धि स्वयं ही इसके व्यावहारिक भाग की ओर मुड़ेगी और पूछेगी कि इन धाराणाओं के बाद वे कर्म कौन-से हैं जिनके करने का इस्लाम आदेश देता है? बाह्य रूप से यह एक बड़ा विस्तृत विषय है और इसके लिए जो बहस अपेक्षित है उसके पूरे फैलाव के सामने हज़ार पृष्ठ भी कोई हैसियत नहीं रखते, किन्तु जहाँ तक इस्लाम के सामान्य परिचय का सम्बन्ध है उसके लिए इतने लम्बे विस्तार में जाना कुछ ज़रूरी नहीं, बल्कि इतनी बात पर्याप्त है कि महत्त्वपूर्ण और स्पष्ट शरीअत के आदेशों का अवलोकन कर लिया जाए। इस्लाम के ये महत्वपूर्ण और स्पष्ट आदेश मौलिक रूप से दो प्रकार के हैं :

(1) एक वे जिनका महत्व अधिक बुनियादी क़िस्म का है और जिनका स्थान इस्लामी शिक्षाओं के अन्दर धारणाओं के ठीक बाद ही आता है।

(2) दूसरे वे जिनकी हैसियत इस दर्जे की नहीं है और जिनका स्थान बाद में आता है। स्वभावत: पहले उन्हीं आदेशों का अवलोकन किया जाना चाहिए जिनका महत्त्व अधिक और बुनियादी क़िस्म का है।

ऐसे कर्म कौन-से हो सकते हैं? इस सम्बन्ध में हमें अनुमान और अंदाज़े से काम लेने की ज़रूरत नहीं, क्योंकि नबी (सल्ल.) ने ऐसी चीज़ों की ओर स्वयं संकेत कर दिया है। आप (सल्ल.) का सुप्रसिद्ध कथन है –

> ''इस्लाम का निर्माण पाँच चीज़ों पर हुआ है, इस बात की गवाही देना कि अल्लाह के अतिरिक्त कोई पूज्य नहीं है, और यह कि मुहम्मद अल्लाह के रसूल हैं, नमाज़ का आयोजन करना, ज़कात देना, हज करना और रमज़ान के रोज़े रखना।'' (हदीस : बुख़ारी, भाग-1, किताबुल-ईमान)

एक और रिवायत से मालूम होता है कि आप (सल्ल.) ने "इस्लाम का निर्माण पाँच चीज़ों पर हुआ है" के बाद यह फ़रमाया – "इस्लाम का निर्माण पाँच आधार स्तम्भों पर हुआ है।"

भवन के आधार स्तम्भ न तो पूर्ण भवन होते हैं, न भवन से अलग कोई चीज़ होते हैं, बल्कि दूसरी चीज़ों की तरह वे भी पूरे भवन के भाग होते हैं किन्तु इमारत के दूसरे हिस्सों के और उन आधार स्तम्भों के बीच एक बड़ा अंतर होता है। अर्थात, दूसरे हिस्सों की तुलना में उन्हें एक विशिष्टता प्राप्त होती है और वह यह कि ये भी यद्यपि स्वयं पूर्ण भवन होने के बजाय उसका एक भाग ही होते हैं, मगर ऐसे भाग होते हैं जिनपर शेष भागों का अस्तित्व और उनकी स्थिरता निर्भर होती है। इसलिए तौहीद व रिसालत की गवाही, नमाज़, ज़कात, हज और रोज़े के 'इस्लाम के आधार स्तम्भ' होने का अर्थ यह है कि –

(1) जिस प्रकार किसी भवन के स्तम्भों को बना लेने से पूर्व आप उसपर कोई दूसरा निर्माण नहीं कर सकते, ठीक उसी प्रकार इन पाँचों को पूरा किए बग़ैर इस्लाम धर्म की अन्य शिक्षाओं पर अमल नहीं किया जा सकता और अगर कोई अमल किया जाएगा, तो वह वास्तव में अमल का केवल नाम होगा, वस्तुतः अमल न होगा।

(2) अगर ये पाँचों स्तम्भ ठीक तौर से स्थापित हो जाते हैं तो शेष कामों का पूर्ण हो पाना बिलकुल संभावित है, बल्कि लगभग अनिवार्य और ज़रूरी होगा। यही कारण है कि एक दूसरी हदीस में केवल इन्हीं चीज़ों को 'इस्लाम' कहा गया है। फ़रमाया :

> "इस्लाम यह है कि तुम गवाही दो कि अल्लाह के अतिरिक्त कोई पूज्य नहीं और मुहम्मद (सल्ल.) अल्लाह के रसूल हैं, नमाज़ क़ायम करो, ज़कात दो, रमज़ान के रोज़े रखो और काबा तक की यात्रा की सामर्थ्य रखने की स्थिति में उसका हज करो।"
>
> (हदीस : मुस्लिम– भाग-1, किताबुल-ईमान)

यद्यपि पिछली हदीस में इन्हें 'इस्लाम' नहीं बल्कि 'इस्लाम के स्तम्भ'

कहा गया था। इसलिए अब इन्हें 'इस्लाम' कहे जाने का स्पष्टतः अर्थ यह होगा कि ये पाँचों कर्म धर्म के ऐसे मौलिक कर्म हैं कि इनका अस्तित्व में आ जाना वास्तव में पूरे इस्लाम के अस्तित्व में आ सकने की ज़मानत है। इस प्रकार वे इस्लाम का केवल एक अंश होते हुए भी मानो पूरा इस्लाम हैं।

ये कर्म इस्लाम के स्तम्भ और लाक्षणिक अर्थ में पूरा इस्लाम क्यों और किस प्रकार हैं, यह बात इनके विवरण पर ग़ौर करने से स्वयं स्पष्ट हो जाएगी, जो आगे आ रहा है-

इन कर्त्तव्यों (कर्मों) के नियत हो जाने के बाद, जिनको शरीअत के सारे कर्मों में प्राथमिकता और सबसे अधिक मौलिक महत्व प्राप्त है, उनके सम्बन्ध में क़ुरआन और हदीस के विस्तृत वक्तव्य सुनिए —

1. तौहीद और रिसालत को मानना और एलान करना

जहाँ तक तौहीद, मुहम्मद (सल्ल.) की रिसालत की गवाही और उसके मानने का सम्बन्ध है, यह एक ऐसा कर्म है, जो केवल ज़बान से पूरा होता है। देखने में यद्यपि यह गवाही केवल तौहीद और हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) की रिसालत की गवाही है, किन्तु वास्तव में यह पूरे रिसालत के सिलसिले की, तमाम आसमानी किताबों की, फ़रिश्तों की, आख़िरत की और तक़दीर की, अर्थात् तमाम उन चीज़ों की जिन पर ईमान लाना अनिवार्य है, की गवाही है। क्योंकि जो व्यक्ति मुहम्मद (सल्ल.) के नबी होने की गवाही देगा वह आप से आप उन समस्त अनदेखी सच्चाइयों को सत्य माननेवाला समझा जाएगा जिनकी आप (सल्ल.) ने सूचना दी है।

अल्लाह की तौहीद और आप (सल्ल.) की रिसालत पर दिल से विश्वास करना एक बात है, और इस विश्वास के अनुसार इन धारणाओं को ज़बान से भी सत्य कहना अन्य बात है। उपरोक्त हदीसें बताती हैं और विद्वानों ने इस बात को भी स्पष्ट किया है कि मुस्लिम तथा मोमिन होने के लिए केवल दिल की तसदीक़ काफ़ी नहीं है, बल्कि ज़बान की तसदीक़ भी अनिवार्य है। इसके बिना किसी का इस्लाम विश्वसनीय न होगा। ज़बान से स्वीकार करने

और अभिव्यक्त करने का महत्त्व इतना ज़्यादा इसलिए है कि इस्लाम — जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट होगा — कोई ऐसा 'दीन' नहीं है जो कानों में बातें करता हो और जिसकी अपेक्षाएँ कानों में पूरी हो जाती हों, बल्कि ऐसा धर्म है जो मानव को ऊँचाइयों से सम्बोधित करता है, और उसे जीवन के कोलाहलों के ठीक बीच में ला खड़ा करता है, सत्य व असत्य के निरन्तर संघर्ष में डाले रखता है और अधर्म तथा अवज्ञा के विरुद्ध एक कभी समाप्त न होनेवाले मोर्चे पर उसकी नियुक्ति करता है। जब वस्तुस्थिति यह थी, तो बिलकुल अनिवार्य था कि वह अपने अनुयायियों से अपनी हैसियत की उच्च स्वर में उद्घोषणा कर देने की माँग करे और उन्हें पहले दिन से ही पूरे संसार को यह साफ़-साफ़ बता देने का आदेश दे कि हम इस दल के सदस्य और इस मोर्चे के सैनिक हैं और वही कुछ करने का दृढ़संकल्प लेकर जीवन के मैदान में उतर रहे हैं, जिसकी हमारी ये धारणाएँ अपेक्षाएँ करती हैं। इस पहलू से ग़ौर कीजिए तो स्वीकार करना पड़ेगा कि इस्लामी धारणाओं का स्पष्टत: इक़रार और उद्घोषणा भी स्वयं अपनी ज़गह बड़ी महत्त्व रखती है।

सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से देखिए तो इस इक़रार और उद्घोषणा का एक और भी बड़ा महत्त्व दिखाई देगा। जो व्यक्ति अपनी ज़बान से — "ला इला-ह इल्लल्लाहु, मुहम्मदुर्रसूलुल्लाह" कहता है, वह चाहे इसकी व्यावहारिक अपेक्षाओं को पूरा न करता हो, यहाँ तक कि दिल में इसपर विश्वास भी न रखता हो, (क्योंकि दिल का हाल सिर्फ़ अल्लाह ही जानता है।) फिर भी वह मुस्लिम समाज का एक व्यक्ति व सदस्य समझा जाएगा, और राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से उसे वही अधिकार प्राप्त होंगे जो एक मुसलमान को प्राप्त हुआ करते हैं। किन्तु यदि कोई व्यक्ति ज़बान से यह स्वीकार व उद्घोषणा नहीं करता तो चाहे दिल में इसपर कितना ही गहरा यक़ीन क्यों न रखता हो, वह मुसलमान न माना जाएगा। बल्कि उसकी गणना ग़ैर मुस्लिमों में होगी। राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से उसके साथ वही नीति अपनाई जाएगी, जो एक ग़ैर-मुस्लिम के साथ अपनानी चाहिए, न कि वह नीति जो एक मुसलमान के साथ अपनाई जाती है।

जिस व्यक्ति ने इस्लामी धारणाओं (आस्थाओं) को दिल से सच्चा मान

लिया, उसने इस्लाम की बुनियाद जमा ली, और फिर जब उसने अपने दिल की यह बात ज़बान से भी कह दी और दुनिया के समक्ष इसके यथार्थ होने की गवाही दे दी, तो अब उसने अपने धर्म (दीन) का पहला स्तम्भ तैयार कर लिया।

2. नमाज़

इस्लाम-धर्म में नमाज़ का महत्त्व

इस्लाम का दूसरा स्तम्भ नमाज़ है। यह व्यावहारिक स्तम्भों में सर्वप्रथम है और धर्म में इसको जो स्थान प्राप्त है, वह किसी भी दूसरे कर्म को प्राप्त नहीं है। एक सच्चे मुसलमान का प्रत्येक कार्य अल्लाह की बन्दगी (आज्ञानुपालन) का काम होता है, किन्तु नमाज़ जैसी बन्दगी की शान किसी काम में नहीं पाई जाती। नमाज़ का अन्तर ही नहीं उसका बाह्य रूप भी सर्वथा बन्दगी होता है। नमाज़ की मुद्राओं को देखिए और उसकी दुआओं (प्रार्थनाओं), तस्बीहों (अल्लाह के गुणगान) और क़ुरआन पाठ पर ग़ौर कीजिए। विनम्रता और नमन के प्रदर्शन का कोई सम्भावित रूप नहीं जो नमाज़ के बाह्य या उसके अन्तर में मौजूद न हो। यह सीने पर हाथ बाँधे और आँखें झुकाए आदरपूर्वक खड़ा होना, यह पीठ के बल झुक जाना, यह ज़मीन पर अपना मस्तक रख देना, यह मुख से अल्लाह की स्तुति के, महिमा के, महानता के, एकत्व शब्दों, (तौहीद के कलेमात) का निरंतर उच्चारित रहना और यह दिल का अल्लाह के भय, गौरव और प्रेम के भाव से परिपूर्ण रहना — क्या कुछ नहीं है? आख़िर बन्दगी की कौन-सी अदा है जिससे यह नमाज़ ख़ाली हो। क़ुरआन व हदीस का अध्ययन कीजिए तो नमाज़ के महत्त्व और उसके उत्तम गुणों से उनके पृष्ठ भरे नज़र आएँगे। उनमें की कुछ स्पष्ट चीज़ ये हैं –

1. नमाज़ ही ईमान का सबसे पहला व्यावहारिक प्रतीक है। अभी उपरोक्त हदीसों में आपने देखा कि ईमान की गवाही देने के बाद सबसे पहले जिस चीज़ का उल्लेख किया गया है वह यही नमाज़ है। यह मानो इस बात का संकेत है कि यदि मानव के अन्दर ईमान मौजूद हो और अल्लाह के

ईश्वरत्व और अपनी दासता पर उसे विश्वास हो तो यह विश्वास सबसे पहले नमाज़ की शक्ल अपनाता है। यह बात केवल इन्हीं दो हदीसों में नहीं पाई जाती, बल्कि लगभग प्रत्येक उस हदीस में दिखाई देती है जिसमें धर्म के आधारभूत कर्म गिनाए गए हैं।

इसी प्रकार क़ुरआन मजीद को देखिए तो वह भी जगह-जगह ईमान के बाद सबसे पहले नमाज़ ही का नाम लेता नज़र आएगा। उदाहरणार्थ —

"और वे लोग जो ईमान लाए और जिन्होंने अच्छे कर्म किए और नमाज़ क़ायम की...." (क़ुरआन, 2:277)

"और वे लोग जिन्होंने अल्लाह की किताब को मज़बूती से पकड़ लिया और नमाज़ क़ायम की।" (क़ुरआन, 7:170)

"तो वह न ईमान लाया और न उसने नमाज़ पढ़ी।" (क़ुरआन, 75:31)

इस वर्णनशैली से क़ुरआन वास्तव में यही बताना चाहता है कि दिल में अगर ईमान का बीज पड़ चुका हो तो उससे कर्म (अमल) का जो पहला पौधा निकलेगा, वह नमाज़ का पौधा होगा।

2. केवल यही नहीं कि नमाज़ ईमान का सबसे पहला प्रतीक है, बल्कि वह ईमान का अपरिहार्य प्रतीक भी होती है। यह सम्भव नहीं कि दिल में ईमान तो हो किन्तु सिर में रुकूअ और सजदे की तड़प न हो। ईमान हृदय के एक भाव का नाम है, यही भाव है जो प्रत्यक्ष में नमाज़ का रूप धारण कर लेता है। इसलिए जहाँ ईमान हो वहाँ नमाज़ होगी, ठीक उसी तरह जिस तरह कि जहाँ सूरज निकला हुआ होता है वहाँ प्रकाश और ताप अनिवार्यत: होता है। यह बात कि नमाज़ ईमान का अनिवार्य अंग है, नबी (सल्ल.) के कथित स्पष्ट शब्दों से सिद्ध होती है, कोई कल्पना नहीं है। आप (सल्ल.) फ़रमाते हैं :

"जिसने जान-बूझकर कोई फ़र्ज़ नमाज़ छोड़ दी अल्लाह पर उसकी कोई ज़िम्मेदारी नहीं है।" (हदीस : मुसनद अहमद, भाग-5, पृ.-238)

"निस्सन्देह इनसान और शिर्क व कुफ़्र के बीच अलाहदगी पैदा करनेवाली चीज़ नमाज़ है।" (हदीस : मुस्लिम, भाग-1)

इसी प्रकार क़ुरआन मजीद में आया है कि क़ियामत के दिन दोज़ख़ (नरक) वालों से फ़रिश्ते जब यह पूछेंगे कि "तुम्हें जहन्नम में किस चीज़ ने डाला है?" (क़ुरआन, 74:42) तो उनके उत्तर के आरम्भिक शब्द ये होंगे — "हम नमाज़ियों में से न थे," (क़ुरआन, 74:43)। इससे मालूम हुआ कि नमाज़ी होना और एक ख़ुदा का उपासक होना मानो एक बात है। क्योंकि यह एक जानी-बूझी हक़ीक़त है कि जन्नती और दोज़ख़ी होना ईमान और कुफ़्र (इनकार) पर निर्भर करता है। अब अगर दोज़ख़ी अपने दुष्परिणाम से दो-चार हो जाने के बाद यह कहते हैं कि हम नमाज़ न पढ़ने के कारण नरक में डाले गए हैं, तो यह इस बात की दलील है कि क़ियामत के दिन ईमान और नमाज़ एक-दूसरे के पूरक होने की हैसियत से प्रकट होंगे। तभी तो वह उत्तर में "हम मोमिन न थे" के बजाय "हम नमाज़ी न थे" के शब्दों से अपनी बात आरम्भ करेंगे।

3. नमाज़ का एक और बड़ा महत्त्व क़ुरआन और हदीस से यह भी साबित होता है कि वह पूरे इस्लामी-विधान का अनुकरण करने की भावना का मुख्य स्रोत भी है और उसकी संरक्षक भी। वह अगर अदा होगी, तो शरीअत के शेष आदेशों का भी निर्वाह हो सकेगा। किन्तु यदि उसका हक़ अदा न हुआ तो शेष शरीअत (इस्लामी विधान) भी ग़फ़लत की भेंट चढ़ जाने से न बच सकेगी। यूँ समझिए कि शरीअत के समस्त आदेशों में नमाज़ को वही स्थान प्राप्त है जो मानव-शरीर में हृदय का स्थान होता है। हृदय में यदि, कंपन, ताप और जीवन मौजूद हो तो शरीर के अन्य सभी अंगों तक रक्त-संचार होता रहता है तथा वे जीवित रहते हैं। जिस समय यह हृदय अपनी गति और जीवन खो देता है, उस समय दूसरे अंग भी ठण्डे और निर्जीव होकर रह जाते हैं। नमाज़ की इस हैसियत के सम्बन्ध में क़ुरआन मजीद ने कई जगह संकेत किए हैं और नबी (सल्ल.) ने भी स्पष्ट किया है। अतएव, उपरोक्त हदीस में जहाँ आप (सल्ल.) को यह कहते सुना जा चुका है कि "इस्लाम का निर्माण पाँच स्तम्भों पर हुआ है।" वहीं आप (सल्ल.) के ये शब्द भी मौजूद हैं कि "दीन (इस्लाम धर्म) का स्तम्भ मात्र नमाज़ है।"

" धर्म का मूल सार, इस्लाम (अर्थात् तौहीद, रिसालत और आख़िरत का

स्वीकार करना) है और उसका स्तम्भ नमाज़ है।''

(हदीस : तिरमिज़ी, भाग-2, बाबुल-ईमान)

यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि नमाज़ ही की तरह दीन के स्तम्भ यद्यपि ज़कात और हज और रोज़ा भी हैं और उनके बिना इस्लाम की इमारत बन नहीं सकती, किन्तु इसपर भी नमाज़ को एक ऐसा विशिष्ट और अनुपम स्पष्ट महत्त्व प्राप्त है जिसके कारण वह एकमात्र भी धर्म का स्तम्भ कही जा सकती है। अगर वह है तो मानो पूरा धर्म मौजूद है, वह अगर नहीं है तो पूरे धर्म का लोप हो गया।

हज़रत उमर (रज़ि.) अपने शासन के कर्मचारियों को एक लिखित निर्देश देते हुए कहते हैं –

> ''निस्सन्देह मेरी दृष्टि में समस्त बातों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात नमाज़ है। जिसने अपनी नमाज़ की रक्षा की और उसका पूरा-पूरा हक़ अदा किया उसने अपने पूरे धर्म को सुरक्षित कर लिया, और जिसने अपनी नमाज़ को विनष्ट कर दिया वह शेष चीज़ों को और अधिक विनष्ट करके रहेगा।'' (हदीस : मुवत्ता, इमाम मालिक)

नमाज़ को यह महत्त्व क्यों प्राप्त है?

इसमें कोई संदेह नहीं कि क़ुरआन व हदीस के जो साक्ष्य अभी हमारे सामने आए हैं, उनसे नमाज़ का स्थान यही साबित होता है। इस क्रम में बुद्धि स्वाभाविक रूप से यह सवाल कर सकती है कि आख़िर नमाज़ को यह स्थान क्यों प्राप्त है? क्या बात है कि वह शरीअत का एक अंश होते हुए भी मानो पूरी शरीअत है तथा एक कर्म होते हुए भी मानो असल ईमान है? इस सवाल का जवाब एक और सवाल के जवाब से मिल सकेगा और वह यह कि ख़ुद यह नमाज़ क्या चीज़ है और इसकी वास्तविकता क्या है? क़ुरआन मजीद बताता है कि नमाज़ अल्लाह की याद का नाम है।

> ''मेरी याद के लिए नमाज़ क़ायम करो।'' (क़ुरआन, 20:14)

और यह कि नमाज़ बंदे को अपने पालनकर्ता से निकट कर देती है — "सजदा करो और निकट हो जाओ" (96:19) – इतना निकट कर देती है कि इतना सामीप्य किसी भी दूसरे कर्म के द्वारा और किसी भी दूसरी स्थिति में उसे प्राप्त नहीं हो सकता।

> " बंदा सबसे अधिक अपने रब से क़रीब उस समय होता है, जबकि वह सजदे में होता है।" (हदीस : मुस्लिम)

यहाँ तक कि वह उस समय अल्लाह के सिवा हर एक से कटकर अपने स्वामी के समक्ष जा पहुँचता है और उससे वार्तालाप करने में व्यस्त होता है।

> "तुममें से कोई जब नमाज़ में खड़ा होता है, तो वास्तव में वह अपने 'रब' से चुपके-चुपके बातें करता है।" (हदीस : बुख़ारी, किताबुस्सलात)

अल्लाह की याद, उसका सामीप्य, रब के समक्ष उसकी उपस्थिति और उससे वार्तालाप — क्या धर्म की आत्मा और बन्दगी का उत्कर्ष इन चीज़ों के अतिरिक्त और भी कुछ हो सकता है ? स्पष्ट है कि नहीं, और कदापि नहीं। ईशपरायण कर्म ईमान ही का फल होता है और ईमान की जड़ों को नमी और ताज़गी सिर्फ़ अल्लाह की याद से ही मिलती है, जैसा कि फ़रमाया गया है कि "ला इला-ह इल्लल्लाह" के जाप से अपने ईमान को ताज़ा करते रहो।

(हदीस : मुस्नद अहमद, भाग 2, पृ.259)

जिस पेड़ की जड़ों को नमी और ताज़गी न पहुँचती हो वह सूखने लगता है और फूलना-फलना बन्द कर देता है। इसलिए जिस व्यक्ति का दिल अल्लाह की याद से ग़ाफ़िल हो, उसका ईमान अनिवार्यत: मुरझाकर रह जाएगा, और जिसका ईमान मुरझा गया हो उसका कर्म नेकी और ईश-भय (ख़ुदा के डर) का कर्म नहीं हो सकता। ऐसा कर्म अगर हो सकता है तो मात्र ऐसे ही व्यक्ति का हो सकता है, जिसके अन्दर ईमान की ताज़गी मौजूद हो, और ईमान उसी व्यक्ति का ताज़ा रह सकता है, जिसके दिल में अल्लाह की याद घर किए हो। नमाज़ न केवल यह कि अल्लाह की याद है, बल्कि उसकी याद का सब से बेहतर, सबसे पूर्ण और सबसे अधिक प्रभावकारी रूप है। इसलिए नेकी और ख़ुदापरस्ती की धारणा को नमाज़ पर निर्भर होना ही चाहिए।

इस वस्तुस्थिति को एक उदाहरण से समझिए — बादशाह का जो दरबारी उसके सामने हिदायत के उपरांत उपस्थित नहीं होता और अगर उपस्थित होता भी है तो हार्दिक सम्मान और श्रद्धा के साथ नहीं होता, उससे यह आशा रखना निरर्थक होगा कि वह शाही आदेशों का पालन करेगा और दिल व जान से उसका वफ़ादार रहेगा। यह आशा अगर रखी जा सकती है तो उसी व्यक्ति से रखी जा सकती है जो, शाही दरबार में हाज़िर होने, सलामियाँ देने और आदाब बजा लाने से बेपरवाह न रहता हो। ज़ाहिर बात है, जो व्यक्ति आपके सामने आकर आपसे प्यार और वफ़ादारी का प्रदर्शन भी नहीं कर पाता वह आपके आदेशों और इच्छाओं की ख़ातिर अपना ख़ून तो क्या, पसीना भी न बहा सकेगा। नमाज़ स्पष्टत: अल्लाह के दरबार की हाज़िरी, सलामी और वफ़ादारी की प्रतिज्ञा है। जो व्यक्ति इस हाज़िरी और सलामी के लिए भी दिल से तत्पर न रहता हो, वह जीवन के विस्तृत मैदान में पग-पग पर उसके कठिन आदेशों की क्या पैरवी कर सकेगा ?

नमाज़ के कुछ गौण उद्देश्य

नमाज़ का असल महत्त्व और उसकी वास्तविक महानता तो वही है जो ऊपर की वार्ता में मालूम हो चुकी है। किन्तु वह अपने दामन में बहुत-सी कल्याणकारी गौण उपलब्धियाँ भी रखती है। ये कल्याणकारी उपलब्धियाँ नमाज़ के मूलोद्देश्य की अपेक्षा तो निश्चय ही गौण हैं किन्तु इसके होते हुए भी वह अपने आप में अत्यंत महत्वपूर्ण और मूल्यवान हैं और मानव को सही इस्लामी मानसिकता और अपेक्षित इस्लामी जीवन प्रदान करने में उत्कृष्ट स्थान रखती हैं। इसलिए उनका जान लेना भी अनिवार्य है। नमाज़ की इन 'कल्याणकारी गौण उपलब्धियों को उसका' 'गौण उद्देश्य' कहना अधिक उचित होगा। उनमें से कुछ ये हैं :–

1. इस्लाम अपने अनुयायियों को हिदायत करता है कि उन सभी के अन्दर एक ही मिशन के ध्वजावाहक होने की गहरी चेतना पाई जानी चाहिए और इस उद्देश्य के लिए अनिवार्य है कि वे एक सुव्यवस्थित सामूहिक जीवन व्यतीत करें। उनका एक अमीर (अध्यक्ष) हो, जो शरीअत के

आदेशों का स्वयं पालन करे और पूरे समाज को उसका पालन कराए। शरीअत पर आधारित व्यवस्था स्थापित करे। लोग एक सुव्यवस्थित और प्रशिक्षण प्राप्त सेना की तरह हों और यह उनका सेनापति हो। वह उन्हें जब गतिशील होने को कहे तो गतिशील हो जाएँ और जब ठहरने को कहे तो ठहर जाएँ। नमाज़ अनुशासान और आज्ञापालन का ठीक ऐसा ही परिपक्व स्वभाव पैदा करती है। अज़ान होते ही लोग अपने घरों, दुकानों और खेतों से चल खड़े होते हैं। सभी का रुख़ मसजिद की ओर हो जाता है। यहाँ आकर सब के सब एक इमाम के पीछे तीर के समान पंक्तिबद्ध हो जाते हैं। इमाम के साथ-साथ और इशारों पर सबके सब एक साथ उठते, एक साथ बैठते और एक साथ झुकते हैं। मजाल नहीं कि कोई व्यक्ति इमाम के इस अनुसरण के प्रति मन या व्यवहार में तनिक भी बेपरवाही दिखाए। और यह सब कुछ अल्लाह का आदेश, धर्म का अनिवार्य कर्त्तव्य और आख़िरत का कर्म समझकर किया जाता है। क्या सुव्यवस्था, अनुशासन और आज्ञानुपालन का इससे अच्छा मानसिक और व्यावहारिक प्रशिक्षण और किसी प्रकार से हो सकता है, जो नमाज़ के द्वारा होता है ?

2. इसी प्रकार इस्लाम अपने अनुयायियों में आत्यांतिक प्यार और बन्धुत्व देखना चाहता है। वह सच्चा मोमिन होने की पहचान यह बताता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मुस्लिम भाई के लिए भी वही पसन्द करे जो वह स्वयं अपने लिए पसन्द करता है। नमाज़ प्यार और बन्धुत्व की इस भावना को पूरी शक्ति से पैदा करती और उसे बराबर आहार प्रदान करती रहती है। मुहल्ले और बस्ती-भर के मुसलमान जब अपने पालनकर्ता के दरबार में उपस्थित होते हैं तो उनके केवल क़दम और कंधे ही परस्पर मिले हुए नहीं होते, बल्कि एक प्रकार से उनके दिल भी आपस में मिले हुए होते हैं। वह अपने परवरदिगार से मात्र अपने ही व्यक्तित्व के लिए दुआएँ और प्रार्थनाएँ नहीं करते, बल्कि सभी के लिए करते हैं। सभी के लिए हिदायत माँगते हैं, सभी के लिए मग़फ़िरत (मोक्ष) चाहते हैं, सभी के लिए मदद माँगते हैं। क्या अन्य ख़ुदा के बन्दों

से बन्धुत्व और प्रेम का हक़ अदा करने की कोई इससे भी उच्चतर रीति हो सकती है कि इनसान अपने स्वामी से कृपादृष्टि की विनय-भाव से प्रार्थनाएँ करते समय भी उन्हें न भूले और उन विशिष्ट घड़ियों में भी बराबर पुकारता रहे कि " ऐ ख़ुदा! हम सबको सीधी राह दिखा।" (क़ुरआन 1:5)। "हम सबपर और अल्लाह के समस्त नेक बन्दों पर सलामती हो," "हम सबको दुनिया में भी भलाई प्रदान कर और आख़िरत में भी" (क़ुरआन 2:201)। दुनिया ने आपस के अत्यन्त बढ़े हुए प्रेम का जो ऊँचे से ऊँचा मापदण्ड सोचा होगा, विश्वास रखना चाहिए कि वह इस मापदण्ड से बहरहाल नीचा ही होगा।

3. इस्लाम समस्त मानवजाति को एक ही स्वामी की ग़ुलाम और एक ही माता-पिता की सन्तान बताता है और हिदायत करता है कि तुम सब अपने को ऐसा ही समझो–

"ऐ अल्लाह के बन्दो! आपस में भाई-भाई बनकर रहो।"

(हदीस : मुस्लिम, भाग-2)

कोई किसी को नीच और तुच्छ न समझे। वर्ण, जन्मभूमि, वंश और धन-सम्पत्ति के आधार पर कोई उच्च और कोई अधम नहीं हुआ करता। उच्चता यदि किसी को मिल सकती है तो मात्र सत्कर्म और ईशभय (ख़ुदा के डर) ही के आधार पर मिल सकती है।

"बस धर्म और ईशभय के आधार पर" (हदीस : अहमद, बैहक़ी)

नमाज़ इस सत्य बोध को अपने बाह्य रूप से भी जाग्रत करती रहती है और अपने अन्तर से भी। बाह्य में इस तरह कि नमाज़ में न कोई बन्दा (दास) रह जाता है और न कोई बन्दा-नवाज़ (स्वामी)। फ़ारूक़े-आज़म (दूसरे ख़लीफ़ा) और एक हब्शी ग़ुलाम दोनों कंधे-से-कंधा मिलाकर एक ही पंक्ति में खड़े होते हैं। एक ही प्रार्थना-स्थली होती है, जिसपर सबकी पेशानियाँ पड़ी होती हैं। अन्तःकरण से इस प्रकार कि नमाज़ के अंदर सभी के दिलों में बलंदी व पस्ती की एक ही धारणा बनी रहती है और वह यह कि समस्त बड़ाइयों का मालिक सिर्फ़ अल्लाह है और कोई नहीं जिसे वास्तविक बड़ाई का कोई

मामूली हिस्सा भी प्राप्त हो। हममें से प्रत्येक की हैसियत अगर कुछ है तो मात्र दास और ग़ुलाम होने की है। जिस व्यक्ति को उसकी नमाज़ उसकी हैसियत का यह एहसास दिलाती रहेगी वह वंश, वर्ण या धन-संपत्ति की मरीचिका से कभी धोखा नहीं खा सकता, न दूसरों के मुक़ाबले में अपने को ऊँचा समझ सकता है।

अभीष्ट नमाज़

जिस नमाज़ के ये मौलिक और गौण उद्देश्य व लाभ हैं और जिस नमाज़ का इस्लाम ने आदेश दिया है उसे भी भली प्रकार जान लेना चाहिए। क्योंकि हर नमाज़ 'नमाज़' नहीं होती, जिस तरह कि हर इनसान 'इनसान' नहीं होता। जिस नमाज़ का अल्लाह ने हुक्म दिया है और जो नमाज़ धर्म (दीन) का स्तम्भ ही नहीं बल्कि महा स्तम्भ है, वह अस्तित्व में आती ही नहीं जब तक कि उसे ठीक तौर से अदा न किया जाए। "ठीक तौर से अदा करने" के लिए क़ुरआन और हदीस ने एक विशेष शब्द प्रयोग किया है और वह है —'इक़ामत' अर्थात 'नमाज़ क़ायम करने' का शब्द। जैसा कि ऊपर उल्लिखित हदीसों में आप अभी देख आए हैं और क़ुरआन मजीद में जगह-जगह इस शब्द को प्रयुक्त होते देखा जा सकता है। नमाज़ क़ायम करने का अर्थ दो शब्दों में यह है कि उसे समस्त बाह्य नियमों और आध्यात्मिक गुणों के साथ अदा किया जाए। इन नियमों और गुणों की पूरी व्याख्या क़ुरआन व हदीस और अन्य इस्लामी धर्मशास्त्रों में प्रत्येक खोज करनेवाले को सहज ही मिल जाएगी। संक्षिप्त शब्दों में यह समझें कि वही नमाज़ 'क़ायम की हुई नमाज़' होती है, जो ठीक समय पर और जमाअत के साथ पढ़ी गई हो। ठहर-ठहरकर और नियमानुसार अदा की गई हो, जिसमें क़ुरआन का पाठ शुद्ध उच्चारण के साथ धीरे-धीरे और इत्मीनान के साथ किया गया हो और अल्लाह की ओर ध्यान लगाने का पूरा-पूरा प्रावधान किया गया हो। क़ियाम और रुकूअ व सजदे लम्बे किए गए हों। शरीर पर शिष्टता और विनम्रता का भाव छाया हुआ हो और इन सभी बातों से बढ़कर यह कि दिल अल्लाह की याद में खोया हुआ, उसके भय से भरा हुआ और उसके प्रति

विनम्रभाव में डूबा हुआ हो। जिस नमाज़ में इन बातों का पूरा ध्यान रखा जाएगा, सही अर्थों में वही नमाज़, नमाज़ होगी और वह उतनी ही मेयारी होगी जितनी कि उसमें ये विशेषताएँ मौजूद होंगी। जिस नमाज़ में ये गुण निम्नतम स्तर पर भी न होंगे वह देखने में नमाज़ हो तो हो, किन्तु वस्तुत: नमाज़ हरगिज़ न होगी। इससे वे फ़ायदे कभी हासिल न हो सकेंगे, जो नमाज़ के फ़ायदे हैं। इस प्रकार की नमाज़ की हैसियत इस्लाम में ऐसी होगी जैसे किसी क़िले की सुरक्षा के लिए मज़बूत चारदीवारी (फ़सील) बनाने के बजाय रेत की दीवार खड़ी कर दी जाए।

ऊपर नमाज़ के जो वास्तविक और गौण लाभ बयान किए गए हैं, उनकी हैसियत मात्र यही नहीं है कि वे नमाज़ के लाभ हैं, बल्कि यह भी है कि वे ही नमाज़ की कसौटी भी हैं। उन्हीं को सामने रखकर मालूम किया जा सकता है कि हमारी नमाज़ों में नमाज़ की आत्मा कितनी मौजूद है और वे नमाज़ें किस सीमा तक 'क़ायम' की जा रही हैं ? इस बात का मालूम हो जाना वास्तव में यह मालूम हो जाना भी है कि हमारी ये नमाज़ें हमारे इस्लाम का वास्तव में स्तम्भ बन सकती हैं या नहीं और अगर बन सकती हैं तो किस हद तक बन सकती हैं ?

3. ज़कात

ज़कात का महत्त्व

इस्लाम का तीसरा स्तम्भ 'ज़कात' है। जैसाकि बताया जा चुका है कि शरीअत में किसी कर्म को वह महत्त्व प्राप्त नहीं जो नमाज़ को प्राप्त है। इसलिए यह तो किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता कि ज़कात भी इस्लाम धर्म में ठीक वही हैसियत रखती है, जो नमाज़ की है। किन्तु इसके बारे में क़ुरआन व हदीस के अन्दर जो कुछ कहा गया है, उसपर नज़र डालिए तो इसका मक़ाम नमाज़ के मक़ाम से बस एक ही दर्जा कम दिखाई देगा। उदाहरण के तौर पर दो बातों को देखिए–

(1) क़ुरआन मजीद में अधिकतर स्थान पर ईमान के बाद मात्र दो

सत्कर्मों का उल्लेख मिलता है। पहला नमाज़ का तथा दूसरा ज़कात का। अर्थात् जब क़ुरआन संक्षिप्त रूप में एक आदर्श मोमिन का चित्र सामने लाना चाहता है तो वह साधारणत: इस प्रकार के शब्द प्रयोग करता है –

"निस्सन्देह वे लोग, जो ईमान लाए और जिन्होंने अच्छे कर्म किए— नमाज़ क़ायम की और ज़कात दी — उनके लिए उनके पालनकर्ता के पास प्रतिदान होगा।" (क़ुरआन, 2:277)

यद्यपि नमाज़ और ज़कात के अतिरिक्त बहुत-से अच्छे कर्म और भी हैं, जिनका वुजूद आदर्श मोमिन व मुसलमान बनने के लिए अनिवार्य है। फिर क़ुरआने-हकीम ऐसी वर्णनशैली क्यों अपनाता है ? और आदर्श मोमिन व मुसलमान का चित्र प्रस्तुत करने के लिए प्राय: ईमान के बाद केवल नमाज़ और ज़कात ही का नाम लेकर मौन क्यों हो जाता है ? दूसरी भलाइयों का उल्लेख भी क्यों नहीं करता? ज़ाहिर है कि वार्ता का यह ढंग उसने अकारण तो नहीं अपनाया है। विचार कीजिए तो इसका कारण इसके सिवा और कोई न मिल सकेगा कि अल्लाह तआला की निगाह में नमाज़ और ज़कात यही दो चीज़ें 'दीन' की वास्तविक व्यावहारिक बुनियादें हैं। जिसने इन दोनों अनिवार्य कर्मों (फ़र्ज़ों) का अच्छी तरह निर्वाह कर लिया उसने मानो पूरे धर्म पर चलने की पक्की ज़मानत और व्यावहारिक साक्ष्य जुटा दिया। अब उससे इस बात की वस्तुत: कोई आशंका शेष न रही कि वह शरीअत के दूसरे आदेशों की उपेक्षा करेगा। ऐसा क्यों है ? इस बात का जवाब आपको एक ओर 'दीन' की और दूसरी ओर 'नमाज़ और ज़कात' की वास्तविकताओं और उद्देश्यों पर नज़र डालने से मिल सकेगा। धर्म के आदेशों का आधारभूत विभाजन कीजिए तो उनके दो ही प्रकार होंगे — एक प्रकार के वे आदेश हैं जिनका सम्बन्ध अल्लाह तआला के हक़ और अधिकार से है और दूसरे प्रकार के आदेश वे हैं जिनका सम्बन्ध बन्दों के हक़ से है। इस तरह 'दीन' का अनुपालन वास्तव में इस बात का नाम है कि मनुष्य अल्लाह तआला के हक़ और उसके बन्दों के हक़, दोनों के उत्तरदायित्व को पूरा करनेवाला हो जाए। नमाज़ की जो हक़ीक़त हम जान चुके और ज़कात की जो हक़ीक़त आगे हम जानेंगे इन दोनों से स्पष्ट है कि नमाज़ अल्लाह के हक़ों को और ज़कात बन्दों के हक़ों को

अदा करने के लिए पूरी तरह तैयार करती और किए रखती है। अगर एक व्यक्ति ने मसजिद में पूरी चेतनापूर्वक नमाज़ का हक़ अदा कर दिया, तो सम्भव नहीं कि वह मसजिद से बाहर आकर अल्लाह के हक़ों को भूल जाए। उससे तो ये हक़ उसी प्रकार अदा होते रहेंगे, जिस प्रकार स्रोत से पानी उबलता रहता है। इसी प्रकार जिसने चेतनता के साथ ज़कात का हक़ अदा कर दिया, उससे यह सम्भव नहीं कि वह अल्लाह के बंदों के हक़ों को मार सकेगा। जो व्यक्ति दूसरों पर अपनी गाढ़ी कमाई स्वयं अपनी ख़ुशी से ख़र्च करेगा और ख़र्च करके उनको अपना एहसानमन्द बनाने के बजाय उलटा कुछ उन्हीं का आभारी होगा वह तो उनका एक-एक हक़ अदा करके ही चैन पा सकेगा।

फिर एक और पहलू से देखिए – क़ुरआन इस तथ्य की बार-बार शिक्षा देता है कि 'दीन' व 'ईमान' में ज़िन्दगी उसी समय आ सकती है, जब अल्लाह के प्रति प्रेम हर प्रेम पर प्रभावी हो जाए और सांसारिक चाहत पर आख़िरत की चाहत को प्रधानता प्राप्त हो। नमाज़ और ज़कात इनसान को ऐसा ही ख़ुदापरस्त (ईशपरायण) और आख़िरतपसन्द बनाने के सबसे ज़्यादा प्रभावकारी उपाय हैं। नमाज़ इनसान को अल्लाह और आख़िरत की ओर ले जाती है, तो ज़कात उसे दुनिया की तरफ़ लुढ़क जाने से बचाती है। मानो अल्लाह तआला की प्रसन्नता और आख़िरत की सफलता का मार्ग अगर कड़ी चढ़ाई का मार्ग है तो ये दोनों चीज़ें उस रास्ते पर सफ़र करनेवाली इनसानी अमल की गाड़ी के दो इंजन हैं। नमाज़ का इंजन उसे आगे से खींचता है और ज़कात का इंजन उसे पीछे से धकेलता है। इस तरह यह गाड़ी अपनी मंज़िल की ओर बराबर बढ़ती रहती है। जब वस्तुस्थिति यह है तो इन दोनों चीज़ों को यह हक़ मिलना ही चाहिए कि ये धर्म की असल अमली बुनियादें ठहरा दी जाएँ।

(2) किसी का मुसलमान होना ज़कात अदा किए बग़ैर विश्वसनीय नहीं समझा जाएगा, बल्कि जो लोग अपने को मुसलमान कहते हों वे भी अगर ज़कात देने से इनकार कर दें तो इस्लामी हुकूमत उनके ख़िलाफ़ तलवार उठा लेगी। अतएव, हज़रत अबू बक्र (रज़ि.) के शासन काल में जब कुछ लोगों ने

ज़कात देने से इनकार किया तो आप (रज़ि.) ने उनके ख़िलाफ़ जंग की घोषणा कर दी और जब हज़रत उमर (रज़ि.) ने उनकी इस कार्रवाई के वैध होने में सन्देह प्रकट किया तो उन्होंने फ़रमाया :

"ख़ुदा की क़सम! मैं उन लोगों से ज़रूर लड़ूँगा जो नमाज़ और ज़कात में अन्तर करते हैं। जबकि क़ुरआन में उन्हें साथ-साथ रखा गया है।"

(हदीस : मुस्लिम, भाग-1, किताबुल ईमान)

यह सुनकर अन्ततः हज़रत उमर (रज़ि.) भी, बल्कि यूँ कहना चाहिए कि सारे ही सहाबा (रज़ि.) उनसे सहमत हो गए। इससे मालूम हुआ कि किसी मुसलमान की भी जान-माल उसी समय तक सम्माननीय है, जब तक कि वह नमाज़ ही की तरह ज़कात भी अदा करता रहे। अगर कोई व्यक्ति नमाज़ के आदेश पर तो अमल करता है, किन्तु ज़कात के आदेश का अनुपालन नहीं करता और इस तरह दोनों की हैसियतों में अन्तर करता है, तो अनिवार्य है कि उसके साथ वैसा ही व्यवहार किया जाए जैसा नमाज़ न पढ़नेवाले के साथ किया जाता है।

इस क्रम में क़ुरआन मजीद की दो आयतें और भी देखें –

"................ तबाही है उन अनेकेश्वरवादियों के लिए जो ज़कात नहीं देते, और वे आख़िरत (परलोक) के इनकार पर तुले हुए हैं।"

(क़ुरआन, 41:6-7)

"................ अतः मैं अपनी दयालुता उन लोगों के लिए लिख दूँगा जो मेरा डर रखते हैं और ज़कात देते हैं, और जिनका हमारी आयतों पर ईमान है।" (क़ुरआन, 7:156)

पहली आयत में जिस प्रकार हम यह देख रहे हैं कि ज़कात न देने को शिर्क (बहुदेववाद) और आख़िरत के इनकार का लक्षण ठहराया गया है, उसी प्रकार दूसरी आयत में ज़कात देने को तक़वा (ख़ुदा का डर) और ईमान का साक्ष्य ठहराया गया है। इस प्रकार ये दोनों आयतें एक ही तथ्य को प्रकट कर रही हैं और बता रही हैं कि ज़कात भी ईमान का एकअनिवार्य प्रतीक है। जहाँ

ईमान होगा, वहाँ ज़कात भी अनिवार्यत: अदा होती होगी।

इस्लाम धर्म में ज़कात का क्या स्थान है ? इसे स्पष्ट कर देने के लिए उपरोक्त क़ुरआन व हदीस के बयान बिलकुल पर्याप्त हैं। उनकी रौशनी में साफ़ नज़र आ जाता है कि ज़कात के बिना धर्म की इमारत किसी भी प्रकार से नहीं बन सकती। अत: यह उसका अनिवार्य हक़ था कि उसे भी इस्लाम का स्तंभ ठहराया जाता।

ज़कात के उद्देश्य

अब यह भी समझ लेना चाहिए कि ज़कात किस ध्येय के लिए अनिवार्य (फ़र्ज़) की गई है और वे क्या उद्देश्य हैं जिनका प्राप्त करना इससे अपेक्षित है ? इस सम्बन्ध में क़ुरआन मजीद व हदीस में जो कुछ कहा गया है, उसका जायज़ा लीजिए तो मालूम होता है कि ज़कात के तीन उद्देश्य हैं, एक मौलिक और व्यक्तिगत, शेष दो गौण और सामाजिक हैं। वे तीन उद्देश्य इस प्रकार हैं :

(1) मन का विकास और निखार

ज़कात का वास्तविक और मौलिक उद्देश्य — जिसका सम्बन्ध पूरी तरह व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व से होता है, यह है कि ज़कात देनेवाले का मन सांसारिक लोभ-लालच से मुक्त हो जाए तथा मुक्त होकर भलाई और संयम के कामों के लिए तैयार हो जाए। क़ुरआन मजीद में है –

> "…..उस जहन्नम से दूर रखा जाएगा वह व्यक्ति जो अल्लाह से बहुत डरनेवाला है, जो अपना माल दूसरों को देता है (केवल) पाक होने के लिए।" (क़ुरआन, 92: 17-18)

एक और जगह नबी (सल्ल.) को सम्बोधित करके कहा गया है –

> "उनके मालों में से 'सदक़ा' ले लो जिसके द्वारा उन्हें शुद्ध और उन (की आत्मा) को विकसित करोगे।" (क़ुरआन, 9:103)

इन आयतों से मालूम हुआ कि सदक़ा और ज़कात का मूल उद्देश्य हृदय की सफ़ाई और आत्मा का विकसित करना है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि दुनिया की मुहब्बत ही वह चीज़ है जो ख़ुदापरस्ती (ईशोपासना) की असल दुश्मन है। यह इनसान को ख़ुदा और आख़िरत से बेपरवाह बनाकर रख देती है। अल्लाह के रसूल (सल्ल.) ने भी फ़रमाया है कि

"दुनिया की मुहब्बत हर बुराई की जड़ है।" (हदीस : रज़ीन, बैहक़ी)

इस मुहब्बत का सम्बन्ध यद्यपि संसार की बहुत-सी चीज़ों से होता है, किन्तु उनमें सबसे अधिक शक्तिशाली और ख़तरनाक मुहब्बत धन-संपत्ति की होती है। अतएव हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) ने माल (धन-संपत्ति) ही को अपने अनुयायियों के लिए सबसे बड़ा फ़ितना ठहराया है। आपने कहा है कि–

"मेरी उम्मत का फ़ितना माल है।" (हदीस : तिरमिज़ी)

इसलिए अगर एक धनवान मोमिन धन-संपत्ति की मुहब्बत की पकड़ से अपने को बचा ले तो दूसरी बहुत-सी चीज़ों की मुहब्बत से मुक्त होने का मार्ग उसके लिए आप से आप खुल जाएगा। इस प्रकार इस एक फंदे से मुक्ति पाना वास्तव में दूसरे बहुत-से फंदों से मुक्त हो जाना है। सांसारिक फंदों से हृदय का मुक्त हो जाना ही उसका पवित्र हो जाना है। ज़कात चूँकि मानव-हृदय को यही मुक्ति प्रदान करती है, इसलिए तथ्य यह है कि वह दिलों को पाक करती है। फिर चूँकि सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाने के बाद इनसान अल्लाह की रिज़ा (प्रसन्नता) और परलोक की सफलता की ओर तीव्र गति से बढ़ता और भलाइयों की ओर प्रवृत्त हो जाता है, इसलिए ज़कात का प्रभाव दिलों को पवित्र करने के निषेधात्मक कर्म ही तक सीमित नहीं रह जाता, बल्कि स्वीकारात्मक रूप से उनके व्यक्तित्व के विकास और उच्च उठान तक जा पहुँचता है और उनकी भलाई की शक्ति को गतिशील कर दिया करता है। यही वे समस्त मनोवैज्ञानिक तथ्य हैं जो उपरोक्त दोनों आयतों की तह में पाए जाते हैं।

ज़कात का यही मूलोद्देश्य और आशय है जिसके कारण शरीअत ने इस कर्म को 'ज़कात' का नाम दिया है। 'ज़कात' का शाब्दिक अर्थ पवित्रता और

विकसित होने के हैं। मानो अपनी कमाई का एक भाग मोहताज और ज़रूरत मंद लोगों को केवल अल्लाह की ख़ुशी के लिए दे देना 'ज़कात' इसलिए कहलाता है कि उससे मन में पवित्रता आती है और उसका उत्तम विकास होता है।

लेकिन याद रखना चाहिए कि ज़कात का यह मौलिक उद्देश्य केवल इतनी-सी बात से प्राप्त नहीं हो सकता कि बस अपनी संपत्ति का एक भाग निकालकर किसी ग़रीब को दे दिया जाए। यह उद्देश्य उसी समय प्राप्त हो सकता है जब इस 'देने' के पीछे इस मूलोद्देश्य को प्राप्त कर लेने की सच्ची नीयत और व्यावहारिक आयोजन किया जाए। यह सच्ची नीयत और यह व्यावहारिक आयोजन क्या है जिसे ज़कात देते समय दृष्टि में रखना अनिवार्य है? क़ुरआन मजीद ने इस सम्बन्ध में सविस्तार आदेश दिए हैं, जिनका आवश्यक सारांश यह है :-

(1) सबसे महत्त्वपूर्ण और मौलिक बात तो यह है कि ज़कात देते समय केवल अल्लाह की प्रसन्नता की चाह ही उसका प्रेरक हो, किसी और प्रेरणा और उद्देश्य का इसमें कोई दख़ल न हो।

"तुम अपनी दौलत सिर्फ़ अल्लाह की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए ख़र्च करते हो।" (क़ुरआन, 2:272)

"सिर्फ़ अल्लाह की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए ख़र्च करते हो" का अर्थ साफ़ तौर पर यह है कि हमें ऐसा करना चाहिए।

क़ुरआन मजीद ने सच्चे और आदर्श मुसलमान की पहचान बताते वक़्त जगह-जगह इस बात को दोहराया है कि वह ज़कात और सद्क़े सिर्फ़ अल्लाह की प्रसन्नता के लिए देते हैं। यही कारण है कि ज़कात को "अल्लाह की राह में ख़र्च करना" भी कहा गया है।

(2) दूसरी बात यह है कि जो ज़कात दी जाए वह स्वयं विशुद्ध (हलाल) कमाई में से हो और उसमें हराम कमाई तनिक भर भी सम्मिलित न हो।

"ऐ ईमानवालो ! अपनी पाक कमाई में से ख़र्च करो।"

(क़ुरआन, 2:267)

इसी बात को नबी (सल्ल.) और अधिक विस्तार से इस प्रकार फ़रमाते हैं कि "लोगो! अल्लाह पवित्र है और वह मात्र पवित्र धन ही का सदक़ा (दान) स्वीकार करता है।"

(हदीस : मुस्लिम- भाग-1, किताबुज़्ज़कात)

(3) तीसरी बात यह है कि ज़कात में जो चीज़ दी जाए वह अच्छे क़िस्म की हो। रद्दी और ख़राब चीज़ों को इस उद्देश्य के लिए छाँटा गया तो यह ज़कात देना न होगा, बल्कि ज़कात का मात्र बोझ उतारना होगा –

"और (अपने) उस (माल) में से ख़राब चीज़ का ही इरादा न किया करो (ख़ुदा की राह में) ख़र्च करने के लिए।"

(क़ुरआन, 2:267)

(4) चौथी बात यह है कि ज़कात लेनेवाले पर कोई एहसान न रखा जाए, न उसका दिल दुखाया जाए, न उसके आत्मसम्मान को ठेस पहुँचाई जाए। ऐसी कोई भी बात हुई तो सारा किया-कराया अकारथ चला जाएगा–

"ऐ ईमानवालो! अपने 'सदक़े' एहसान जताकर और दिल दुखाकर नष्ट न कर दिया करो, उस व्यक्ति की तरह जो अपना धन लोगों को दिखाने के लिए ख़र्च किया करता है।" (क़ुरआन 2:264)

हदीस में आता है कि क़ियामत के दिन तीन आदमी जहन्नम में सबसे पहले जाएँगे। उनमें से एक वह होगा, जिसने दुनिया में इसलिए बहुत दान-पुण्य किया होगा कि लोग उसे बड़ा दानशील और दीन-दुखियों पर बड़ा अनुग्रह करनेवाला कहें। एक और हदीस में इससे भी अधिक भयावह बात कही गई है –

"जिसने दिखावे के लिए सदक़ा दिया, उसने शिर्क किया।"

(हदीस: मुस्लिम, भाग-2)

ये हैं वे विशिष्ट हिदायतें जिनपर अमल करने के बाद ही ज़कात दिल की पवित्रता और हृदय-विकास का साधन बन सकती है। अनुमान लगाइए, ये कितने उच्च नैतिक आदेश हैं? और सामान्य दान-पुण्य में और इस्लामी

ज़क़ात में कैसा ज़मीन-आसमान का अन्तर है? इन हिदायतों को देखकर प्रत्येक व्यक्ति महसूस कर सकता है कि ज़कात देते समय मन की स्थिति पर सूक्ष्म दृष्टि रखने की कितनी अधिक आवश्यकता है। क्योंकि यह ऐसी इबादत (उपासना) है जो मन की अनगिनत आपदाओं से घिरी हुई है। इसपर हर ओर से जान लेवा हमलों का ख़तरा बराबर लगा रहता है। यही कारण है कि इस विषय में अल्लाह के सत्यनिष्ठ बन्दों का हाल क़ुरआन मजीद यह बताता है–

> ''.....ये लोग अपना खाना मोहताजों, अनाथों और क़ैदियों को खिलाते हैं, यद्यपि वह (खाना) स्वयं उन्हें अपने लिए प्रिय होता है (और उनसे अपने इस कर्म के द्वारा मूक भाषा में या फिर मुखर रूप से कहते हैं कि) हम तुम्हें मात्र अल्लाह की प्रसन्नता हेतु खिलाते हैं। तुमसे किसी प्रतिदान या कृतज्ञता के इच्छुक नहीं हैं।'' (क़ुरआन, 76:8-9)

एक अन्य जगह कहा गया –

> ''और ये लोग (अल्लाह की राह में) जो कुछ देते हैं इस दशा में देते हैं कि उनके दिल डरे हुए होते हैं, इस ख़याल से कि उन्हें अपने रब के पास पलटकर जाना है।'' (क़ुरआन, 23:60)

मतलब यह कि किसी गर्व के प्रदर्शन या किसी बड़ाई, या किसी दिखावे की भावना या किसी कृतज्ञता की चाह, या किसी के दिल दुखाने का क्या सवाल – ज़कात देते समय मोमिन का दिल तो उलटा इस आशंका से काँप रहा होता है कि कहीं अन्दर ही अन्दर शैतान कोई शरारत न कर रहा हो। कहीं ऐसा न हो कि कल जब मैं अपने पालनकर्ता के समक्ष उपस्थित होऊँ तो पता चले कि मेरा यह देना और खाना खिलाना व्यर्थ हो चुका है।

(2) ग़रीबों का भरण-पोषण

अब ज़कात के दूसरे उद्देश्यों को लीजिए। उनमें से एक उद्देश्य तो यह है कि समाज के निर्धन लोगों की मदद की जाए और उनकी मौलिक आवश्यकताएँ पूरी होती रहें। नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं –

> ''निस्सन्देह अल्लाह ने लोगों पर ज़कात फ़र्ज़ (अनिवार्य) की है जो उनके

मालदारों से ली जाएगी और उनमें के मोहताजों और ज़रूरतमंद लोगों को लौटा दी जाएगी।" (हदीस : मुस्लिम)

इसी तरह क़ुरआन मजीद जिस ज़कात के अदा करने को एक अच्छे मुसलमान का अनिवार्य गुण और लक्षण बताता है, उसका विवरण देते हुए वह कहता है –

"............... वह अपना माल – उसके (अपने लिए) प्रिय होने पर भी — नातेदारों, अनाथों, निर्धनों, मुसाफ़िरों और माँगनेवालों को देता और गर्दन छुड़ाने में ख़र्च करता रहता है।" (क़ुरआन, 2:177)

इन फ़रमानों से मालूम हुआ कि ज़कात का एक विशुद्ध सामूहिक और आर्थिक पक्ष भी है और इसके बिना ज़कात की इस्लामी अवधारणा पूर्ण नहीं होती। एक व्यक्ति ने पूर्ण ईशपरायणता के साथ अपने धन का एक भाग निकाल दिया। निस्सन्देह इस तरह मौलिक रूप से उसने अपने दिल की पवित्रता और अपने मन के विकास का आयोजन कर लिया। किन्तु उसका यह कर्म मात्र इतना ही करने से शरीअत की दृष्टि में वास्तविक अर्थों में "ज़कात की अदायगी" नहीं हो जाता और जब इसे ज़कात का अदा करना नहीं कहेंगे, तो स्पष्ट है कि इस्लाम के एक अनिवार्य स्तम्भ के निर्माण का साधन भी न बन सकेगा। उसके इस कर्म को "ज़कात अदा करना" उसी समय कहेंगे और उससे इस्लाम का तीसरा अनिवार्य स्तम्भ उसी समय स्थापित हो सकेगा जब वह अपनी निकाली हुई यह दौलत हक़दारों के हवाले कर देगा, अर्थात् दिल की पवित्रता और मन की उन्नत दशा का, ज़कात का मौलिक उद्देश्य और साध्य होना सर्वमान्य है, किन्तु इस ज़कात के माल का लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन बन जाना भी अपनी जगह बिलकुल अनिवार्य है। इसके बिना ज़कात का, शरीअत द्वारा किया गया फ़र्ज़, सही मानों में अदा नहीं हो सकता। यही कारण है कि क़ुरआन मजीद ने ज़कात को खाते-पीते लोगों की दौलत में ग़रीबों का 'हक़' ठहराया है–

"जिनके मालों में माँगनेवालों और महरूमों का निश्चित हक़ होता है।"

(क़ुरआन, 70 : 24-25)

यह हक़ ऐसा है कि इसके लिए इस्लामी हुकूमत तलवार भी उठा सकती है, जैसाकि हज़रत अबू बक्र सिद्दीक़ (रज़ि.) के व्यवहार से ऊपर मालूम हो चुका है। सारांश यह कि ज़कात के इस दूसरे उद्देश्य की हैसियत यद्यपि द्वितीय है, किन्तु फिर भी इसका दीन में जो महत्त्व है उसे साधारण नहीं कहा जा सकता, न आख़िरत के दृष्टिकोण से, न सांसारिक दृष्टिकोण से। इस बात का पूरा अंदाज़ा करने के लिए इन हदीसों को भी देखिए –

"मोमिन वह नहीं होता जो स्वयं तो पेट-भर खाना खाए और उसके पहलू में उसका पड़ोसी भूखा रह जाए। (हदीस : बैहक़ी)

"अल्लाह तआला क़ियामत के दिन फ़रमाएगा कि ऐ आदम की सन्तान! मैंने तुझसे खाना माँगा था, किन्तु तूने मुझे नहीं खिलाया। बन्दा जवाब देगा कि ऐ ख़ुदा! मैं तुझे कैसे खिला सकता हूँ, तू तो स्वयं ही समस्त जगत् का पालनकर्ता है? कहा जाएगा कि क्या तुझे मालूम नहीं कि मेरे अमुक बन्दे ने तुझसे खाना माँगा था, लेकिन तूने उसे खिलाने से इनकार कर दिया था।" (हदीस : मुस्लिम)

जो धर्म बन्दे की भूख-प्यास को स्वयं अल्लाह तआला की भूख-प्यास ठहराता हो, उसके यहाँ दीन-दुखियों और निर्धनों की आवश्यकता पूर्ति कोई साधरण महत्त्व की चीज़ नहीं हो सकती।

(3) धर्म की सहायता

ज़कात के दूसरे उद्देश्यों में से एक उद्देश्य धर्म की रक्षा और मदद है। क़ुरआन मजीद यह बताते हुए कि ज़कात की राशि किन लोगों पर और कहाँ-कहाँ ख़र्च की जानी चाहिए, कहता है –

"ये सदक़े (दान) तो केवल ज़रूरतमन्दों, निर्धनों, सदक़ा एकत्र करनेवाले कर्मचारियों और उन लोगों के लिए हैं, जिनकी दिलजोई करना अपेक्षित हो, तथा गर्दनें छुड़ाने में, क़र्ज़दारों की मदद करने में, अल्लाह की राह में और मुसाफ़िरों की मदद में ख़र्च होने के लिए हैं।" (क़ुरआन, 9:60)

"अल्लाह की राह में" ख़र्च होने का अर्थ होता है – अल्लाह के 'दीन' के लिए किए जानेवाले संघर्ष में ख़र्च करना, ख़ास तौर पर हर प्रकार के प्रयासों के साथ-साथ सामरिक आवश्यकताओं में ख़र्च करना।

इससे मालूम हुआ कि "अल्लाह की राह में जिहाद" करने की आर्थिक अवश्यकताओं को पूरा करना भी ज़कात के उद्देश्यों में सम्मिलित है। अतएव, क़ुरआन मजीद में ईमानवालों से जगह-जगह यह माँग की गई है कि "अल्लाह की राह में अपने मालों और अपनी जानों के द्वारा जिहाद (भरसक प्रयास) करो," (9:41)। और ईमानवालों के जब भौतिक गुणों का वर्णन किया जाता है तो उनमें —"अल्लाह की राह में, अपने मालों से जिहाद करने" की बात भी अनिवार्य रूप से मौजूद होती है। "अल्लाह की राह में अपने मालों के द्वारा जिहाद करने" का भाव बिलकुल स्पष्ट है। वह यह कि 'दीन' की ख़ातिर जिहाद करने के लिए जिन चीज़ों की भी आवश्यकता पड़े, उन्हें अपने पास से जुटाओ।

हर व्यक्ति जानता है कि 'दीन' की रक्षा और सहायता, कोई निम्न श्रेणी का काम नहीं, इसलिए उसके लिए अपनी संपत्ति को ख़र्च करना भी कोई साधारण काम नहीं हो सकता। क़ुरआन मजीद में जिहाद का आदेश देते हुए एक जगह फ़रमाया गया है कि "अल्लाह के मार्ग में ख़र्च करो और (हाथ रोककर) अपने आपको तबाही में न डालो।" (क़ुरआन, 2:195)

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि धर्म की रक्षा और मदद के लिए ज़रूरी ख़र्चों का इन्तिज़ाम न करना, तबाही मोल लेना है– दुनिया में भी और आख़िरत में भी। जो काम दुनिया और आख़िरत दोनों लोकों की तबाही से सुरक्षित रहने की शर्त हो, उसे भला कौन मामूली काम कह सकता है!

ज़कात कितनी दी जाए

ज़कात के उद्देश्य मालूम होने के बाद यदि यह प्रश्न किया जाए कि ज़कात कितनी दी जानी चाहिए? तो इस प्रश्न का वस्तुत: एक ही उत्तर होगा, और वह यह कि ज़कात उतनी निकालनी चाहिए, जितनी से ये तीनों उद्देश्य

पूरे हो जाएँ।

1. एक यह कि दिल धन की मुहब्बत से मुक्त हो जाए
2. दूसरा यह कि समाज से भूख और निर्धनता का अन्त हो जाए।
3. तीसरा यह कि 'दीन' की रक्षा व सहायता के लिए अनिवार्य ख़र्चे पूरे हो जाएँ।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि ज़कात के देने का यह प्रतिमान किसी विशिष्ट परिमाण (मात्रा) से निर्धारित नहीं किया जा सकता क्योंकि इन उद्देश्यों का सम्बन्ध वस्तुत: भाव से है, न कि परिमाण (मात्रा) से। और भाव का अन्दाज़ा किसी गणना या किसी मात्रा से नहीं लगाया जा सकता। इस वस्तुस्थिति की स्वाभाविक माँग यही है कि आदमी जितना भी हो सके बराबर देता रहे और देता ही रहे। क्योंकि मोमिन अपने कर्म की ओर से कभी भी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। यह सन्तोष कर लेना कि मैंने अमुक शरीअत के मुतालबे का हक़ अदा कर दिया, उसके ईमानी प्रकृति के विरुद्ध है। यही कारण है कि क़ुरआन मजीद मुसलमानों को निरन्तर इसपर प्रेरित करता हुआ दिखाई देता है कि "ख़ुदा की राह में ख़र्च करो", "ख़ुदा की राह में ख़र्च करो।" —जिसे सुन-सुनकर सहाबा किराम (रज़ि.) का हाल यह था कि बड़ी से बड़ी माली क़ुरबानियाँ देने के बाद भी उन्हें सन्तोष नहीं हो पाता था और अन्तत: उनके ईमानी एहसास और तड़प ने उन्हें यह निवेदन करने पर विवश कर दिया कि हमसे जितने ख़र्च की माँग हो वह स्पष्टत: और निश्चित रूप में बता दी जाए।

"और तुमसे पूछते हैं कितना ख़र्च करें?" (क़ुरआन 2:219)

इसके उत्तर में उन्हें बताया गया--

"जो कुछ तुम्हारी अपनी वास्तविक ज़रूरतों के पूरा कर लेने और हक़दारों के हक़ अदा कर देने के बाद बच रहे, वह सब अल्लाह की राह में दे दो।"
(क़ुरआन, 2:219)

इस जवाब से इस बात का अच्छी तरह अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि ख़ुदा की राह में ख़र्च करने का अभीष्ट प्रतिमान क्या है ? विशेषकर इसके दोनों गौण उद्देश्यों की हद तक तो बात बिलकुल साफ़ हो जाती है और वह यह कि जब तक ग़रीबों की वैयक्तिक ज़रूरतें और दीन व मिल्लत की सामूहिक ज़रूरतें पूरी न हो जाएँ — सामर्थ्यवान व संपन्न मुसलमानों से अल्लाह की राह में ख़र्च करने की माँग भी वस्तुत: शेष ही रहेगी। वे बहुत कुछ ख़र्च कर देने के बाद भी इस अनिवार्य कर्त्तव्य (फ़र्ज़) से सही अर्थों में मुक्त नहीं हो सकते। लेकिन आम हालात में इस बात के इत्मीनान की भी कोई सूरत ज़रा मुशकिल ही से पैदा हो सकती है कि धर्म व समाज और सम्प्रदाय के सभी लोगों की ज़रूरतें पूरी हो चुकी हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सम्पन्न और सामर्थ्य-प्राप्त मुसलमानों के सामने ख़ुदा की राह में ख़र्च करने का ईमानी मुतालबा (माँग) हर क्षण शेष रहता है, जिसे पूरा करने के लिए उनके अनिवार्य कर्त्तव्य के एहसास को उन्हें बराबर उकसाते रहना चाहिए और उन्हें कभी भी इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए कि हमने इस कर्त्तव्य को अभीष्ट प्रतिमान के अनुसार पूरा कर दिया। इस प्रकार इस बात का फ़ैसला करना कि ज़कात कितनी दी जाए और ख़ुदा की राह में कितना ख़र्च किया जाए, वास्तव में व्यक्ति के अपने ईमानी एहसास पर निर्भर करता है।

लेकिन चूँकि इस्लाम वैचारिकता से अधिक एक व्यावहारिक धर्म है। वह मानवीय विचारों की उच्चताओं ही पर निगाह नहीं रखता, बल्कि दूसरे तथ्य भी उसकी नज़र में रहते हैं। इसलिए उसने अपने दूसरे धार्मिक स्तम्भों की तरह इस स्तम्भ अर्थात् ज़कात को भी बिलकुल ही लोगों के अपने एहसास ही पर नहीं छोड़ दिया है कि जिस हद तक चाहें इसका हक़ अदा करें। इसके विपरीत उसने इस इबादत की ऊँची-से ऊँची मंज़िलों तक पहुँचने की निरन्तर प्रेरणा देने के साथ-साथ वह सीमा भी निर्धारित कर दी है, जो उसकी सबसे निचली सीमा हो सकती थी, और जो उन उद्देश्यों के परिप्रेक्ष्य में बिलकुल ही अनिवार्य थी, जिनके कारण इसे धर्म का स्तंभ ठहरा दिया गया है। यह हदबन्दी उसने विविध आवश्यकताओं और निहित हितों के आधार पर की है :-

1. एक तो इसलिए कि प्रत्येक श्रेणी, बुद्धि और प्रत्येक क्षमता के लोगों का इस धर्म से संपर्क था और इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि इनसानों की बहुसंख्या ऐसी ही होती है, जिसे इस हदबन्दी की हर स्थिति में आवश्यकता होती है और जो आदेशों का अगर पालन कर पाती है तो उसी समय जब कि उन्हें संख्या तथा परिमाण के निर्धारण के साथ स्पष्ट कर दिया जाए।

2. दूसरे इसलिए कि अपनी ईमानी शक्ति के लिहाज़ से भी समस्त ईमानवाले एक श्रेणी के नहीं होते। उनमें ऐसे कमज़ोर लोग भी होते हैं, जिनका मन बहानों और गुंजाइशों से ज़्यादा-से-ज़्यादा लाभ उठाना चाहता है। इसलिए यह बता देना अनिवार्य था कि धर्म के मौलिक कर्मों का वह कम से कम परिमाण (मात्रा) क्या है, जिसे हर हालत में पूरा होना चाहिए और जो मोमिनों के समुदाय की अंतिम पंक्ति में भी जगह पाने के लिए बिलकुल अनिवार्य है।

3. तीसरे इसलिए कि ज़कात केवल व्यक्ति के अपने व्यक्तिगत सुधार और उसके आत्मविकास ही के लिए फ़र्ज़ नहीं की गई है, बल्कि ग़रीबों का भरण-पोषण और धर्म की रक्षा व मदद भी इसके उद्देश्यों में सम्मिलित है, जैसाकि ऊपर सविस्तार ज्ञात हो चुका है। हो सकता था कि जहाँ तक ज़कात के पहले उद्देश्य का सम्बन्ध है, उसे व्यक्ति के अपने फ़र्ज़ के एहसास पर छोड़ दिया जाता, वह अगर अपनी आख़िरत बनानी चाहता तो ज़कात देता, वर्ना उसके बुरे परिणाम भुगतने के लिए तैयार रहता। लेकिन जब उसके उद्देश्यों में ग़रीबों की आवश्यकताओं की पूर्ति और धर्म की रक्षा व सहायता भी सम्मिलित है और इन दोनों बातों का सम्बन्ध आख़िरत से नहीं, बल्कि इसी दुनिया से है तो इस मामले को पूरी तरह लोगों की अपनी भावनाओं पर नहीं छोड़ा जा सकता था। अल्लाह तआला ने अपने निर्धन बन्दों की भौतिक आवश्यकताओं और धर्म के सामूहिक हितों को उतना कम महत्त्व नहीं दिया कि उनके बारे में लोगों को केवल प्रेरणा दे देता और यह बात बिलकुल उनकी अपनी इच्छा पर छोड़ देता कि जब चाहें, और जितने टुकड़े चाहें, भूख से

निढाल इनसानों की तरफ़ फेंक दें या धर्म की रक्षा तथा सहायता के नाम पर कुछ सिक्के चंदे में दे दें और चाहें तो यह कष्ट भी न करें। ये उद्देश्य ज़कात के गौणोद्देश्य ही सही, मगर इसके बावजूद इस्लाम ने इन्हें जो महत्त्व दिया है, वह स्वयं में बहुत बड़ा है। इसलिए अनिवार्य था कि ज़कात की एक ऐसी सीमा अनिवार्यतः निर्धारित कर दी जाए जिसे अदा करने की हैसियत नैतिकता (अख़लाक़ी) से आगे बढ़कर क़ानूनी भी हो, ताकि ग़रीबों की देखभाल तथा भरण-पोषण और धर्म की रक्षा व सहायता की कम से कम आरम्भिक दर्जे में व्यवस्था बनी रहे।

ज़कात की यह क़ानूनी और अनिवार्य मात्रा संक्षिप्त में नीचे दी जा रही है –

1. कृषि पैदावार में से, अगर सिंचाई की ज़रूरत पेश आई हो तो 5% अन्यथा 10% ,
2. जमा रक़में, ज़ेवरों और व्यापारिक मालों में से 2.5% (ढाई प्रतिशत),
3. जंगल की चराई पर पलनेवाले मवेशियों में से लगभग 1.5% से 2.5% तक, और
4. खनिज पदार्थों और गड़े हुए धन में से 20% तक।

इतनी ज़कात का अदा करना पूँजीपति (अर्थात् धनवान) मुसलमान के लिए नैतिक ही नहीं, क़ानूनी तौर पर भी ज़रूरी है। इसमें वह किसी हाल में भी कमी नहीं कर सकता। क्योंकि इस अनिवार्य कर्त्तव्य के पूरा करने की यह बिलकुल आरम्भिक और अनिवार्य दर है। इसमें भी अगर कोई कमी रह गई तो इस्लाम ज़कात की हद तक बे-स्तम्भ ही रह जाएगा। उसका भवन कदापि खड़ा न हो सकेगा। न केवल यह कि इस मात्रा में किसी कमी की गुंजाइश नहीं, बल्कि जहाँ तक ज़कात के उद्देश्यों का सम्बन्ध है, उनके परिप्रेक्ष्य में तो इस मात्रा की पूरी-पूरी अदाई भी किसी इत्मीनान का कारण नहीं बन सकती। अतएव, उनकी अपेक्षा यही होती है कि इस क़ानूनी सीमा पर हरगिज़ न रुका जाए, बल्कि आगे बढ़ा जाए और आगे बढ़ने का यह स्वयंसेवा जैसा प्रयास बराबर जारी रखा जाए,ताकि उन उद्देश्यों के पूरा हो जाने की अधिक

से अधिक आशा की जा सके। आगे बढ़ने की इस कोशिश को यद्यपि लोगों की अपनी मर्ज़ी ही पर रखा गया है, वे चाहें तो यह कोशिश करें और चाहें तो न करें। किन्तु इसका अर्थ अब भी यह नहीं है कि यहाँ उनकी मर्ज़ी ही सब कुछ है और उसे क़ानून किसी भी स्थिति में अपना पाबन्द नहीं बना सकता। प्रथम उद्देश्य की सीमा तक तो निस्सन्देह बात ऐसी ही है और इसके बारे में क़ानून और अधिक कोई माँग न करेगा, किन्तु दूसरे और तीसरे उद्देश्यों का मामला ऐसा नहीं है। उनके लिए क़ानून अब भी माँग कर सकता है। अतएव अल्लाह के रसूल (सल्ल.) का फ़रमान है कि –

> "मुस्लिम की सम्पत्ति में निश्चित ज़कात के अलावा भी (दूसरों का) 'हक़' है।
> (हदीस : तिरमिज़ी, भाग-1)

इससे मालूम हुआ कि मुसलमान अपने धन की निश्चित ज़कात अदा कर देने के बाद भी 'दीन' (धर्म) की माली माँगों से मुक्त नहीं हो जाता और अब भी उसके धन पर 'हक़' शेष रह जाता है। यह 'हक़' तीनों ही प्रकार का हो सकता है।

1. स्वयं अपने आपका हक़– अपने चरित्र के विकास के लिए,

2. ग़रीबों का हक़ – उनके भरण-पोषण के सिलसिले में,

3. दीन (धर्म) का हक़ – उसकी रक्षा और सहायता के सिलसिले में।

यह 'हक़' इसलिए भी शेष रह सकता है कि इनसान ने ज़कात की निश्चित मात्रा यद्यपि अदा कर दी, लेकिन उसका दिल माल (सम्पत्ति) की मुहब्बत की पकड़ से अभी आज़ाद नहीं हो पाया है। यह हक़ इसलिए भी शेष रह सकता है कि इस मात्रा में माल की ज़कात मिल जाने के उपरांत भी समाज में भूख और निर्धनता शेष रह गई है और इसलिए भी शेष रह सकता है कि उतनी रक़म में जो ज़कात के सामान्य क़ानूनी माँगों के अधीन इकट्ठी हुई थी, धर्म की रक्षा और मदद का ज़रूरी समायोजन नहीं हो सका है। लेकिन जहाँ तक आत्मविकास का सम्बन्ध है –– खुली बात है कि इसकी हद तक तो यह 'हक़' क़ानूनी किसी तरह नहीं हो सकता। अगर हो सकता है तो मात्र नैतिक ही हो सकता है। क्योंकि क़ानून की विवशता से अगर इनसान अपनी सारी

दौलत भी ग़रीबों को दे दे तो उससे उसके मन में कोई पवित्रता नहीं पैदा हो सकती। यह पवित्रता तो उसी समय पैदा हो सकती है, जब वह क़ानून के दबाव से नहीं, वरन् दिल के एहसास के अन्तर्गत यह ख़र्च करे। अलबत्ता दूसरे और तीसरे उद्देश्य चूँकि क़ानून से भी हासिल हो सकते हैं, इसलिए इनकी हद तक यह 'हक़' क़ानूनी भी होगा। इसका अर्थ यह है कि अगर लोगों की नैतिक भावनाएँ समाज की भूख और निर्धनता पर क़ाबू न पा रही हों, या दीन (धर्म) की रक्षा और मदद का अनिवार्य कर्त्तव्य पूरा करने में असमर्थ हों, तो ऐसी स्थिति में यह 'हक़' यक़ीनन नैतिकता से क़ानूनी बन जाएगा। अल्लाह के रसूल (सल्ल.) के इस फ़रमान के अनुसार इस्लामी हुकूमत को इस बात का अधिकार प्राप्त होगा, बल्कि शायद यह उसकी ज़िम्मेदारी ठहराई जाएगी कि वह ग़रीबों की ज़रूरतों और दीन के हितों की ख़ातिर धनवानों के ऊपर अतिरिक्त बोझ डाले और उनसे निश्चित ज़कात के अलावा भी धन वुसूल करे।

यहाँ यह भी स्पष्ट रहे कि इस्लामी शरीअत में 'धनवान' का अभिप्राय दुनिया की आम धारणाओं से बहुत भिन्न है। जिस व्यक्ति के पास उसके माली साल के अंत में 52.5 तोला चाँदी, डले, सिक्के या रुपयों की शक्ल में मौजूद हो या इतनी संपत्ति का वह व्यापारिक सामान रखता हो — तो शरीअत की दृष्टि में वह भी 'धनावन' ही है।

ज़कात की व्यवस्था

ज़कात किस प्रकार निकाली व ख़र्च की जाएगी? शरीअत ने इस बारे में भी नियत हिदायतें दी हैं। जो सदक़े और दान क़ानून के अंतर्गत नहीं आते उन्हें तो आप अपने तौर पर जिस तरह चाहें, दे सकते और वितरित कर सकते हैं। लेकिन क़ानूनी ज़कात के बारे आपको यह आज़ादी हासिल नहीं है। बल्कि जिस तरह नमाज़ को क़ायम करने के लिए इसका जमाअत के साथ अदा किया जाना ज़रूरी है, उसी प्रकार ज़कात की भी एक सामूहिक व्यवस्था मुक़र्रर है और ज़रूरी है कि उसी व्यवस्था के माध्यम से उसे ख़र्च किया जाए। पूरे राज्य की ज़कात इस्लामी हुकूमत अपने तहसीलदारों के द्वारा वुसूल करेगी

और फिर वही उसे हक़दारों में वितरित करेगी। किसी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं पहुँचता कि वह अपनी ज़कात हुकूमत के हवाले करने से इनकार करे और अपनी मर्ज़ी के अनुसार जहाँ और जिस तरह चाहे वितरित कर दे। क़ुरआन मजीद में जहाँ यह बताया गया है कि ज़कात की रक़म किन लोगों पर और किन मदों में ख़र्च की जाएगी वहाँ ज़कात-विभाग के सरकारी कर्मचारियों का ज़िक्र भी एक स्थाई मद (Account) की हैसियत से किया गया है। (देखें, क़ुरआन, 9:60) यह इस बात का प्रमाण है कि ज़कात का हुकूमत के द्वारा वुसूल करके वितरण किया जाना इस्लाम की सामूहिकता-प्रिय प्रवृति की अनिवार्य अपेक्षा और इस्लामी अर्थ-व्यवस्था की एक सर्वमान्य धारा है। अतएव, नबी (सल्ल.) और ख़ुलफ़ा-ए-राशिदीन की कार्य-प्रणाली भी इसी यथार्थ की गवाही देती है और इस स्पष्टता के साथ देती है कि अनिवार्यतः ऐसा ही होना चाहिए। हज़रत अबू बक्र सिद्दीक़ (रज़ि.) के शासन काल में जब कुछ लोगों ने अपनी ज़कात हुकूमत के हवाले करने से इनकार कर दिया, तो आपने उनके विरुद्ध युद्ध करने का संकल्प किया और कहा –

> "ख़ुदा की क़सम, अगर उन लोगों ने ऊँट बाँधने की वह एक रस्सी भी मेरे हवाले करने से रोक रखी जो वे नबी (सल्ल.) को दिया करते थे तो मैं उसकी ख़ातिर उनसे लड़ूँगा।"
>
> (हदीस : मुस्लिम, भाग-1, किताबुल-ईमान)

"मेरे हवाले करने से रोक रखी" के शब्द स्पष्टतः बता रहे हैं कि ज़कात अनिवार्यतः हुकूमत के हवाले होनी चाहिए और 'लड़ूँगा' के शब्द बताते हैं कि इस आदेश का उल्लंघन राज्य से बग़ावत करना है, जिसका परिणाम निश्चय ही न संसार में अच्छा होगा न आख़िरत (परलोक) में। निस्सन्देह ख़िलाफ़ते-राशिदा के दौर की कुछ ऐसी मिसालें भी मिलती हैं कि कुछ क़बीलों को इस आदेश से अलग रखा गया था और उन्हें अपने यहाँ की ज़कातें अपने तौर पर ग़रीबों में वितरित कर देने का अधिकार दे दिया गया था। किन्तु स्पष्ट है कि उन्हें जो एक छूट दी गई थी, वे आप से आप इस छूट के अधिकारी नहीं हो गए थे। अर्थात् यह स्वयं शासन की इच्छा के ही द्वारा

ज़कात के एकत्र करने और वितरित करने की एक विशिष्ट व्यवस्था थी जो कुछ निहित उद्देश्यों और सहूलतों के लिए अपनाई गई थी।

ज़कात के लिए ऐसी उच्च सामूहिक व्यवस्था क्यों ज़रूरी ठहराई गई है? इसके दो ही कारण समझ में आते हैं:–

1. एक तो यह कि इस्लाम की प्रवृत्ति की यही अपेक्षा थी, जो असाधारण रूप से सामूहिकता और सामाजिकता प्रिय है, और ऐसी इसलिए है कि वह जो कुछ संसार को देना चाहता है उसे संसार इसके बिना पा ही नहीं सकता कि उसके अनुयायी एक सुदृढ़ और व्यवस्थित पार्टी के रूप में रहें और जहाँ तक हो सके उनका कोई काम अनुशासन और सामाजिकता से विलग न रहे।

2. दूसरे यह कि ग़रीबों के हितों का और 'दीन' (धर्म) की सुरक्षा और फैलाव की मस्लहतों की सन्तोषजनक रक्षा इसी में हो सकती थी, क्योंकि जैसाकि बताया जा चुका है कि यह ख़तरा बहरहाल एक अमली ख़तरा था कि कहीं मालदारों का कर्त्तव्य-बोध कभी ठण्डा न पड़ जाए और उनकी सम्पत्तियों में धर्म का और ग़रीबों का जो हक़ है उससे वे ग़फ़लत न बरत जाएँ। इस ख़तरे का ठीक-ठीक निवारण इसी तरह सम्भव था कि इस हक़ को क़ानून और सरकार का संरक्षण अनिवार्यत: प्राप्त हो और वह उसके वुसूल करने की ज़िम्मेदार बना दी जाए।

अगर ज़कात की सामूहिक व्यवस्था के ये निहित लाभ सामने हों तो इन्हीं से इस प्रश्न का उत्तर भी मिल जाएगा कि ज़कात के अदा करने की सूरत उस समय क्या होगी जब इस्लामी शासन की संस्था मौजूद न हो? नमाज़ की इक़ामत चाहती है कि इमामत के लिए मुसलमानों का ख़लीफ़ा या उसका कोई नायब (सहायक) मौजूद हो। ख़ास तौर से जुमा और दोनों ईदों की नमाज़ों की इक़ामत। लेकिन ऐसे किसी इमाम के मौजूद न होने का मतलब कभी यह नहीं समझा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में नमाज़ हर व्यक्ति स्वयं ही पढ़ लिया करे, बल्कि ज़रूरी समझा गया है कि मुहल्ले और बस्ती के तमाम मुसलमान अपनी एक छोटी-सी और स्थानीय सामूहिक व्यवस्था क़ायम कर लें और

अपने में से एक व्यक्ति को इमाम बनाकर नमाज़ को जमाअत ही के रूप में अदा किया करें। ठीक यही मामला ज़कात का भी है। अगर सरकार की संस्था मौजूद न हो, जो समस्त लोगों की ज़कातें वुसूल करके उसका वितरण कर सके, तो इस्लाम का मिज़ाज और उसके मौलिक आदेश तो मौजूद हैं। उन्हें अपेक्षित यह है कि मुस्लिम बस्तियाँ जिस प्रकार अपनी नमाज़ों के लिए मसजिद की, जमाअत की और इमामत की व्यवस्था करती हैं, उसी प्रकार अपनी ज़कातों के लिए भी बैतुल-माल (कोश) स्थापित करें और पूरी बस्ती की ज़कातें एकत्र करके उन्हें ज़रूरतमंदों और उसके हक़दारों तक पहुँचाने का प्रबन्ध करें, ताकि इस्लाम के इस महत्वपूर्ण स्तम्भ का जो उद्देश्य है वह शासन के न होने पर भी उतना तो अवश्य पूरा होता रहे, जितना कि पूरा किया जा सकता हो। अगर ऐसा न किया गया तो यह एक सामुदायिक ग़लती होगी।

ज़कात, सद्क़े और इन्फ़ाक़ की विभिन्न परिभाषाएँ

इस्लाम ने 'ज़कात' के लिए दो शब्द और प्रयोग किए हैं — एक 'सदक़ा' का दूसरा 'इन्फ़ाक़ फ़ी सबीलिल्लाह' का, जैसा कि ऊपर के उद्धरणों में आप अभी देख भी आए हैं। ज़कात का शाब्दिक अर्थ क्या होता है, यह बात शुरू में गुज़र चुकी है। अब इन दूसरे शब्दों को भी समझ लेना चाहिए । 'सदक़ा' शब्द 'सिद्क़' से बना है, जिसका अर्थ, सच्चाई और निष्ठा होता है। मानो 'ज़कात' को 'सदक़ा' इसलिए कहा गया है कि वह ज़कात देनेवाले के ईमान में सच्चाई और निष्ठा भी पैदा करती है और उसके मौजूद होने की दलील भी होती है। इसी प्रकार 'इन्फ़ाक़ फ़ी सबीलिल्लाह' के मानी हैं, अल्लाह के मार्ग में ख़र्च करना। यह अभी जाना जा चुका है कि ज़कात का मूल प्रेरक भाव अल्लाह की प्रसन्नता की चाह है। गोया ज़कात को 'इन्फ़ाक़ फ़ी सबीलिल्लाह' अगर कहा गया है तो इसलिए ताकि इसके मूल प्रेरक भाव की ओर संकेत हो जाए। इस प्रकार ये तीनों शब्द एक ही चीज़ के मात्र तीन विभिन्न नाम ही नहीं है, बल्कि उसकी वास्तविकता और सार्थकता के विविध पक्षों को चित्रित भी करते हैं।

जहाँ तक क़ुरआन मजीद का सम्बन्ध है उसमें ये तीनों शब्द आम तौर से

एक ही अर्थ में इस्तेमाल किए गए हैं। अल्लाह तआला की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए जो कुछ भी ख़र्च किया जाए वह 'ज़कात' भी है, 'सद्क़ा' भी है और 'इन्फ़ाक़ फ़ी सबीलिल्लाह' (अल्लाह की राह में ख़र्च करना) भी है। चाहे यह ख़र्च 'ज़कात' के क़ानूनी मुतालबे से सम्बन्धित हो, चाहे नैतिक अपेक्षा से। इनमें से कोई शब्द क़ानूनी या नैतिक अर्थात फ़र्ज़ या नफ़्ल ख़र्च करने के लिए इस तरह विशिष्ट नहीं है कि दूसरे के लिए वह बोला ही न जा सके। इसका करण यह है कि क़ुरआन और हदीस की दृष्टि अधिकतर वास्तविकता और मूल उद्देश्य पर हुआ करती है न कि विषयों व समस्याओं के क़ानूनी पहलुओं पर। लेकिन इस्लामिक धर्मशास्त्र (फ़िक़ह) ने इन शब्दों के बीच अन्तर कर रखा है। उसकी भाषा में ज़कात केवल उस देने और ख़र्च करने को कहते हैं, जो अनिवार्य (फ़र्ज़) और क़ानूनन ज़रूरी हो और 'सद्क़ा' और 'इन्फ़ाक़ फ़ी सबीलिल्लाह' की परिभाषाएँ साधारणत: स्वेछापूर्वक ख़र्च करने के लिए ख़ास हैं। स्पष्ट है फ़िक़ह (इस्लामी धर्मशास्त्र) क़ानून का ही दूसरा नाम है, इसलिए इस तरह का पारिभाषिक अन्तर करना उसके लिए ज़रूरी भी था, लेकिन क़ुरआन और हदीस का मामला इससे कुछ भिन्न है।

4. रोज़ा

इस्लाम का चौथा स्तम्भ रोज़ा है। रोज़े का शरीअत में पारिभाषिक नाम 'सौम' या 'सियाम' है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है – रुकना या ठहरना। इस अमल को सियाम इसलिए कहा गया है कि इसमें इनसान सुबह की पौ फटने से लेकर सूरज छिपने तक खाने-पीने और संभोग से रुका रहता है।

रोज़े का विशेष महत्त्व और निहित लाभ

रोज़े के सिलसिले में आदेश और हिदायतें क़ुरआन और अल्लाह के रसूल (सल्ल.) ने दी हैं। इनपर नज़र डालिए तो मालूम होगा कि उसमें अनेक धार्मिक महत्त्व और निहित लाभ पाए जाते हैं, जिनमें से कुछ की हैसियत मौलिक और मौलिक से भी आगे बढ़कर विशिष्ट प्रकार की है। रोज़े को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसके इन मौलिक और विशिष्ट महत्त्वों

और निहित लाभों को समझ लिया जाए। ये महत्त्व और निहित लाभ निम्नलिखित हैं:–

(1) रोज़ा तक़वा (परहेज़गारी) का स्रोत

सबसे पहली और सबसे स्पष्ट चीज़ तो यह है कि रोज़ा इनसान में ईश-भय का गुण और तक़वा (परहेज़गारी) का जौहर पैदा करता है। इस सम्बन्ध में क़ुरआन, हदीस और बुद्धि सबकी गवाहियाँ आपको मौजूद मिलेंगी। अतएव, क़ुरआन मजीद ने रोज़े के फ़र्ज़ होने की घोषणा की है। उसमें यह वास्तविकता स्पष्टत: उल्लिखित है–

> "ऐ ईमान लानेवालो! तुमपर रोज़ा फ़र्ज़ (अनिवार्य) किया गया है, जिस प्रकार कि तुमसे पहले के लोगों पर फ़र्ज़ किया गया था। ताकि तुम्हारे अन्दर तक़वा पैदा हो सके।" (क़ुरआन, 2:183)

इसी प्रकार नबी (सल्ल.) कहते हैं –

> "रोज़ा (दुनिया में गुनाहों से और आख़िरत में दोज़ख़ से बचानेवाली) ढाल है।" (हदीस : मुस्लिम, भाग-1)

"रोज़ा गुनाहों से बचानेवाली ढाल है।" इस वाक्य का अर्थ ठीक वही है जो इस बात का है कि रोज़ा इनसान में तक़वा का गुण पैदा करता है। इसी क्रम में आगे और आदेश है कि –

> "अत: जब तुममें से किसी का रोज़ा हो तो चाहिए कि वह न कोई अश्लीलता की बात करे, न शोर मचाए और अगर कोई उससे गाली-गलौज करने या लड़ने-भिड़ने पर उतर आए तो (उससे भी और अपने जी में भी) कहे कि मैं रोज़े से हूँ, मैं रोज़े से हूँ।"
>
> (हदीस : मुस्लिम, भाग-1)

अभिप्रेत यह कि यद्यपि दुर्वचन, गाली-गलौज और लड़ाई-झगड़े आदि बुरी हरकतों से बचना एक ईमानवाले के लिए हर हाल में ज़रूरी है, किन्तु जब वह रोज़े से हो तो शान्तिपूर्वक रहने की यह नीति उसके लिए और अधिक

आवश्यक हो जाती है। आम परिस्थितियों में अगर वह इस प्रकार की ग़लतियों से पूरी तरह बचा नहीं रह पाता, तो कम से कम रोज़े की हालत में तो उसे उनके निकट कदापि नहीं जाना चाहिए। नबी (सल्ल.) का यह फ़रमाना वास्तव में इस बात की उद्घोषणा है कि रोज़ा सदाचरण और ईशभय का सर्वमान्य उपाय है, और ऐसा उपाय कि जिसकी प्रभाव-शक्ति किसी न किसी पहलू से अपनी उदाहरण आप है।

इन सुस्पष्ट क़ुरआन की आयतों और हदीसों के प्रमाणों के बाद यद्यपि किसी और दलील की बिलकुल ही ज़रूरत नहीं, लेकिन दिल के और अधिक इत्मीनान के लिए उचित है कि बुद्धि की दृष्टि से भी इस वास्तविकता का अवलोकन कर लिया जाए और यह समझ लिया जाए कि रोज़े से तक़वा (ईशभय व संयम) क्यों और किसी प्रकार पैदा होता है?

इस सन्दर्भ में सबसे पहले यह जान लेना ज़रूरी है कि स्वयं यह 'तक़वा' क्या चीज़ है? यह जान लेने के बाद ही यह समझा जा सकेगा कि रोज़े से तक़वा किस तरह पैदा होता है। तक़वा अल्लाह की अप्रसन्नता से बचने के उस गहरे एहसास का नाम है, जो व्यक्ति को हर भले काम पर उभारता और हर बुरे काम से रोकता रहता है। या इसे यूँ कहिए कि तक़वा एक विशिष्ट हृदय-भाव है, जिससे एक विशिष्ट व्यावहारिक आचरण वुजूद में आता है। यह व्यावहारिक आचरण अल्लाह के आज्ञानुपालन और उसकी प्रसन्नता की चाह का आचरण होता है। इस विशिष्ट भाव से जो हृदय परिपूर्ण होता है वह हर वक़्त यह देखता रहता है कि मेरा ख़ुदा मुझसे नाराज़ न होने पाए। मैं कोई ऐसा बुरा काम न कर जाऊँ जिसको वह पसन्द नहीं करता और किसी ऐसे काम के करने से वंचित न रह जाऊँ जिसे वह पसन्द करता है।

अल्लाह की अप्रसन्नता से बचने की और उसकी प्रसन्नता प्राप्त कर लेनी की यह अभिलाषा और कोशिश — सोचिए — व्यावहारतः कब पूरी हो सकती है। स्पष्ट रूप में अभिलाषा और कोशिश उसी समय पूरी हो सकती है जब मानव अपने आपको नियंत्रित रखे और अपने मन को मनमानी करने से रोके रहे। मानो 'तक़वा' का मक़ाम पा लेने का एक मात्र मार्ग यह है कि व्यक्ति अपने मन को लगाम लगाए और अपनी इच्छाओं में उसे स्वतन्त्र न

छोड़े। जैसाकि क़ुरआन मजीद की इस आयत से स्पष्टतः मालूम होता है –

> "रहा वह व्यक्ति जिसने अपने दिल में यह भय रखा कि उसे अपने 'रब' (प्रभु) के सामने खड़ा होना है और उसने अपने मन को बुरी इच्छाओं की पैरवी से रोका, तो निश्चय ही उसका जन्नत ही ठिकाना होगी।
>
> (क़ुरआन, 79:40-41)

अब रोज़े को देखिए कि वह क्या चीज़ है। रोज़े का मौलिक और वैधानिक अस्तित्व तीन बातों पर निर्भर करता है :

1. पौ फटने से सूरज डूबने तक कुछ न खाया जाए,
2. कुछ न पिया जाए, और
3. कामेच्छा पूरी न की जाए।

अर्थात यह कि खाने, पीने और यौन सम्पर्क — मन की इन तीन इच्छाओं को पूरा करने से पूरी तरह रुका रहा जाए। इन तीनों चीज़ों को मन की सभी इच्छाओं में जो महत्त्व प्राप्त है, उसके आधार पर कहा जा सकता है मन की सभी इच्छाएँ इन्हीं के अन्दर सिमटकर आ गई हैं। मन की किसी ऐसी इच्छा का नाम नहीं लिया जा सकता जो इतनी व्यापक और प्रबल हो, जितनी की ये हैं। एक तो स्वयं इनमें ऐसी बड़ी शक्ति है कि वे इनसान को सरलता से अपने बस में कर लेती हैं। दूसरे वे इच्छाएँ ही नहीं, बल्कि मानव की स्वाभाविक ज़रूरतें भी हैं। इन्हीं पर व्यक्ति का अस्तित्व भी निर्भर करता है और इन्ही से मानवजाति बाक़ी है। उसे जीवित रहने के लिए खाने-पीने की और अपनी नस्ल का क्रम जारी रखने के लिए यौन-सम्बन्ध की हर हाल में आवश्यकता है। इन चीज़ों की यह दोहरी हैसियत इनकी शक्ति और प्रभाव को भी अत्यन्त प्रबल बना देती है और उनका मुक़ाबिला कठिन से कठिन हो जाता है। रोज़े में इन्हीं तीन सबसे प्रबल इच्छाओं पर रोक लगा दी जाती है और निरन्तर एक महीने तक प्रतिदिन बारह-बारह और चौदह-चौदह घण्टे तक इनसान अपने मन की इन इच्छाओं पर ताला डाले रहता है। प्यास की तेज़ी से हलक़ में कांटे पड़े होते हैं, मुँह से आवाज़ तक अच्छी तरह निकल नहीं पाती, ठण्डा पानी पास रखा रहता है, मन बेक़ाबू होकर उसे होटों से लगा

लेना चाहता है, मगर रोज़ा उसका हाथ पकड़ लेता है और वह बेबस होकर रह जाता है। कुछ यही स्थिति दूसरी दोनों इच्छाओं की भी होती है। अनुमान कीजिए कि लगातार तीस दिनों का यह प्रशिक्षण इनसान में धैर्य और स्थिरता की कैसी कुछ शक्ति न पैदा कर देगा? जो व्यक्ति अपनी इन सबसे अधिक प्रबल और आतुर इच्छाओं को भी एक लम्बी अवधि तक दबाए रखने का अभ्यस्त हो जाता है, उससे आशा यही रखी जाएगी कि वह अपनी दूसरी इच्छाओं को और अधिक सरलता और कामयाबी के साथ अपने वश में रख सकेगा। यह एक ऐसी स्पष्ट वास्तविकता है जिसके मानने से इनकार नहीं किया जा सकता और इस वास्तविकता को मान लेना वस्तुतः इस बात को मान लेना है कि रोज़ा इनसान के अन्दर अपने मन को और उसकी समस्त इच्छाओं को नियंत्रित करने की पूरी शक्ति पैदा कर देता है, ऐसी शक्ति जिसको पाकर वह धर्म की पैरवी और अल्लाह के आदेशों के अनुपालन में मन की बुरी इच्छाओं और शैतान के समस्त अवरोधों से ख़ूबी के साथ निपट सकता है। अर्थात् वह सही अर्थों में एक ईशपरायण और संयमी मानव बन जाता है।

इसके अतिरिक्त एक कारण और भी है जिससे रोज़े तक़वा (संयम) का असाधारण साधन सिद्ध होते हैं और जिसकी ओर स्वयं नबी (सल्ल.) ने इन शब्दों में स्पष्टतः संकेत किया है –

"रोज़े में दिखावा नहीं हुआ करता।" (फ़तहुल बारी, भाग-4, पृ. 91)

किसी इबादत में दिखावे का न होना इस बात की सबसे बड़ी ज़मानत है कि वह बन्दे को ख़ुदा के क़रीब करनेवाली है और यह कि ऐसी इबादत से अधिक ईशपरायणता का विश्वसनीय स्रोत और कोई नहीं हो सकता। ग़लत न होगा अगर उसे तक़वा की सबसे अधिक शक्तिदायक ख़ुराक कहा जाए। ख़ुदा के रसूल (सल्ल.) के अनुसार जब रोज़े का यह एक स्थाई गुण है कि उसमें दिखावा नहीं हो सकता, तो उसके तक़वा का अत्यन्त प्रभावशाली साधन होने में क्या सन्देह किया जा सकता है? अगर वे इबादतें, जिनमें दिखावे की सम्भावना होती रहती है, उनके द्वारा भी इनसान तक़वा की दौलत से मालामाल हो सकता हो तो कोई सन्देह नहीं कि इस इबादत (रोज़ा) के

द्वारा ऐसा अवश्य ही होगा जो दिखावे के रोग से पाक ही रहती है।

यह बात कि रोज़े में दिखावा क्यों नहीं हो सकता ?— कोई छिपा हुआ राज़ नहीं है, बल्कि आसानी से समझ में आ जानेवाली सच्चाई है। सभी जानते हैं कि रोज़ा एक ऐसी इबादत है जो सर्वथा निषेधात्मक है। यानी उसका आविर्भाव कुछ कर्म या क्रियाओं के करने से नहीं होता (जैसा कि नमाज़ और ज़कात और हज का हाल है), बल्कि कुछ कामों के न करने से वुजूद में आता है। ज़ाहिर बात है कि इस तरह की इबादत दूसरों के न देखने में आ सकती है न सुनने में। जब किसी इबादत का हाल यह हो कि उसे कोई न देख सकता हो, न सुन सकता हो, तो उसमें दिखावे की कोई सम्भावना भी कहाँ से उत्पन्न हो सकती है। इसलिए इस्लाम के सारे अरकान (स्तंभों) में यह विशिष्टता केवल एक 'रोज़े' ही को प्राप्त है कि दिखावे का ख़तरनाक शैतान उसपर धोखे से अचानक आक्रमण नहीं कर सकता।

ज़ाहिर में रोज़े की यही विशिष्ट स्थिति थी जिसके आधार पर क़ुरआन मजीद ने "लअल्लकुम तत्तक़ून" (ताकि तुम्हारे अन्दर तक़्वा पैदा हो सके) अगर फ़रमाया है तो केवल रोज़े के हुक्म के साथ फ़रमाया है। किसी और इबादत के हुक्म के साथ इन शब्दों को नहीं दोहराया है। यद्यपि यह अपनी जगह मानी हुई सच्चाई थी कि इनसान में नेकी का जौहर और तक़्वा का नूर हर इबादत पैदा करती है। फिर सम्भवतः रोज़े की यही विशिष्ट हैसियत थी जिसकी वजह से अल्लाह ने ख़ास इसी एक इबादत को 'अपना' या 'अपने लिए' फ़रमाया है और प्रतिफल व सवाब (पुण्य) के तराज़ू में भी इसे सबसे अधिक वज़नी ठहराया है। नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं –

> "इनसान के प्रत्येक सुकर्मों का प्रतिफल दस गुने से लेकर सात सौ गुने तक मिलेगा। अल्लाह तआला फ़रमाता है कि लेकिन रोज़ा इससे भिन्न है – क्योंकि वह मेरे लिए है और मैं ही उसका (जितना चाहूँगा) बदला दूँगा। आख़िर इनसान अपनी काम-वासनाओं और अपने खाने-पीने को मेरी ही ख़ातिर तो रोके रहता है।" (हदीस : मुस्लिम खण्ड-1)

"रोज़ा मेरे लिए है।" यह वचन वास्तव में इसी सच्चाई की एक

मनभावन अभिव्यक्ति है कि रोज़े में दिखावा नहीं हुआ करता।

अगर रोज़े का मक़सद यह है कि इनसान में ईशभय का गुण पैदा हो, जैसाकि मालूम हुआ, तो इसका अर्थ यह है कि यही ईशभय रोज़े की असल कसौटी भी है। रोज़े की परिभाषा और उसका क़ानूनी अस्तित्व यदि यह है कि व्यक्ति खाने-पीने और यौन-सम्पर्क से दूर रहे, तो उसकी वास्तविकता और उसका वास्तविक वुजूद यह है कि उन समस्त बातों से दूर रहा जाए जो अल्लाह को नाराज़ करनेवाली हों। अगर एक व्यक्ति रोज़ा रखकर अपनी मात्र इन्हीं तीन इच्छाओं को नियंत्रित नहीं करता, बल्कि अपनी सारी इच्छाओं को ख़ुदा के आदेशों के नियंत्रण में दे देता है, तो वह वास्तविक अर्थों में रोज़ेदार है। लेकिन अगर वह ऐसा नहीं करता तो उसका रोज़ा रोज़ा नहीं, बल्कि केवल फ़ाक़ा (भूखे रहना) है। क्योंकि खाने-पीने और यौन सम्बन्धों से बचना ही असल रोज़ा नहीं है, बल्कि असल रोज़े का मात्र ज़ाहिर रूप और वैधानिक लक्षण है। अगर कोई व्यक्ति इस ज़ाहिरी और क़ानूनी सीमा ही तक जाकर रुका रहा तो उसका मामला इसके सिवा और कुछ नहीं कि वह रोज़े के घर के चारों ओर घूमकर वापस चला आया, उसमें प्रवेश किया ही नहीं। नबी (सल्ल.) स्पष्टत: फ़रमाते है कि–

> ''कितने ही रोज़ेदार ऐसे हैं जिनके पल्ले अपने रोज़े से प्यास के सिवा और कुछ नहीं पड़ता।'' (हदीस : दारमी)

ये तथाकथित रोज़ेदार किस प्रकार के लोग होते हैं ? अल्लाह के रसूल (सल्ल.) के एक-दूसरे कथन से स्पष्ट होता है –

> ''जिस किसी ने (रोज़े की हालत में) झूठ बोलना और झूठ पर अमल करना न छोड़ा वह जान ले कि अल्लाह को इस बात की कोई ज़रूरत न थी कि वह व्यक्ति बस अपना खाना-पीना छोड़ दे।'' (हदीस : बुख़ारी)

इन कथनों से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि केवल मन की इन तीन माँगों पर रोक लगाने का उद्देश्य वास्तव में उसकी समस्त इच्छाओं पर नियंत्रण प्राप्त कर लेना है। इसलिए अगर कोई व्यक्ति इस अभ्यास और प्रशिक्षण के द्वारा अपने मन को लगाम न लगा सका और रोज़े की हालत में

भी उसकी शरारतें जारी रहीं तो यह इस बात का प्रमाण होगा कि उसने रोज़े के मक़सद को ही नहीं समझा और अगर समझा तो उसे अपनाया नहीं, और जब उसने रोज़े के मक़सद को समझा या अपनाया नहीं तो कोई सन्देह नहीं कि वह रोज़ा रखकर भी बेरोज़ेदार रहा और हक़ीक़त के एतिबार से उसमें और एक बेरोज़ादार व्यक्ति में कोई अन्तर न होगा।

(2) रोज़ा तक़वा का अनिवार्य साधन

रोज़े का दूसरा बड़ा महत्त्व यह है कि वह इनसान के अन्दर तक़वा का अभीष्ट गुण पैदा करने के लिए अनिवार्य है। अर्थात् बात केवल इतनी ही नहीं कि रोज़ा तक़वा पैदा करता है, बल्कि यह भी है कि इसके बिना सही तक़वा पैदा हो ही नहीं सकता। निस्सन्देह ऐसी बहुत सी चीज़ें हैं जो तक़वा को बढ़ाती हैं, किन्तु रोज़ा इस विषय में जो भूमिका निभाता है वह उसी का हिस्सा है, दूसरा कोई कर्म उसका स्थान नहीं ले सकता। यह हक़ीक़त हमें उपर्युक्त आयत के शब्द — ''तुमपर रोज़े अनिवार्य किए गए जिस प्रकार तुमसे पहले के लोगों पर किए गए थे'' – के अन्दर से झलकती दिखाई देती है। इस आयत का आशय यदि केवल यह बताना होता कि रोज़े मुसलमानों पर इसलिए अनिवार्य किए गए हैं, ताकि उनमें तक़वा का गुण पैदा हो सके, तो इन शब्दों के बढ़ाने की कदापि कोई आवश्यकता न थी। इसलिए कि इस स्थिति में इन शब्दों की अभिवृद्धि इतिहास के एक वृत्तांत को व्यक्त करने व उल्लेख करने से अधिक कोई हैसियत नहीं रखती। यद्यपि हम सब जानते हैं कि क़ुरआन मजीद मात्र इतिहास लेखन से बहुत उच्च है और वह उस समय तक कोई एक शब्द भी नहीं बोलता जब तक कि उससे कोई दीनी (धार्मिक) प्रयोजन न जुड़ा हो। इसलिए इन शब्दों के बारे में भी यही समझा जाना चाहिए कि इनकी अभिवृद्धि निश्चय ही किसी न किसी धार्मिक प्रयोजन ही से की गई है। यह धार्मिक प्रयोजन इसके सिवा और कुछ नहीं हो सकता कि साथ ही तक़वा हासिल करने के बारे में रोज़े की अनिवार्य आवश्यकता भी स्पष्ट हो जाए। लोगों को रोज़े के अनिवार्य होने और उसके प्रयोजन व उद्देश्य के साथ यह भी मालूम हो जाए कि तक़वा के अपेक्षित मक़ाम तक पहुँचने के लिए रोज़े हर हालत में ज़रूरी हैं। कोई भी दूसरी चीज़ इस सम्बन्ध में वह काम नहीं

कर सकती जिसे यह रोज़ा कर सकता है। अगर ऐसा न होता तो रोज़ा प्रत्येक आसमानी शरीअत का स्तम्भ न बनता रहता। अगर कोई शरीअत इससे ख़ाली नहीं रखी गई तो यह इस बात का प्रमाण है कि अल्लाह के 'दीन' के साथ नमाज़ और ज़कात की तरह रोज़े को भी एक स्वाभाविक अनुकूलता प्राप्त है और इसके बिना इस्लाम की प्रशिक्षण सम्बन्धी उपासना-व्यवस्था किसी प्रकार परिपूर्ण हो ही नहीं सकती।

यह बात कि रोज़े तक़वा का अपेक्षित जौहर पैदा करने के लिए क्यों अनिवार्य हैं ? तो इसे समझने के लिए हमें पिछली बहस को एक बार फिर पढ़ लेना चाहिए जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि रोज़ा इनसान के अन्दर तक़वा किस तरह पैदा करता है ? यह बात कि रोज़ा मानव-जीवन में आत्म-नियंत्रण पैदा करने का बड़ा प्रभावकारी साधन और बहुत निकट का मार्ग है और यह वास्तविकता कि रोज़ा ही एक ऐसी इबादत है जिसमें दिखावा शामिल नहीं हो सकता – ये दोनों चीज़ें इस मर्म व रहस्य को समझा देने के लिए बहुत कुछ पर्याप्त हैं। वे इस रहस्य को — अगर पूरी तरह नहीं तो एक बड़ी हद तक —अवश्य खोल देती हैं कि आम इनसान के लिए रोज़े क्यों अनिवार्य हैं ? ज़ेहन की बाक़ी गिरहें, अगर अल्लाह ने चाहा तो, उस वार्ता से खुल जाएँगी, जो आगे आ रही है।

(3) रोज़ा : इस्लामी धारणा का दर्पण

रोज़े का तीसरा विशेष महत्त्व यह है कि वह कुछ पहलुओं से इस्लाम के मूल स्वभाव का सबसे बड़ा प्रतीक है और 'दीन' की जो धारणा क़ुरआन ने प्रस्तुत की है, उसकी विशिष्ट रूपरेखा रोज़े के दर्पण में सबसे अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देती है। इसका अर्थ यह हुआ कि रोज़ा मानव को केवल कर्म ही की दृष्टि से संयमी और ईशभय रखनेवाला नहीं बनाता, बल्कि विचार व धारणा की दृष्टि से भी उसमें तक़वा पैदा करता है। वह इनसान को केवल तक़वा नहीं देता, बल्कि तक़वे का व्यापक और अर्थपूर्ण भाव भी देता है। इस संक्षेप का विवरण या इसकी वास्तविकता का पता हमें नबी (सल्ल.) के इन कथनों से मिलता है –

(1) "जिसने जीवन भर निरन्तर रोज़े रखे, उसका रोज़ा, रोज़ा नहीं।"

(हदीस : बुख़ारी, खण्ड-1)

(2) "तुम्हें दो या दो से अधिक दिनों को मिलाकर (बिना सहरी व इफ़्तार किए) रोज़ा रखने से पूरी तरह बचना चाहिए।"

(हदीस : बुख़ारी, खण्ड-1)

(3) एक सफ़र में नबी (सल्ल.) ने देखा कि लोगों की एक भीड़ इकट्ठी है और एक व्यक्ति के ऊपर छाया की हुई है। आप (सल्ल.) ने उनसे पूछा – "क्या मामला है ?" बताया गया – "एक रोज़ेदार है।" यह सुनकर आप (सल्ल.) ने फ़रमाया – "यह कोई नेकी का काम नहीं है कि सफ़र में (इस प्रकार का) रोज़ा रखा जाए (जिसकी तकलीफ़ें सामान्य सहनशक्ति से बाहर हों।)" (हदीस : बुख़ारी, खण्ड-1)

(4) मदीना से बाहर के रहनेवाले एक सहाबी (रज़ि.) नबी (सल्ल.) की सेवा में उपस्थित हुए। भेंट की और वापस चले गए। एक साल बाद दोबारा आए, और अब जो आए तो इस हाल में थे कि उनका रूप-रंग बिलकुल बदला हुआ था। उन्होंने आप (सल्ल.) से पूछा कि – "ऐ अल्लाह के रसूल ! क्या आप मुझे पहचान नहीं रहे हैं ?" आप (सल्ल.) ने पूछा – "तुम कौन हो ?" उत्तर दिया, "मैं वही व्यक्ति हूँ, जो पिछले साल आपकी सेवा में हाज़िर हुआ था।" फ़रमाया, "किस चीज़ ने तुम्हारा रूप-रंग बदलकर रख दिया है ? तुम तो बड़ी अच्छी शक्ल व सूरत के थे।" उन्होंने बताया कि यहाँ से वापस जाने के बाद आज तक मैंने रात के सिवा कभी खाना नहीं खाया (अर्थात् निरन्तर रोज़े रखता रहा।)" यह सुनकर नबी (सल्ल.) ने फ़रमाया – "तुमने अपने को क्यों अज़ाब दिया ?" (हदीसः अबूदाऊद, खण्ड-1)

इन फ़रमानों के शब्दों पर तनिक ध्यान से विचार कीजिए तो मालूम होगा कि रोज़ा पैग़म्बर की ज़बान से धार्मिकता की एक क्रांतिकारी धारणा को अभिव्यक्त कर रहा है। वह ज़ोर देकर कह रहा है कि जो तक़वा मेरे द्वारा प्राप्त

करना अभीष्ट है उसका आशय मन का दमन नहीं, बल्कि केवल उसका नियंत्रण है। मानो रोज़ा केवल तक़वा ही पैदा नहीं करता, बल्कि उसके एक ऐसे तथ्य को भी समझाता है, जो साधारणतया बहुत कम समझा और जाना जाता है। क्योंकि 'तक़वा' का शब्द सुनते ही ज़ेहनों के अन्दर साधारणतया कुछ इस प्रकार की अवधारणा आने लगती है कि मानव अपनी इच्छा की माँगों को ठुकरा देने में जितना अधिक से अधिक आगे बढ़ता जाएगा, अपनी इच्छाओं को जितना अधिक मारेगा 'तक़वा' का उतना ही ऊँचा मक़ाम वह प्राप्त कर लेगा।

अल्लाह के रसूल (सल्ल.) के ये फ़रमान कहते हैं और स्वयं रोज़े का अमल बताता है कि इस्लाम में तक़वा का जो अर्थ है वह इससे बिलकुल भिन्न चीज़ है। वह जिस प्रकार के कर्म की इनसान से माँग करता और जिस चीज़ को बिर्र (नेकी) और तक़वा (ईशभय) ठहराता है, वह केवल यह है कि इनसान अपने मन को मर्यादाहीन न होने दे और उन्हें मनमानी करने से रोककर शरीअत के आदेशों का अनुपालक बनाए रखे, यह नहीं है कि उसे कष्ट दे-देकर निर्बल बना ले और उसकी फ़ितरी और स्वाभाविक माँगों और ज़रूरतों को पूरी तरह ख़त्म करके रख दे। दूसरों के निकट यह दीनदारी की चाहे कितनी ही ऊँची और पवित्र अवधारणा क्यों न हो, इस्लाम के निकट बिलकुल एक अप्रिय चीज़ है। वह इसे वास्तविक धार्मिकता और सही बन्दगी का तरीक़ा नहीं कहता। उसकी धार्मिक अवधारणा के अनुसार यह तक़वा नहीं है, बल्कि अपने आपको अज़ाब देना व उत्पीड़ित करना है। रोज़े की प्रक्रिया इस बात को निरन्तर याद दिलाती रहती है।

अब अल्लाह के रसूल (सल्ल.) के कुछ फ़रमान और सुनिए। आप (सल्ल.) फ़रमाते हैं –

(1) सहरी खा लिया करो, क्योंकि सहरी खाने में बरकत है।

(हदीस : मुस्लिम, खण्ड-1)

(2) जब तक लोग इफ़्तार करने में जल्दी करते रहेंगे, भलाई में रहेंगे।

(हदीस : मुस्लिम, खण्ड-1)

(3) 'दीन' उस समय तक प्रभावी रहेगा, जब तक लोग इफ़्तार करने में जल्दी करते रहेंगे। (हदीस : अबू दाऊद खण्ड-1)

(4) अल्लाह तआला फ़रमाता है कि मेरा सबसे प्रिय बन्दा वह है, जो इफ़्तार करने में सबसे अधिक जल्दी करता है। (हदीस : तिरमिज़ी, खण्ड-1)

पिछली हदीसों से जो महत्त्वपूर्ण और क्रांतिकारी वास्तविकता उभरकर सामने आई थी, ये हदीसें उसको और अधिक स्पष्ट कर रही हैं, बल्कि यह कहना चाहिए कि इसके पूरे अर्थ को उजागर कर देती हैं। उन हदीसों के द्वारा यदि यह बात मालूम हुई थी कि तक़वा का आशय मनेच्छा का दमन नहीं, बल्कि केवल उसका नियंत्रण है, तो इन हदीसों के द्वारा इस मन के नियंत्रण की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि इसमें – मन और रुचियों का नियंत्रण भी सम्मिलित है। अर्थात् जिस प्रकार अपने मन को अल्लाह के आदेशों के अधीन रखा जाए उसी तरह अल्लाह के आदेशों की पैरवी करने में अपनी रुचि, अपनी तबीअत और अपनी राय को भी किसी प्रकार दख़ल देनेवाला न बनाया जाए। वास्तविक 'तक़वा' का असल मक़ाम केवल इतनी बात से हासिल नहीं हो सकता कि मन को ख़ुदा तथा रसूल (सल्ल.) के आदेशों के विरोध से रोका जाए, बल्कि इसके लिए यह भी ज़रूरी है कि उन आदेशों के अनुपालन और अल्लाह की प्रसन्नता की चाह में अपनी राय अपनी प्रवृत्ति और अपनी रुचि को उस समय कुछ बोलने का अधिकार न दिया जाए जबकि वे देखने में ख़ुदापरस्ती के पक्ष में जाती प्रतीत होती हों। इनसान को ख़ुदा की बन्दगी, नकारात्मक और स्वीकारात्मक हर हैसियत से ठीक उसी रूप में करनी चाहिए जिसका उसे ऊपर से आदेश मिला हो। वह जिस प्रकार अपने मन की उन इच्छाओं को दीवार पर दे मारता है, जो उसे 'दीन' के आदेशों के पालन से रोक रही हों, उसी प्रकार चाहिए कि उन आदेशों के अनुपालन की शक्लें और हदें मुक़र्रर करने में अपने जी की कोई बात न सुने। वह अल्लाह की बन्दगी और तक़वा की ज़िन्दगी केवल उस चीज़ को समझे कि अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल.) ने जिस काम को जिस प्रकार और जिस रूप में करने को कहा है, उसे ठीक-ठीक उसी प्रकार और उसी रूप में पूरा किया जाए और जिस बात से जिस सीमा तक और जिस रूप में रोका है, उससे बस उसी सीमा तक

और उसी रूप में रुका जाए। उसका दिल इस सत्यता पर सन्तुष्ट हो कि जिस प्रकार अमुक काम दीन का हुक्म है और उसका करना नेकी और बन्दगी की अपेक्षा है, उसी प्रकार यह भी नेकी और बन्दगी की अपेक्षा ही है कि आज्ञानुपालन की भावना के तहत भी उसकी सीमा और मात्रा में अपनी ओर से कोई अभिवृद्धि न की जाए।

रोज़ा मन के नियंत्रण के साथ-साथ मत-नियंत्रण और रुचि-नियंत्रण को भी तक़वा के अर्थ में जिस प्रकार शामिल बताता है, वह किसी लम्बी चौड़ी व्याख्या का मुहताज नहीं। एक ओर तो यह बात कि रोज़े के अनिवार्य किए जाने का उद्देश्य तथा प्रयोजन तक़वा को हासिल करना है, दूसरी ओर यह नसीहत कि सहरी खाए बिना रोज़ा रखना एक बरकत से वंचित रहना और इफ़्तार में देर लगाना भलाई और दीन के प्रभावी होने की स्थिति के समाप्त हो जाने का लक्षण है। इन दोनों बातों को एक साथ रखकर देखें तो साफ़ मालूम होगा कि सहरी न खाना और इफ़्तार देर से करना तक़वा के आशय के विरुद्ध है, यद्यपि इन बातों से मन को कोई ढील नहीं मिलती बल्कि उसकी उदण्डता को ख़त्म करने में कुछ और मदद ही मिलती है। इसलिए ये बातें प्रत्यक्षत: रोज़े के उद्देश्य (अर्थात् तक़वा) की प्राप्ति में सहायक ही दिखाई देती हैं। लेकिन अल्लाह के रसूल (सल्ल.) फ़रमाते हैं कि वास्तविकता इसके विरुद्ध है – क्यों ? इस "क्यों ?" के जवाब में इसके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है कि इस प्रकार रोज़ा रखने में अपना मत और अपनी रुचि को भी हस्तक्षेप करनेवाला सम्मिलित कर लिया जाता है। क्योंकि अल्लाह ने रोज़े का जो आरम्भ और अन्त नियत कर दिया है – सहरी न खाने और इफ़्तार में देर लगाने से उनका पूरा-पूरा आदर शेष नहीं रहता। मानो उन्हीं को रोज़े का आरम्भ और अन्त होने का लक्षण होना पसन्द नहीं किया गया और उनको निर्णायक महत्त्व नहीं दिया गया, बल्कि इससे यह ज़ाहिर होता है कि रोज़े की इस निश्चित की गई अवधि को पर्याप्त नहीं समझा जाता और उसे बढ़ा देना उद्देश्य प्राप्ति के लिए अधिक उपयुक्त और लाभप्रद समझा जाता है। और यह स्पष्टत: अपने मत और अपनी रुचि को इबादत के विषय में अधिकार दे देना है। अगर सेहरी न खाने और इफ़्तार देर से करने को महरूमी का कारण

और तक़वा के विरुद्ध होने की वजह इस एक बात के अलावा और कोई नहीं है, जैसाकि ज़ाहिर में निश्चित रूप से नहीं है, तो स्वीकार करना पड़ेगा कि रोज़ा तक़वा का सही आशय एवं अर्थ केवल आत्म-नियंत्रण और रुचि-नियंत्रण को ही बताता है। वह वास्तविक तक़वे की व्याख्या यह करता है कि मन की इच्छाओं की तरह रुचि और मत की स्वतन्त्रताओं पर भी अल्लाह के आदेशों का पूरा-पूरा नियंत्रण हो।[1]

---

1. वास्तविक तक़वा की यह अवधारणा और अल्लाह के रसूल (सल्ल.) के उपरोक्त समादेश आम धार्मिक मन को बड़े विचित्र मालूम होंगे। किन्तु यही "विचित्रता" वास्तव में सत्य-धर्म का वह विशिष्ट गुण है जो उसे दूसरे धर्मों से अलग करता है और सच तो यह है कि यही आम धार्मिक प्रवृत्ति थी जिसके परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार के समादेश इस्लाम के पैग़म्बर (सल्ल.) ने दिए हैं। यह फ़रमाते समय आप (सल्ल.) के सामने पिछली उम्मतों का इतिहास था, धर्मों को परिवर्तित कर दिए जाने के अनुभव थे। इच्छाओं (मन) का दमन और सन्यास-सम्बन्धी दर्शन थे। आप (सल्ल.) को मालूम था कि अल्लाह के 'दीन' (धर्म) को केवल मन के पुजारी ही नष्ट नहीं करते रहे हैं, बल्कि धर्मात्माओं की अति और कट्टरता भी उसको नया रूप और नया स्वभाव देती रही है और जिस चीज़ और जिस इबादत में कट्टरता की अभिरुचि सबसे ज़्यादा जगह पाती रही है, वह यही रोज़ा है। रोज़े की इबादत को लोगों ने निरन्तर भूखा रहने का रूप दे दिया और इस अबोध आस्था के साथ दे दिया कि निराहार जितना ही अधिक लम्बा होगा रोज़े का उद्देश्य उतना ही अधिक पूर्ण रूप में प्राप्त होगा। फिर यह दृष्टिकोण आगे बढ़ा और मन का दमन और संन्यासग्रहण करना धार्मिकता का शिखर कर्म बन गया। यह थी वह पृष्ठभूमि जिसकी मौजूदगी में अल्लाह के अंतिम रसूल होने की हैसियत से आप (सल्ल.) ने उचित रूप से अनिवार्य समझा कि लोगों को अच्छी तरह सचेत कर दें और उन ख़तरों से इस्लाम को पूरी तरह सुरक्षित रखने का पूरा-पूरा प्रबंध कर जाएँ, जो हमेशा से अल्लाह के 'दीन' को पेश आते रहे और उसे बदल कर कुछ-से-कुछ बनाते रहे हैं। इस उद्देश्य से रोज़े को विशेष रूप से इंद्रिय-दमन, स्वादों के और संन्यास की मनोहर कल्पनाओं की पनाहगाह बनने से सख़्ती के साथ रोक दें। इसलिए यह बात नबी (सल्ल.) ने अच्छी तरह लोगों के दिमाग़ में बिठा दी कि अल्लाह तआला ने रोज़े का जो आरम्भ और अन्त नियत किया है, व्यावहारतः भी उन्हें बाक़ी रखा जाए और उसका जो समय निश्चित है उसे अपनी ओर से कदापि न बढ़ाएँ। अन्यथा तुम तो इस भ्रम में पड़े रहोगे कि हमारा यह कर्म तो अल्लाह के लिए है, इसलिए इससे हमारा और अधिक भला होगा, किन्तु सत्य कुछ और ही होगा। क्योंकि तुम्हारा यह काम देखने में तो भलाई का और ख़ुदा के अनुसरण का काम और नीयत के दृष्टि से अल्लाह ही के लिए सही, मगर इसके साथ यह भी तो होगा कि

रोज़े की इन असाधारण महत्त्वपूर्ण बातों पर नज़र डालिए, तो यह अनुमान करने में कुछ अधिक कठिनाई न होगी कि उसे इस्लाम का एक स्तम्भ क्यों निर्धारित किया गया है और उसके बिना 'दीन' की इमारत क्यों नहीं बन सकती ?

रोज़े के कुछ विशिष्ट लाभ

यह जान लेने के बाद कि रोज़ा मानव को तक़वा के वास्तविक जौहर से किस प्रकार और कैसे आभूषित कर देता है, वास्तव में अब कोई और बात जानने की शेष नहीं रह जाती, क्योंकि जिस व्यक्ति में तक़वा का नूर पैदा हो गया तो उससे उसी चीज़ की अपेक्षा की जा सकती है जो अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल.) को पसन्द है, और यह वह चीज़ है जिसमें 'दीन' (धर्म) की समस्त अभीष्ट वस्तुएँ सम्मिलित हैं। किन्तु फिर भी कुछ गुण और कर्म ऐसे हैं जो रोज़े के बड़े उत्कृष्ट और महत्वपूर्ण फलों की हैसियत रखते हैं। इसलिए रोज़े के महान स्थान को पूरी तरह महसूस कर सकने में और अधिक आसानी हो जाएगी यदि उन पर भी एक दृष्टि डाल ली जाए–

(1) अल्लाह तआला हमारा वास्तविक शासक है रोज़ा इस धारणा को पूर्ण

वह 'दीन' की वास्तविक प्रकृति और बन्दगी (उपासना) की वास्तविक धारणा को शेष न रहने देगा और यह एक ऐसा बड़ा अभाव होगा जिसकी क्षतिपूर्ति किसी प्रकार न हो सकेगी। धर्म (दीन) का ध्वजाधारी समुदाय अगर यही न जानता हो कि ठीक-ठीक उसका मार्ग और मंज़िल क्या है, तो वह अपने पद की ज़िम्मेदारी को सही तरीक़े से पूरा किस प्रकार कर सकेगा ? इस अति महत्वपूर्ण निहित हित को यदि सामने रखा जाए, तो नज़र आएगा कि सहरी और इफ़्तार का मसला जो देखने में मामूली-सा है, वास्तव में एक बड़ा मसला है। यह वास्तव में दीन की सही धारणा के संरक्षण का मसला है। सहरी और इफ़्तार की इन शरई हिदायतों पर अमल करना वस्तुतः दीन की वास्तविक प्रकृति की रक्षा का एक अवश्यंभावी उपाय है, और उनकी हिदायतों की उपेक्षा करना, उस प्रकृति को विकृत करने का द्वार खोलना है। इस प्रकार अगर दीन की प्रकृति और स्वभाव बदल गया, और यदि अंशतः भी संन्यास का रूप धारण कर लिया तो निस्सन्देह उम्मत का भलाई की स्थिति में होने और 'दीन' के प्रभावी और क्रियान्वित रहने का कोई प्रश्न ही शेष नहीं रह जाएगा।

विश्वास में बदल देता है। सहर् का समय आया, उठो खा-पी लो, क्षितिज पर प्रभात की सफ़ेद धारी दिखाई देने को है। खाने-पीने से हाथ रोक लो। अब शाम तक हर प्रकार की पवित्र और स्वादिष्ट नेमतें होते हुए भी भूखे-प्यासे रहो। सूरज अस्त हो गया, रोज़ा समाप्त करो और कुछ-न-कुछ अनिवार्य रूप से खा-पी लो। आज्ञा और आज्ञापालन का, स्वामित्व और दासता का – यह ऐसा असाधारण प्रदर्शन है, जिसकी मिसाल शरीअत के किसी कर्म में मिलनी कठिन है। इसमें निस्सन्देह अल्लाह तआला का अबाध शासक होना, मानो आँखों देखी सच्चाई प्रतीत होती है।

(2) रोज़ा इस्लामी समाज में सहानुभूति और करुणा की लहर दौड़ा देता है, वह मालदारों को लगातार एक मास तक दीनता का व्यावहारिक अनुभव कराता रहता है। वह उन्हें कम-से-कम तीस बार यह महसूस कराता है कि उपवास और भूख किसे कहते हैं और ख़ुदा के उन बन्दों पर क्या गुज़रती होगी जो उनमें ग्रस्त हुआ करते हैं? यह व्यावहारिक अनुभव और यह एहसास स्वभावतः उनके अन्दर इस भावना को उभार देता है कि अपने ग़रीब और निर्धन भाइयों को उनके हाल पर न छोड़ें। इस प्रकार उनमें मानव के प्रति सहानुभूति और अल्लाह के मार्ग में ख़र्च करने की भावना रोज़े में अत्यन्त बढ़ जाती है। नबी (सल्ल.) ने रमज़ान के महीने को इसी आधार पर ''शहरुल्-मुआसात'' (सहानुभूति का महीना) कहा है, (हदीस : बैहक़ी)। और नबी (सल्ल.) का हाल इस ज़माने में यह हुआ करता था कि ''न किसी क़ैदी को क़ैद में बाक़ी रखते और न किसी माँगनेवाले को ख़ाली हाथ वापस करते,'' (हदीस : बैहक़ी)। और हज़रत इब्ने-अब्बास (रज़ि.) के कथनानुसार, ''यद्यपि नबी (सल्ल.) सबसे बड़े दानशील व्यक्ति थे, किन्तु रमज़ान के महीने में आप (सल्ल.) की दानशीलता असाधारण सीमा तक बढ़ जाती थी।''
(हदीस : बुख़ारी, खण्ड-1)

(3) 'सभी मानव समान हैं' इस भावना को रोज़ा अत्यन्त मज़बूत कर देता है। इस महीने में धनी और निर्धन, राजा और प्रजा, विशिष्ट और

जनसामान्य – मतलब यह कि उम्मत के सारे लोग नुमायाँ नज़र आने की हद तक एक जैसी हालत में होते हैं। सब के सब दासता के एक ही स्तर पर खड़े होते हैं। सभी के चेहरों से एक ही सर्वोच्च शासक के अधीन होने का और एक समान रूप से अधीन होने का प्रदर्शन हो रहा होता है। यह स्थिति अन्दर से ऊँच-नीच के विचार को निकालकर बाहर कर देती है और इस प्रकार पूरे वातावरण पर वास्तविक समानता का गहरा रंग छा जाता है।

(4) रोज़ा मोमिन को अल्लाह के मार्ग में संघर्ष करने के लिए तैयार करता है। संघर्ष में अल्लाह की प्रसन्नता के लिए भूख की, प्यास की और बे-आरामी की कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। अपनी दौलत को ख़र्च करना पड़ता है; अपनी जान को न्योछावर करना पड़ता है। इतने कठिन अभियान का साहस वही कर सकता है, जिसमें धैर्य और सहनशीलता की शक्ति पाई जाती हो और जो इन कष्टों को सहन कर सकता हो और ये क़ुरबानियाँ दे सकता हो। रोज़ा इस धैर्यशक्ति के पैदा करने का और उन कष्टों का अभ्यस्त बनाने का सबसे अच्छा साधन है। नबी (सल्ल.) ने इसी लिए रमज़ान के महीने को ''शहरुस्सब्रि'' (अर्थात् धैर्य का महीना) कहा है और रोज़े को ''अर्द्ध धैर्य'' कहा है।(हदीस : मिश्कात)

(5) फ़र्ज़ (अनिवार्य) रोज़ों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह सामाजिकता की अनुभूति को भी शक्ति देता है और मुसलमानों को याद दिलाता रहता है कि तुम सब एक ही मिशन के ध्वजावाहक हो। आदेश है कि एक ही निर्धारित महीने (रमज़ान) में रोज़ा रखा जाए। निर्देश है कि प्रभातोदय (तुलू-ए-फ़ज्र) से थोड़ी देर पहले सहरी खाई जाए और सूर्यास्त होते ही इफ़्तार कर लिया जाए। इस प्रकार रोज़ा रखने का स्वरूप ऐसा बन जाता है कि सभी लोग एक ही निश्चित महीने में एक साथ रोज़ा रखते हैं और लगभग एक ही समय में सहरी खाते और एक ही समय पर इफ़्तार करते हैं। किसी समुदाय के लोगों को एक ही लक्ष्यवाला और एक ही अभियान के सिपाही होने की अनुभूति दिलानेवाला वह कैसा असाधारण और कितना कोमल उपाय है कि

उनका खाना-पीना तक एक ही साथ, एक ही प्रकार का और एक ही उद्देश्य के अधीन होता है।

लक्ष्य-प्राप्ति की शर्तें

अन्य दूसरी इबादतों और धार्मिक क्रियाओं की तरह रोज़े के भी ये उद्देश्य और फल उसी समय प्राप्त हो सकते हैं; जबकि –

(1) वह निश्चित मर्यादाओं और शर्तों के साथ रखा जाए। नीयत में निष्ठा हो, दिल में सर्वोच्च अल्लाह की आराध्यता का और अपनी दासता और भक्त होने का पूर्ण विश्वास हो, वास्तविक स्वामी के आज्ञानुपालन की भावना हो, अल्लाह की प्रसन्नता की चाह हो, आख़िरत की सफलता की लालसा हो – अर्थात् अल्लाह के रसूल (सल्ल.) के शब्दों में रोज़ा – "पूर्ण आस्था और सावधानी" के साथ रखा गया हो। यदि हृदय अल्लाह के शासक होने और आराध्यता के विश्वास से और नीयत परलोक में प्रतिफल प्राप्ति की चाहत से ख़ाली हो तो फिर रोज़ा रोज़ा नहीं बल्कि भूखा रहना मात्र है। देखने और कहने में तो इस्लाम की इमारत का एक अनिवार्य स्तम्भ निर्मित हो रहा होगा, किन्तु वस्तुतः वहाँ संरचना नाम की कोई वस्तु मौजूद न होगी।

(2) केवल फ़र्ज़ रोज़ों ही को पर्याप्त न समझ लिया जाए, बल्कि नफ़्ल रोज़े भी रखे जाएँ, ताकि उन उद्देश्यों की याद निरन्तर ताज़ा होती रहे, जिनके लिए रोज़ा अनिवार्य किया गया है तथा रमज़ान के महीने के अतिरिक्त अन्य महीनों में भी मन के प्रशिक्षण के इस प्रभावकारी व्यावहारिक उपाय की न्यूनाधिक पुनरावृत्ति होती रहे। नफ़्ल रोज़े कितने और किन दिनों में रखे जाएँ, इसके लिए हदीसों में सविस्तार मार्गदर्शन मौजूद है। हर व्यक्ति अपनी शक्ति और अपनी परिस्थिति के आधार पर उनमें से उचित चुनाव स्वयं ही कर सकता है।

5. हज

इस्लाम का पाँचवाँ और अंतिम स्तम्भ 'हज' है। हज का शाब्दिक अर्थ 'दर्शन का इरादा करना' है। शरीअत की भाषा में हज की इबादत को 'हज' इसलिए कहा गया है कि इसमें आदमी काबा के दर्शन का इरादा करता है।

हज का केन्द्र

'हज' प्रत्येक उस बालिग़ मुसलमान पर जीवन में एक बार फ़र्ज़ (अनिवार्य) है, जिसको मक्का तक आने-जाने की सामर्थ्य प्राप्त हो। यदि कोई व्यक्ति सामर्थ्य प्राप्त होने के बाद हज नहीं करता तो वह अपने मुसलमान होने को झुठलाता है। क़ुरआन मजीद में आदेश है –

> "लोगों पर यह अल्लाह का हक़ है कि जो उसके घर तक पहुँच सकता हो वह उस घर का हज करे और जिसने इनकार का आचरण अपनाया, तो वह जान ले कि अल्लाह सारे संसार से निस्पृह है।" (क़ुरआन, 3:97)

अल्लाह के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) फ़रमाते हैं –

> "जिसे किसी बीमारी ने या किसी वास्तविक आवश्यकता ने या किसी अत्याचारी शासक ने रोक न रखा हो, और इसके बाद वह हज न करे तो चाहे वह यहूदी मरे या ईसाई।"
>
> (हदीस : सुनन कुबरा, खण्ड-4, अध्याय: इमकानुल हज)

हज़रत उमर (रज़ि.) को कहते सुना गया कि "वह व्यक्ति यहूदी या ईसाई पंथ पर मरता है– ये शब्द आप (रज़ि.) ने तीन बार दोहराए– जो सफ़र की सामर्थ्य और रास्ते की सुरक्षा पाने के बाद बिना हज किए मर गया हो।" (हदीस : सुनन कुबरा, खण्ड-4, अध्याय: इमकानुल हज)

इसके विपरीत उस व्यक्ति के बारे में जिसने इस अनिवार्य कर्त्तव्य को सही तरीक़े से पूरा कर लिया इतना अधिक कहा गया कि जिससे अधिक की आशा भी नहीं की जा सकती :

"मक़बूल हज का प्रतिफल जन्नत के अतिरिक्त और कुछ नहीं।"

(हदीस : मुस्लिम, खण्ड-1)

"जिसने उस घर (अर्थात् काबा) का हज किया और उस बीच उसने न तो कोई वासनात्मक ग़लती की, न कोई गुनाह किया – वह जब हज करके लौटता है तो ऐसा पवित्र होता है, जैसा उस दिन था, जब उसकी माँ ने उसे जन्म दिया था।" (हदीस : बुख़ारी, खण्ड-1)

यह जानने के लिए कि अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल.) ने काबा के हज को ऐसा उच्चतम महत्त्व क्यों दिया है और इसके बिना इस्लाम की पैरवी का दावा क्यों उपेक्षणीय होता है, और वह जन्नत की ज़मानत क्यों और किस प्रकार है ? हमें यह देखना होगा कि हज क्या चीज़ है ? धर्म की आत्मा से इसका क्या सम्बन्ध है ? इस्लामी ज़ेहन, इस्लामी सीरत और इस्लामी चरित्र पैदा करने में वह क्या हिस्सा लेता है ? इनसान जिस ख़ुदा की इबादत के लिए पैदा किया गया है, उसे उसकी ज़िम्मेदारियों को पूरी तरह निभा पाने के क़ाबिल बनाने में वह क्या भूमिका निभाता है ? हज के बारे में ये बातें दो चीज़ों से मालूम हो सकेंगी –

(1) प्रथम तो यह कि स्वयं वह काबा क्या चीज़ है जिसका हज किया जाता है ? वह किस लिए बनाया गया है ? इस्लाम से उसका क्या नाता है ?

(2) दूसरी चीज़ यह कि हज में जो रस्में अदा की जाती हैं, वे क्या हैं और उनके पीछे कौन-सी धारणाएँ काम करती हैं ?

यदि इन बातों का स्पष्टीकरण हो जाए तो वह सब कुछ आप-से-आप नज़र आ जाएगा, जो हज के उस महान महत्त्व का कारण है।

काबा का निर्माण और उसका महत्त्व

पहले काबा के निर्माण और उसकी हैसियत को लीजिए। काबा का निर्माण आज से लगभग साढ़े चार हज़ार वर्ष पूर्व हज़रत इबराहीम और हज़रत इसमाईल (अलै.) के हाथों हुआ था। क़ुरआन में कहा गया है –

"......याद करो जब इबराहीम और इसमाईल इस घर (काबा) की बुनियादें उठा रहे थे।" (क़ुरआन, 2:127)

निर्माण करने का आदेश और जगह का निर्धारण दोनों अल्लाह की ओर से हुआ था।

"......याद करो जबकि हमने इबराहीम के लिए अल्लाह के घर को ठिकाना बनाया।" (क़ुरआन, 22:26)

जब काबा के निर्माण का आदेश दिया गया था और जगह का निर्धारण किया गया था, उस समय उन्हें यह हिदायत भी कर दी गई थी कि जब यह घर बनकर तैयार हो तो लोगों में घोषणा करा देना कि इसका हज (दर्शन व ज़ियारत) करना अनिवार्य है। क़ुरआन में है –

"......लोगों में हज के लिए उद्घोषणा कर दो कि वे प्रत्येक निकट-दूर के मार्ग से पैदल भी और ऊँटों पर तेरे पास आएँ।" (क़ुरआन, 22:27)

इस घर की जो हैसियत और उद्देश्य अल्लाह तआला ने निश्चित किया है, उसका प्रदर्शन इन आयतों से होता है –

"याद करो जब हमने इस घर को लोगों के लिए केंद्र और अम्न की जगह ठहराया था और आदेश दिया था कि इबराहीम के खड़े होने की जगह को नमाज़ पढ़ने की जगह बना लो।" (क़ुरआन, 2:125)

"निस्सन्देह पहला घर, जो लोगों के लिए (इबादत के केन्द्र की हैसियत से) बनाया गया था, वही है जो मक्का में स्थित है, जिसका हाल यह है कि वह बरकतोंवाला और सारे संसारवालों के लिए मार्ग दर्शन (का स्रोत) है।" (क़ुरआन, 3:96)

"......जब हमने इबराहीम के लिए इस घर की जगह निश्चित की थी कि (इस हिदायत के साथ) मेरा किसी को साझी न ठहराना और मेरे घर को तवाफ़ (परिक्रमा) करनेवालों, क़ियाम करनेवालों, और रुकूअ व सजदा करनेवालों के लिए (शिर्क के प्रदूषण से) पवित्र रखना।"

(क़ुरआन, 22:26)

अर्थात् यह घर सर्वांगतः भलाई और बरकत है। सारे जगत् के लिए हिदायत का स्रोत है। अल्लाह के उपासकों की पनाहगाह है। नमाज़ क़ायम किए जाने की असल जगह है[1], और विशुद्ध एकेश्वरवाद का केन्द्र है। थोड़ा ग़ौर कीजिए तो महसूस होगा कि ये गुण आपस में गहरा सम्बन्ध रखते हैं, बल्कि यूँ कहना अधिक सही होगा कि यह वास्तव में एक ही संहर्ता गुण के विविध पहलू हैं। जो चीज़ विशुद्ध एकेश्वरवाद का मूल केन्द्र होगी, वस्तुतः नमाज़ की असल जगह भी वही होगी और जो चीज़ एकेश्वरवाद और नमाज़ का केन्द्र हो, कोई सन्देह नहीं कि वह सरापा हिदायत और पूरे तौर पर बरकत ही होगी।

किताब के पिछले पन्नों में आप पढ़ चुके हैं कि आस्था और धारणा के तौर पर एकेश्वरवाद और व्यावहारिक रूप में नमाज़, यही दोनों, चीज़ें वास्तव में पूरे 'दीन' (इस्लाम-धर्म) का सार हैं। इसलिए काबा अगर तौहीद और नमाज़ दोनों का केन्द्र है तो इसका अर्थ यह है वह पूरे 'दीन' (धर्म) का केन्द्र है। अतः अल्लाह तआला ने उसे स्पष्ट रूप से 'अपना घर' (बैती) कहा भी है, जिसका अर्थ स्पष्टतः यही है कि वह अल्लाह के दीन (धर्म) का घर या केन्द्र है।

हज़रत इबराहीम (अलै.) का बनाया हुआ यह काबा, अल्लाह के दीन का घर और इस्लाम का केन्द्र क्यों और किस प्रकार है ? यह समझने के लिए एक ओर तो यह देखना चाहिए कि उसके निर्माण की पृष्ठ-भूमि क्या है ? दूसरी ओर यह कि उसके निर्माण के बाद उसके निर्माण-उद्देश्य के लिए व्यावहारिक क़दम क्या उठाया गया?

---

1. यही वजह है कि दूसरी जगह कहीं भी नमाज़ पढ़ी जाए, ज़रूरी है कि रुख़ उसी घर की तरफ़ हो, ताकि अगर नमाज़ के अस्ल मक़ाम पर नमाज़ पढ़ने की आसानी मौजूद नहीं तो कम-से-कम चेहरे के रुख़ उस तरफ़ ज़रूर ही रहें। हक़ीक़ी मसजिद यही काबा है, और दुनिया की तमाम मसजिदें उसकी नुमाइन्दगी करती हैं।

काबा के निर्माण की पृष्ठभूमि

हज़रत इबराहीम (अलै.) को जब उनकी क़ौम ने वतन के परित्याग हेतु विवश कर दिया तो वे विभिन्न क्षेत्रों में हक़ की दावत की उद्घोषणा करते हुए मक्का की उजाड़ और सपाट घाटियों में पहुँचे। यहीं उस मशहूर स्वप्न की घटना घटित हुई, जिसमें उन्होंने अपने इकलौते पुत्र (हज़रत इसमाईल अलै.) को अपने हाथों ज़िब्ह करते देखा था। यह स्वप्न जब उन्होंने अपने जिगर के टुकड़े को सुनाया तो सुलक्षण तथा आज्ञाकारी बच्चे ने कहा कि "पिता जी! अल्लाह का जो आदेश हो उसपर निस्संकोच अमल कीजिए। यह गर्दन, अगर अल्लाह ने चाहा तो धैर्य और तत्परता की गर्दन साबित होगी।" पिता ने पुत्र को भूमि पर लिटाकर छुरी गर्दन पर रख दी। हाथ चलने ही को था कि आकाश से आवाज़ आई – "इबराहीम (बस हाथ रोक लो) तुमने अपने स्वप्न को सच कर दिखाया.......... हमने इसमाईल को एक बड़ी क़ुरबानी के बदले छुड़ा लिया," (क़ुरआन, 37:104-107)। हज़रत इबराहीम का पूरा जीवन मिसाली आज़माइशों का जीवन था। यह बेटे के ज़िब्ह (पुत्र की बलि चढ़ाने) की घटना उन आज़माइशों की आख़िरी कड़ी थी। इस आख़िरी और सबसे बड़ी परीक्षा में भी जब वे पूरे खरे उतर चुके तो अब प्रतिदान पाने का दौर शुरू हुआ और अल्लाह तआला की ओर से शुभ-सूचना आई –

> "इबराहीम! मैं तुम्हें समस्त मानवजाति का इमाम (नायक) बना रहा हूँ।"
> (क़ुरआन, 2:124)

और फिर इमाम बनाने के अनुग्रह की शुरुआत इस तरह हुई कि उन एलानों और हिदायतों के साथ, जिनके उद्धरण अभी गुज़र चुके, उनको काबा के निर्माण का आदेश हुआ।

इस पृष्ठभूमि अर्थात् इस पूरे वृत्तान्त की दो बातें विशेष रूप से याद रखने की हैं –

(1) ज़िब्ह (पुत्र-बलि) की घटना मरवा (एक स्थान का नाम) मक़ाम पर घटित हुई, जो काबा की जगह के निकट ही स्थित है और काबा उस

जगह से साफ़ नज़र आता है।

(2) स्वप्न के बाद पिता और पुत्र, दोनों ने आज्ञापालन तथा समर्पण की जिस भावना के साथ उस परोक्ष-संकेत पर अमल करने की अग्रसरता दिखाई थी, उसको अल्लाह तआला ने 'समर्पण' की संज्ञा दी है।

> ''फिर जब दोनों ने अपने आपको समर्पित कर दिया और उसने (इबराहीम ने) उसको माथे के बल डाल दिया......।'' (क़ुरआन, 37:103)

काबे के निर्माण-उद्देश्य के लिए निम्न प्रकार के व्यावहारिक क़दम उठाए गए –

जिस समय काबा का निर्माण शुरू हुआ उसी समय उसके उद्देश्य को प्राप्त करने के सम्बन्ध में उसके पुनीत निर्माणकर्ताओं अर्थात् हज़रत इबराहीम तथा इसमाईल (अलै.) ने अल्लाह तआला के समक्ष यह दुआ की–

> ''ऐ ख़ुदा! हमारे कर्म को स्वीकार कर। निस्सन्देह तू सब कुछ सुनता और सब कुछ जानता है। मालिक! हमें अपना 'मुस्लिम' (सच्चा आज्ञापालक) बना और हमारी सन्तान में से एक ऐसा गिरोह बरपा करना जो तेरा 'मुस्लिम' (सच्चा फ़रमाँबरदार) हो और हमें अपनी इबादत के तरीक़े बता, हमपर दया की दृष्टि रख। तू निस्सन्देह, दया-दृष्टि करनेवाला और कृपा करनेवाला है।'' (क़ुरआन, 2:127,128)

इस दुआ से मालूम हुआ कि जिस उद्देश्य के लिए क़ाबा बनाया गया था, उसकी पूर्ति एक ऐसे गिरोह के द्वारा होनेवाली थी, जो उन्हीं बुज़ुर्गों की, दूसरे शब्दों में हज़रत इसमाईल (अलै.) की, सन्तान में से होगी।

यहाँ यह बात फिर दृष्टि में रखने की है कि जिस सद्गुण से उस गिरोह को आभूषित करके पैदा किए जाने की दुआ की गई थी, उसके लिए भी जो शब्द प्रयोग किया गया है वह 'मुस्लिम' का शब्द है, जिसका अर्थ है –'समर्पित'

जब ख़ान-ए-काबा बन चुका तो ऐसा नहीं हुआ कि हज़रत इबराहीम (अलै.), हज़रत इस्माईल (अलै.) और हज़रत हाजिरा (अलै.) को लेकर

अपने शेष परिजनों के पास या किसी अन्य आवासित स्थान पर वापस चले गए हों, ऐसा नहीं किया, बल्कि उन्होंने किया यह कि उसी चटियल मैदान में और उसी काबा के निकट उन्हें बसा दिया ताकि अल्लाह तआला का वह सच्चा फ़रमाँबरदार गिरोह, जिसके बरपा किए जाने की दुआ उन्होंने की थी, जब बरपा किया जाए तो उसी काबा के पास अस्तित्व में आए। हज़रत इबराहीम (अलै.) ने स्वयं प्रार्थना की थी –

> ''परवरदिगार ! मैंने अपनी औलाद में से एक भाग को एक बिना खेती के मैदान में तेरे प्रतिष्ठित घर के निकट बसा दिया है। ऐ ख़ुदा ! उन्हें बसाया इसलिए है ताकि वे नमाज़ क़ायम करें।'' (क़ुरआन, 14:37)

''नमाज़ क़ायम करें'' अर्थात् तेरी बन्दगी करें, तेरे धर्म का अनुसरण करें और उसके आवाहक बनें। ऊपर यह बात पूरी तरह स्पष्ट की जा चुकी है कि व्यावहारिक रूप में नमाज़ ही धर्म का सार है और नमाज़ को क़ायम करना ही वास्तव में पूरे धर्म को क़ायम करने की ज़मानत है। इसलिए नमाज़ को क़ायम करना मानो पूरे दीन को क़ायम करना होता है।

इसमाईल (अलै.) की सन्तान में से अल्लाह का यह सच्चा आज्ञापालक गिरोह व्यावहारिक रूप में किस प्रकार अस्तित्व में आएगा और उसे अल्लाह तआला की फ़रमाँबरदारी (इस्लाम) का तरीक़ा कैसे मालूम होगा ? इसके लिए हज़रत इबराहीम (अलै.) ने यह दुआ की थी –

> ''ऐ हमारे प्रभु ! उनके अन्दर उन्हीं में से एक ऐसा सन्देष्टा (रसूल) उठा, जो उन्हें तेरी आयतें पढ़कर सुनाए, तेरे आदेश बताए, हिकमत समझाए और उनका चरित्र निमार्ण करे।'' (क़ुरआन, 2:129)

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि हज़रत इबराहीम (अलै.) की यही दोनों दुआएँ थीं, जो अल्लाह के समक्ष स्वीकृति पाकर इस्लाम के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) और सहाबा किराम (रज़ि.) की शक्ल में ज़ाहिर हुईं। इस पवित्र समुदाय का नाम ही 'मुस्लिम' और 'उम्मते-मुस्लिमा' पड़ा और इसी लिए पड़ा कि हज़रत इबराहीम (अलै.) अपनी इस दुआ में उसे इसी शब्द और नाम से याद कर चुके थे। दूसरे शब्दों में यह कि वही इसका यह

नाम रख चुके थे, जैसाकि क़ुरआन के 22वें अध्याय (सूरा हज) में स्पष्ट भी कर दिया गया है–

"उसने इससे पहले तुम्हारा नाम मुस्लिम (आज्ञाकारी) रखा था।

(क़ुरआन, 22:78)

काबा के निर्माण से सम्बद्ध इन समस्त बातों का एक साथ अवलोकन करें, तो काबा का धर्म-केन्द्र और इस्लाम का स्रोत होना दोपहर के सूरज की तरह आप-से-आप प्रकाशमान हो जाएगा।

हज की क्रियाएँ

अब उन रस्मों पर एक दृष्टि डालिए जो हज में अदा की जाती हैं –

जब कोई व्यक्ति हज के लिए रवाना होता है तो मक्का से काफ़ी दूर पहले एक नियत स्थान पर पहुँचकर हज की बाक़ायदा नीयत बाँधता है जिसको 'इहराम' कहते हैं। इहराम बाँधते समय वह पहले स्नान करता या वुज़ू करता है फिर प्रतिदिन प्रयोग में आनेवाले कपड़ों के बजाय बिना सिली एक तहबंद और एक चादर पहन लेता है। इसके बाद दो रकअत नमाज़ पढ़ता है। नमाज़ पढ़कर हज की नियमबद्ध नीयत की उद्घोषणा व प्रदर्शन करते हुए अपने ख़ुदा को सम्बोधित करता और ऊँची आवाज़ से पुकारते हुए कहता है –

"लब्बै-क अल्लाहुम-म लब्बै-क, लब्बै-क ला शरी-क ल-क लब्बै-क, इन्नल् हम-द वन्निअ़ म-त ल-क वल् मुल्-क ला शरी-क ल-क"

"हाज़िर हूँ, मेरे अल्लाह! मैं हाज़िर हूँ। हाज़िर हूँ, तेरा कोई साझीदार नहीं, मैं हाज़िर हूँ। कोई सन्देह नहीं कि समस्त प्रशंसाएँ तेरे लिए हैं, नेमत तेरी है, बादशाही तेरी है, कोई तेरा साझीदार नहीं।" (हदीस : बुख़ारी)

"लब्बै-क, लब्बै-क" (हाज़िर हूँ, मैं हाज़िर हूँ) की इस पुकार के साथ ही वह 'इहराम' की हालत में आ जाता है और अब यह पुकार उसकी ज़बान

का जाप बन जाती है। हर नमाज़ के बाद, हर ऊँचाई पर चढ़ते हुए, हर ढलान में उतरते हुए, हर क़ाफ़िले से मिलते समय और हर सुबह जागते ही ये वाक्य उसकी ज़बान पर जारी होते रहते हैं। इहराम बाँध चुकने के बाद उसके लिए साज-सज्जा और भोग-विलास की एक-एक चीज़ निषिद्ध हो जाती है। अपने आम इस्तेमाल के कपड़े वह उतार ही चुका होता है। अब जो दो कपड़े – चादर और तहबंद – उसके शरीर पर होते हैं, ज़रूरी है कि वे भी सिले हुए न हों और न किसी सुगन्धित रंग से रंगे हुए हों। इसी प्रकार वह अब टोपी या अमामे या और किसी चीज़ से अपने सिर को ढक भी नहीं सकता, न मुँह छिपा सकता है, न बाल बनवा सकता है, न नाख़ून कटवा सकता है, न ख़ुशबू लगा सकता है, न नहाने में साबुन आदि प्रयोग कर सकता है। यौन सम्पर्क करना उसके लिए बिलकुल ही निषेध (मना) हो जाता है, यहाँ तक कि उसकी चर्चा भी नहीं कर सकता। इसी प्रकार शिकार करने की अनुमति शेष नहीं रह जाती, बल्कि वह किसी और को भी शिकार की ओर इशारा तक नहीं कर सकता। इस हालत के साथ वह मक्का की ओर बढ़ता जाता है। दूर से जैसे ही काबा दिखाई देता है, पुकार उठता है – "अल्लाहु अकबर" (अर्थात् अल्लाह सबसे बड़ा है)। ला इला-ह इल्लल्लाह" (अर्थात् अल्लाह के सिवा कोई पूज्य नहीं)। मक्का में दाख़िल होकर सीधे काबा पहुँचता है। काबा के द्वार के निकट दीवार में जो 'हजरे-असवद' लगा हुआ है, उसपर अपने दोनों हाथ रखता और फिर उसे चूमता है। चूमने के बाद काबे की परिक्रमा (तवाफ़) करता – अर्थात् उसके चारों ओर सात चक्कर लगाता है। इसके बाद 'मक़ामे-इबराहीम '(काबा से जुड़ा एक विशेष स्थान) पर या काबा में किसी भी जगह नमाज़ की दो रकअतें पढ़ता है। फिर बाहर आता है और 'सफ़ा' नामक पहाड़ी – जो निकट ही स्थित है – पर चढ़ता है। चढ़कर पहले काबा पर नज़र डालता है और फिर पुकाराता है – "अल्लाहु अकबर" (अल्लाह सबसे बड़ा है)। "ला इला-ह इल्लल्लाह" (अल्लाह के सिवा कोई पूज्य नहीं)। इसके बाद अल्लाह के रसूल (सल्ल.) पर दुरूद भेजता है और अपने अल्लाह से हाथ फैलाकर जो माँगना होता है, माँगता है। फिर इसके बाद नीचे उतरता है और सामने की एक दूसरी पहाड़ी – 'मरवा' की ओर 'सई' करता है – अर्थात् तेज़-तेज़ क़दमों से चलता है। उसपर पहुँचकर

फिर कुछ देर तक उसी प्रकार तकबीर व तहलील[1] और दुरूद व दुआ में व्यस्त रहता है, जिस प्रकार अभी सफ़ा नामक पहाड़ी पर व्यस्त रह चुका है। इस तरह की 'सई' वह सात बार करता है। इस सई से फ़ारिग़ हो चुकने के बाद मक्का में ठहर जाता है और जैसी कुछ उसे तौफ़ीक़ होती है काबा की परिक्रमा किया करता है। जब ज़िल्‌हिज्जा की सातवीं तिथि आती है तो इस तरह के सभी लोग काबे की मस्जिद में जमा हो जाते हैं और मुसलमानों का इमाम उनके सामने ख़ुतबा देता है जिसमें हज से सम्बन्धित आदेश और नियमों को बताता है, उससे प्राप्त होनेवाली ख़ुदा की दयालुता और बरकतों के बारे में बताता है, आठवीं तिथि को दिन निकलने पर सभी लोग 'मिना' के लिए प्रस्थान कर जाते हैं। मिना मक्का से तीन मील अर्थात् लगभग 4.8 कि.मी. दूर स्थित एक स्थान है। वहाँ अगले दिन की सुबह तक ठहरते हैं। फिर अरफ़ात की ओर प्रस्थान करते हैं, जो मक्का से बारह मील (लगभग 19.3 कि. मी.) दूर एक विशाल मैदान है। सारे लोग उस मैदान में एकत्र हो जाते हैं। सूरज ढलने पर यहाँ इमाम सबके सामने फिर ख़ुतबा (अभिभाषण) देता है और अनिवार्य कर्मों के प्रति लोगों को सचेत करता है। इसके बाद ज़ुह्र (दोपहर) ही के वक़्त में ज़ुह्र और अस्र (सूर्यास्त से पूर्व की नमाज़ें) दोनों वक़्तों की नमाज़ें पढ़ता है। नमाज़ों से फ़ारिग़ होकर लोग एक ख़ास अन्दाज़ में पड़ाव डाल देते हैं। इमाम का पड़ाव "जबलुर्रहमह" (दयालुता का पहाड़) नामक पहाड़ के निकट होता है। वह अपनी ऊँटनी से नीचे नहीं उतरता, बल्कि उसी पर बैठा रहता है। उसका रुख़ काबे की ओर होता है। वह अल्लाह तआला के समक्ष गिड़गिड़ा-गिड़गिड़ाकर दुआएँ माँगता है। दुआएँ माँगने के दौरान बीच में रुक-रुककर "लब्बै-क अल्लाहुम-म लब्बै-क" (हाज़िर हूँ ऐ अल्लाह, हाज़िर हूँ) पुकारता जाता है। बाक़ी सारे लोग उसके पीछे या उसके आस-पास ठहरे होते हैं और सभी का रुख़ काबे ही की ओर होता है। इमाम इस अवसर पर उन्हें फिर सम्बोधित करता है और पूरी तल्लीनता से वे (हाजी) उसके निर्देशों को सुनते हैं। सूरज डूब चुकने पर यहाँ से वापसी हो

1. तकबीर : अल्लाहु अकबर कहना।
   तहलील : ला इला-ह इल्लल्लाह कहना।

जाती है और सब लोग 'मुज़दल्फ़ा' नामक स्थान पर आ पहुँचते हैं और अपनी-अपनी जगहें लेकर डेरे डाल लेते हैं। इमाम 'जबले-क़ुज़ह' नामक पहाड़ के क़रीब ठहरता है। इशा का समय हो चुकने पर मग़रिब और इशा दोनों समयों की नमाज़ें एक साथ पढ़ता है। यह रात यहीं गुज़रती है। दसवीं तारीख़ की सुबह उदित होने पर मुँह-अंधेरे ही फ़ज्र की नमाज़ अदा कर ली जाती है, जिसके बाद हर व्यक्ति अपनी-अपनी जगह अल्लाह का ज़िक्र व इस्तिग़फ़ार (अल्लाह से गुनाहों की माफ़ी माँगने) में व्यस्त हो जाता है और रह-रहकर "लब्बै-क अल्लाहुम-म लब्बै-क" पुकारता रहता है। जब बिलकुल उजाला हो जाता है तो वहाँ से 'मिना' के लिए चल पड़ते हैं। मिना पहुँचकर जम-रतुल अक़बा को सात बार कंकरियों से मारते हैं और मारते हुए हर बार "अल्लाहु अकबर" कहते जाते हैं। यहाँ के बाद अब "लब्बै-क अल्लाहुम-म लब्बै-क" कहने का सिलसिला ख़त्म हो जाता है। कंकरियाँ मारने के बाद क़ुरबानी करते हैं, फिर सिर मुँडवाते हैं और इहराम की हालत से निकल आते हैं। अब काबा का फिर सात बार तवाफ़ (परिक्रमा) करते हैं। इसके बाद फिर मिना जाते हैं, जहाँ दो या तीन दिन ठहरते हैं। यहाँ मिना में अल्लाह का बहुत अधिक स्मरण करते हैं, उससे क्षमा और कल्याण की प्रार्थनाएँ (इस्तिग़फ़ार) करते हैं और प्रत्येक दिन तीनों 'जमरात' को तकबीर कहते हुए सात-सात बार कंकरियाँ मारते हैं। इस प्रकार मिना में दो या तीनों दिन गुज़ार कर पुनः काबा के पास वापस आ जाते हैं और आकर उसका अंतिम तवाफ़ करते हैं। तवाफ़ करके काबा के द्वार को बोसा देते हैं। हजरे असूवद और काबे के दरवाज़े के बीच के भाग को, जिसे 'मुल्तज़म' कहते हैं, अपने चेहरे और अपने सीने से लगाते हैं और काबा के ग़िलाफ़ को पकड़कर ज़्यादा-से-ज़्यादा दुआएँ माँगते हैं, इल्तिजाएँ करते हैं, रोते और गिड़गिड़ाते हैं। इसके बाद इस दशा में अपने घरों को वापस होते हैं कि अल्लाह के इस घर के प्रति अपार प्रेम और पुनर्दर्शन की लालसापूर्ण निगाहें काबे पर टिकाए हुए होते हैं।

यह है हज में किए जानेवाले कृत्यों (मरासिम) का संक्षिप्त विवरण। इनमें से ज़्यादातर चीज़ें तो ऐसी हैं जो बहुत कुछ स्पष्ट ही हैं, किन्तु कुछ ऐसी

भी है जिनमें से हर एक की अपनी-अपनी एक विशिष्ट पृष्ठभूमि है और उनकी सार्थकता अच्छी तरह समझ में उसी वक़्त आ सकती है जब यह पृष्ठभूमि भी निगाहों के सामने हो। इसलिए यहाँ महत्त्वपूर्ण और उत्कृष्ट चीज़ों का अपेक्षित स्पष्टीकरण संक्षेप में प्रस्तुस्त किया जा रहा है–

(1) काबा:- जहाँ तक काबे का सम्बन्ध है, इसके बारे में अनिवार्य जानकारियाँ ऊपर उल्लिखित हो चुकी हैं।

(2) सफ़ा और मरवा:- सफ़ा और मरवा के बारे में क़ुरआन मजीद ने फ़रमाया है–

"निस्सन्देह, सफ़ा और मरवा अल्लाह की निशानियों में से हैं।"

(क़ुरआन, 2:158)

"अल्लाह की निशानियों में से" होने का अर्थ यह है कि वह अल्लाह की बन्दगी की निशानियाँ हैं। ये दोनों स्थान अल्लाह की बन्दगी की निशानियाँ किस प्रकार हैं? यह मालूम करने के लिए हमें इतिहास की मदद लेनी होगी, जो बताता है कि 'मरवा' वह स्थान है जहाँ हज़रत इबराहीम (अलै.) ने अपने इकलौते बेटे को माथे के बल ज़मीन पर लिटाया था, ताकि उसे अल्लाह की रिज़ा (प्रसन्नता) पर क़ुर्बान करें। इसलिए उसे देखते ही नैसर्गिक रूप से मोमिन (सत्यनिष्ठ ईश्वरभक्त अर्थात सच्चा मुसलमान) की निगाहों में 'बन्दगी' और 'इस्लाम' की वह तसवीर फिर जाती है जिसे अल्लाह के दोस्त हज़रत इबराहीम (अलै.) और अल्लाह को समर्पित हज़रत इसमाईल (अलै.) ने अपने कर्म से खींची थी।

(3) जमरात :- 'मिना' के मैदान में थोड़ी-थोड़ी दूर पर तीन स्थान हैं जिनमें से प्रत्येक को 'जमरा' कहते हैं। इन तीनों का अगर एक साथ नाम लेना होता है तो अरबी व्याकरण के बहुवचन बनाने के नियमानुसार इन्हें 'जमरात' कहते हैं। ये वे स्थान हैं जहाँ तक, एक समय हबशा के ईसाई बादशाह (अबरहा) की फ़ौजें काबा को ध्वस्त करने के इरादे से बढ़ आई थीं और फिर पत्थरों द्वारा हलाक कर दी गई थीं।

हज और बन्दगी की भावना

हज की इन रस्मों पर अगर गहरी नज़र डालिए तो उनमें की एक-एक चीज़ में बन्दगी की उभरी हुई तसवीर दिखाई देगी :

(1) इहराम का लिबास, लिबास नहीं होता, बल्कि एक ओर फ़क़ीरी के एहसास का, दूसरी ओर फ़िदाकारी की भावना का मुँह बोलता प्रतीक है। जिस समय एक कंगाल-फ़क़ीर अपनी झोली लिए किसी दाता के दरबार में, या एक जाँबाज़ फ़ौजी अपनी वर्दी पहनकर और अपने हथियार लेकर युद्ध-क्षेत्र की ओर जाता है, तो उसकी भावनाओं और उसके उद्देश्य को समझने के लिए शब्दों की आवश्यकता शेष नहीं रह जाती, बल्कि उसका स्वरूप और वेशभूषा ही सब कुछ बता देती व समझा देती है। ठीक इसी प्रकार काबे की ओर जानेवाले की यह वेशभूषा स्वयं बोलती है कि वह अल्लाह ही के द्वार का भिखारी है और साथ ही उसकी प्रसन्नता के अतिरिक्त हर चीज़ से बेनियाज़ भी है, संसार का हर बन्धन वह काट चुका है। उसकी याद में डूबा हुआ और उसी के इशारों पर न्योछावर हो जाने के शौक़ में खोया हुआ है। वह अल्लाह का फ़क़ीर भी है और सिर पर कफ़न बाँधे सिपाही भी।

इसके अलावा इहराम का यह लिबास एक और महान वास्तविकता को उद्घोषित कर रहा होता है। दुनिया के विभिन्न राष्ट्रों के लोग जब अपना-अपना देशीय लिबास उतार कर एक ही प्रकार के कपड़े पहन लेते हैं, और एक ही नारा – "हाज़िर हूँ, मेरे अल्लाह! मैं हाज़िर हूँ" सबकी ज़बानों से बुलन्द हो रहा होता है तो इस्लामी राष्ट्रीयता साक्षात् रूप ले लेती है। अंधे भी देख लेते हैं कि इस्लाम का रिश्ता समस्त भौतिक रिश्तों से कितना अधिक मज़बूत है और यह कि इनसान, इनसान को जोड़नेवाला यथार्थ रिश्ता केवल वही है।

(2) जिस समय उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम हर ओर से वातावरण में निरन्तर ये ध्वनियाँ गूँजती हैं कि "मैं हाज़िर हूँ, ऐ ख़ुदा! मैं हाज़िर हूँ" तो ऐसा मालूम होता है कि काबे के निर्माता ने अपने स्वामी के आदेश —

"लोगों में हज के लिए उद्घोषणा कर दो," (क़ुरआन 22:27) के अनुपालन में हज की जो मुनादी की थी, ये आवाज़ें उसी का प्रत्युत्तर हैं। इबराहीम (अलै.) की यह मुनादी यक़ीनन कुछ बाह्य रस्मों के अदा करने की मुनादी न थी, बल्कि अपने आपको ईमान की रूह और इस्लाम की हक़ीक़त में ढाल लेने की मुनादी थी। इसलिए इस मुनादी का जवाब — "लब्बै-क अल्ला-हुम-म लब्बै-क (मैं हाज़िर हूँ, ऐ अल्लाह! मैं हाज़िर हूँ) का यह नारा भी केवल कुछ शब्दों को वातावरण में बिखेर देने का नाम नहीं है, बल्कि यह अपने आपको अपने मालिक के सुपुर्द कर देने की एक बेचैन भावना का प्रदर्शन है। यह इस बात का एलान है कि ग़ुलाम अपने स्वामी के आदेशों पर कान लगाए उसके समक्ष बढ़े-लपके चले आ रहे हैं।

(3) जैसे ही काबा पर नज़र पड़ती है परिकल्पना की निगाहों में वह सब कुछ फिर जाता है जो उसके निर्माण से सम्बद्ध है। इनसान को याद आ जाता है कि मैं उसी समुदाय का एक व्यक्ति हूँ जिसके प्रादुर्भाव के लिए हज़रत इबराहीम (अलै.) ने दुआ की थी, जिसका नाम उन्होंने 'उम्मते मुस्लिमा' (अर्थात् मुस्लिम समुदाय) रखा था, जिसकी हैसियत यह निश्चित की गई थी कि वह अल्लाह के लिए और उसके एकेश्वरवादी धर्म के लिए समर्पित होगी।

(4) हजरे असवद पर जब वह अपने दोनों हाथ रखता है तो दिल पर यह सच्चाई अंकित हो जाती है कि यह अल्लाह के हाथ में हाथ दे रहा हूँ, बन्दगी और दासता का प्रण कर रहा हूँ, इक़रार कर रहा हूँ कि इस वचन से कभी न फिरूँगा। फिर हाथ रखने के बाद जब उसे बोसा देता है, चूमता है, तो अब एक और अन्तर्चेतना जागृत हो जाती है। बुद्धि में यह विचार उभर आता है कि जिस हस्ती से इस समय बन्दगी की प्रतिज्ञा को ताज़ा कर रहा हूँ, वह मेरा वास्तविक स्वामी और हाकिम भी है और वास्तविक प्रियतम व लक्ष्यबिन्दु भी। इस लिए उसके दरबार की हाज़िरी के वक़्त ज़रूरी है कि उसकी ड्योढ़ी को चूमूँ।

(5) तवाफ़ क्या है? केवल अल्लाह की प्रसन्नता के लिए अपने आपको क़ुरबान कर देने की अनुरागात्मक भावना। जब मर्दे-मोमिन (सच्चा मुसलिम) काबे के चारों ओर परिक्रमा करता है तो कवियों की कल्पना के अनुसार "दीपक और पतंगे" जैसी एक वस्तुस्थिति बन जाती है। ऐसा मालूम होता है कि बन्दा अपने मौला के दरबार में आकर सिर से पाँव तक अथाह प्रेम और मतवालेपन की साकार मूर्ति बन गया है। उसे स्वयं अपने अस्तित्व की ख़बर नहीं, वह अपने मालिक के इशारों पर न्योछावर हो जाने के लिए बेताब है और अपना सब कुछ त्यागकर उसे पा लेना चाहता है।

फिर यह तवाफ़ (परिक्रमा) कुछ और भी बताता है। काले और गोरे, अरबी और ग़ैर-अरबी, सामी और आर्याई — मतलब यह कि हर वर्ण, हर नस्ल, हर भाषा और हर राष्ट्रीयता के लाखों इनसानों का यह भारी गिरोह जब एक ही प्रकार की वेशभूषा में और एक ही प्रकार की भावनाएँ लिए काबा के चारों ओर घूमता है तो यह परिदृश्य विश्वास दिलाता है कि जिस प्रकार अल्लाह एक है और अल्लाह का धर्म एक है, उसी प्रकार उसके धर्म पर विश्वास (ईमान) रखनेवाले भी ज़ाहिर में हज़ारों मतभेदों के बाद भी वस्तुतः एक ही हैं। सब की धुरी एक ही है, सभी एक ही केन्द्र से सम्बद्ध हैं और सभी की वफ़ादारियाँ और जाँनिसारियाँ एक ही यथार्थ सत्ता के लिए समर्पित हैं।

(6) 'सफ़ा' और 'मरवा' के बीच की 'सई' इस सुदृढ़-भावना को प्रकट करती है कि हज़रत इबराहीम (अलै.) और हज़रत इसमाईल (अलै.) का मार्ग ही हमारा मार्ग भी होगा और उस मार्ग पर चलने में हम अपने क़दमों को सुस्त न होने देंगे। उन्होंने इस भूमि पर अपने कर्म से 'इस्लाम' की जो व्याख्या की थी, हमारे निकट भी इस्लाम उससे कम किसी चीज़ का नाम न होगा। मरवा की 'शहादतगाह' तक बार-बार हमारा दौड़कर पहुँचना यह ज़ेहन में बिठा लेने के लिए है कि हमारी जीवन-यात्रा का अंतिम चरण भी इस प्रकार की कोई शहादतगाह होनी चाहिए।

(7) सातवीं से लेकर दसवीं ज़िलहिज्जा तक समस्त हाजियों का एक इमाम

के नेतृत्व में यह सामूहिक प्रस्थान और सामूहिक निवास — आज सब-के-सब मसजिदे-हराम (प्रतिष्ठित मसजिद अर्थात् काबा) में इकट्ठे हैं। कल 'मिना' के मैदान में जमा हैं, अगले दिन 'अरफ़ात' में ख़ेमा लगाए हैं, रात 'मुज़दलफ़ा' में पड़ाव डाले हुए हैं, सुबह होते ही फिर मिना आ पहुँचे हैं। इस दौरान कभी इमाम के ख़ुतबे सुनते हैं, कभी – लब्बै-क अल्ला-हु-म्-म लब्बै-क'' पुकारते हैं। नमाज़ें जमा करके, यानी दो नमाज़ें एक ही वक़्त में (उजलत की) पढ़ते हैं। – ये समस्त बातें स्पष्ट रूप से एक सुव्यवस्थित सैन्य-जीवन का चित्र प्रस्तुत करती हैं और ख़ुदा के लाखों बन्दों का यह इहराम पोश गिरोह काँधे पर कफ़न उठाए हुए सिपाहियों का एक बहुत भारी लश्कर नज़र आता है — यह वस्तुस्थिति याद दिलाती है कि मुस्लिम समुदाय की परिकल्पना व अवधारणा के साथ सुव्यवस्थित संगठन और सैन्य-जीवन की अवधारणा बिलकुल अनिवार्य है और उसकी सारी ऊर्जा अल्लाह की बन्दगी के लिए और उसके 'दीन' की मदद व स्थायित्व के लिए समर्पित है।

(8) जमरात के सुतूनों (स्तम्भों) पर कंकड़ियाँ मारना पत्थरों की उस बेपनाह बारिश की यादगार है जिसने 'अबरहा' के लश्कर को इन्हीं स्थानों पर नष्ट-विनष्ट करके रख दिया था। इन स्थानों पर कंकड़ियाँ मारना और हर कंकड़ी के साथ 'अल्लाहु अकबर' (अल्लाह सबसे बड़ा है) कहकर अल्लाह की बड़ाई की उद्घोषणा करते जाना मानो अपने इस इरादे और इस फ़ैसले से दुनिया को सचेत करना है कि यदि कोई अल्लाह के दीन को नुक़सान पहुँचाना चाहेगा तो हम उसका मुंह तोड़ जवाब देंगे और ख़ुदा के दीन की रक्षा के लिए अपना तन, मन, धन सब न्योछावर कर देंगे।

(9) क़ुरबानी: वह ''महान् बलि'' है जिसे अल्लाह तआला ने हज़रत इसमाईल (अलै.) का फ़िद्‌या (बदल) ठहराया है –

''.....हमने उसे (इसमाईल को)एक महान बलि (क़ुरबानी) के बदले में छुड़ा लिया'' (क़ुरआन 37:107)

इसलिए अल्लाह के आज्ञानुपालन में जानवर को क़ुरबान करना वस्तुतः अपने आपको क़ुरबान करने के समान है। यह इस बात का ख़ामोश इक़रार है कि हमारी जान अल्लाह के मार्ग में भेंट चढ़ चुकी है और वह जब उसे माँगेगा, हम बेझिझक और अविलम्ब पेश कर देंगे। यह जानवर का ख़ून बहाना वास्तव में इस बात का प्रतीक और प्रस्ताव है कि अल्लाह की प्रसन्नता की जब भी अपेक्षा होगी, हम अपना ख़ून तक बहा देने के लिए तैयार हैं। वरना जानवर को ज़िबह करना स्वयं में न वह धर्म है न तक़वा (परहेज़गारी)। इस बात को क़ुरआन में यूँ स्पष्ट किया गया है —

> "न उनके मांस अल्लाह को पहुँचते हैं और न रक्त, किन्तु उसे तुम्हारा तक़वा (धर्मपरायणता) पहुँचता है।" (क़ुरआन, 22:37)

हज की रस्मों के पीछे काम करनेवाली उपरोक्त समस्त वास्तविकताओं को देखिए। रब की बन्दगी की कौन-सी भावना है जो उसके अन्दर लहरें नहीं ले रही है। विशेषतः जिहाद की भावना, जो बन्दगी की उच्चतम स्थिति है। वह इस समस्त कर्मों में इस प्रकार व्याप्त है कि यह पूरा हज जिहाद का एक बहुत बड़ा लाक्षणिक अभ्यास नज़र आने लगता है – बौद्धिक दृष्टि से भी और व्यावहारिक दृष्टि से भी। यही कारण है कि जब हज़रत आइशा (रज़ि.) ने अल्लाह के रसूल (सल्ल.) से पूछा कि "हम जिहाद को सबसे उत्तम कर्म पाते हैं, इसलिए हम औरतें भी क्यों न यह अनिवार्य कर्त्तव्य (फ़रीज़ा) पूरा करें?" तो आप (सल्ल.) ने फ़रमाया –

> "तुम औरतों का सबसे श्रेष्ठ जिहाद वह हज है जो कोताहियों (भूल-चूक) से पाक हो।" (हदीस : बुख़ारी, भाग-1)

हज के व्यापक होने का कारण

इन बातों के अलावा यदि हज की रस्मों (कृत्यों) को एक और दृष्टिकोण से देखिए तो आभास होगा कि यह हज यद्यपि कहने को एक इबादत है, किन्तु वस्तुतः इसमें हर इबादत और हर शुभ-कर्म का वैभव विद्यमान है। अतएव –

(1) वह नमाज़ भी है, क्योंकि नमाज़ की हक़ीक़त अल्लाह का ज़िक्र है और

आपने देखा कि हज ज़िक्रे-इलाही (अल्लाह के स्मरण) से भरा हुआ है।

(2) वह ज़कात भी है: इसलिए कि हर हज करनेवाले को हुक्म है कि वह क़ुरबानी का गोश्त ग़रीबों को खिलाए –

"और तंगहाल मोहताज को खिलाओ," (क़ुरआन 22: 28)

इसके अलावा यह बात तो बिलकुल स्पष्ट ही है कि केवल अल्लाह के लिए अपनी दौलत ख़र्च किए बिना हज किया ही नहीं जा सकता और ज़कात की वास्तविकता भी इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कि अल्लाह की ख़ातिर अपनी दौलत ख़र्च की जाए।

(3) वह रोज़ा भी है इसलिए कि यौन सम्बन्ध रोज़े में यदि केवल दिन में निषेध है, तो हज के दौरान रातों में भी निषेध रहता है। रहा खाने-पीने का मामला तो रोज़े की तरह यद्यपि हज में खाना-पीना मना नहीं है, किन्तु इसके बाद इसमें साज-सज्जा, व बनाव-श्रृंगार आदि की जो दूसरी बहुत-सी पाबन्दियाँ लगी होती हैं, वे बड़ी सीमा तक इस निषेधन की जगह ले लेती हैं। मन की बुरी इच्छाओं को नियंत्रित करने का अभ्यास जिस प्रकार रोज़े में होता है उसी प्रकार हज में भी होता है।

(4) वह 'तौहीद' (एकेश्वरवाद) का प्रशिक्षक भी है – क्योंकि 'काबा' के निर्माण का आधार ही तौहीद है। उसे देखते ही मोमिन के दिल में ईश्वर के एक होने (वहदानियत) की अंतरात्मा जाग उठती है। इसके अलावा – "लब्बै-क अल्ला-हुम्-म लब्बै-क" की निरन्तर पुकार, हजरे-असवद (काला पत्थर) का बोसा, काबा का तवाफ़ (परिक्रमा), सई (सफ़ा-मरवा के बीच दौड़ना), और क़ुरबानी – मतलब यह कि हज में कितने ही कर्म ऐसे हैं जो 'तौहीद' की भावनाओं से मानव को परिपूर्ण करते जाते हैं।

(5) वह परलोक (आख़िरत) का स्मारक भी है, क्योंकि 'जमरात' के सुतून अबरहा का अंजाम याद दिलाते हैं, जो बदला देने के विधान की एक खुली हुई गवाही है।

(6) वह ईमान से सम्बन्धित गुणों का – अल्लाह से प्रेम का, धैर्य का, प्रभु-प्रसन्नता की प्राप्ति एवं उसके प्रति दीनता का, प्रभु से आशा और दुनिया के प्रति निस्पृह होने का, पारस्परिक सहानुभूति एवं इनसानी बराबरी का – ऐसा प्रशिक्षण देता है जो अपनी मिसाल आप है।

हज के सम्बन्ध में ज़रूरी स्पष्टीकरण सामने आ चुके हैं। इन्हें देखने के बाद कौन कह सकता है कि इस इबादत के प्रति असावधान व्यक्ति के अन्दर भी इस्लामी धार्मिक जीवन मौजूद है। ईमानी चेतना से इस लापरवाही का निस्सन्देह कोई मेल नहीं हो सकता। इसलिए सामर्थ्य रखने के बाद भी यदि कोई मुसलमान अपने धर्म और ईमान के इस केन्द्र की ओर न खिंचा तो कोई सन्देह नहीं कि उसका इस्लाम बिना स्तम्भ के ही रहेगा। इसी प्रकार इस बात में भी कोई संदेह न होना चाहिए कि जब किसी ने इस इबादत को अपने बस भर इस तरह अदा कर लिया जिस तरह कि उसे अदा किया जाना चाहिए, उसने अपने धर्म को एक और दृढ़तम बुनियाद पर क़ायम कर लिया।

इस्लाम के आधारस्तंभों पर एक विहंगम सामूहिक दृष्टि

ये हैं इस्लाम के आधारभूत कर्म और उनकी वस्तुस्थिति, उद्देश्य और तत्त्वदर्शिताएँ। इनपर जो व्यक्ति भी गहरी दृष्टि डालेगा स्पष्टतः महसूस करेगा कि ये कर्म केवल कुछ नेकियाँ और इबादतें ही नहीं हैं, बल्कि नेकी और इबादत के स्रोत भी हैं। इनमें से प्रत्येक – इनसान के अन्दर – बन्दगी का एहसास उभारने और उसे पूर्ण करने में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है, जो उसी के लिए विशिष्ट भी है। कोई दूसरा कर्म उसकी जगह नहीं ले सकता। ये सभी मिलकर मोमिन को एक ऐसी बुद्धि प्रदान करते हैं जो इस्लाम के बारे में पूरी तरह सन्तुष्ट होती है। एक ऐसा हृदय प्रदान करने हैं जो अल्लाह के आदेशों पर बराबर कान लगाए रखता है। एक ऐसी अन्तरात्मा प्रदान करते हैं जो अल्लाह की प्रसन्नता की चाह से परिपूर्ण होती है। इन सब बातों के परिणामस्वरूप वह अल्लाह के आज्ञानुपालन के लिए ऐसा तत्पर हो जाता है कि उसे अल्लाह का जो भी हुक्म मिले, उसके अनुपालन के लिए दौड़ पड़े। उसके दिल की ज़मीन जुतकर और खाद और पानी पाकर इस प्रकार तैयार हो

जाती है कि 'दीनी' (धार्मिक) हिदायतों का जो बीज भी उसमें डाला जाए उसे तुरन्त क़बूल कर ले और उसे विकसित होने देने के लिए अपना अमल शुरू कर दे। इसी आधार पर इन्हें 'इस्लाम के स्तम्भ' अर्थात धर्म के शेष अवयवों के लिए भी जीवनाधार ठहराया गया है। निस्संदेह, यह एक बेहतरीन परिभाषा थी जो इन कर्मों की इस्लाम के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) ने की है।

जीवन-व्यवस्था

इस्लाम की आस्था सम्बन्धी और व्यावहारिक आधारभूत बातों को समझ लेने के बाद अब आइए इस धर्म के पूरे अस्तित्व को समझ लें। जिस प्रकार किसी पेड़ में पत्ते, फूल और फल उसके बीज की प्राकृतिक अपेक्षाओं के अनुसार ही निकलते हैं उसी प्रकार किसी धर्म की शिक्षाओं की स्थिति भी ठीक वैसी ही होती है, जैसी कि उसकी मौलिक अवधारणा चाहती है। दूसरे शब्दों में यह कि किसी धर्म की शिक्षाएँ वास्तव में उसकी मौलिक अवधारणा ही का प्रतिबिम्ब हुआ करती हैं। इसलिए यह जानने के लिए कि इस्लामी शिक्षाओं की पूरी रूप-रेखा क्या है, पहले यह जान लेना चाहिए कि इस्लाम की धार्मिक अवधारणा क्या है ?

धर्म की विभिन्न धारणाएँ

संसार में इस समय सामान्य रूप से तीन धारणाएँ पाई जाती हैं :

(1) एक तो यह कि यह संसार मनुष्य के लिए वास्तव में एक क़ैदख़ाना है। उसका शरीर उसकी आत्मा के लिए एक पिंजरे की हैसियत रखता है और उसके अन्दर जो भौतिक इच्छाएँ पाई जाती हैं, वे इस पिंजरे की तीलियाँ हैं। मानव मुक्ति उसी समय पा सकता है, जब वह इस क़ैदख़ाने की दीवारों को स्वयं अपने हाथों से तोड़ डाले और इस पिंजरे से अपनी आत्मा को आज़ाद करा ले, अर्थात् वह संसार का परित्याग कर दे। बस्तियों से दूर निकल जाए और किसी एकांतवास में अपने पालनहार से लौ लगाकर बैठ जाए। अपनी स्वाभाविक इच्छाओं को दबा-दबाकर कुचल डाले और पूरी तरह विनष्ट कर के रख दे। केवल इसी स्थिति में उसकी आत्मा के ऊपर से वह परदा हट सकता है जो उसे ख़ुदा के जल्वों को देख पाने और उसकी चौखट तक पहुँच प्राप्त कर लेने से रोके हुए

है। इसलिए इनसान के लिए ज़रूरी है कि तपस्या करके माया के इस जाल से बाहर निकल आए।

धर्म और ईशपरायणता (ख़ुदापरस्ती) का यही दृष्टिकोण है जिसे 'संन्यास' या 'योग' कहा जाता है।

(2) दूसरी धारणा यह है कि इनसान को संसार से मुँह मोड़ लेने और अपने मन की इच्छा को मार डालने की ज़रूरत नहीं, बल्कि उसे संसार का बर्ताव और अपनी स्वाभाविक इच्छाओं को उचित सीमाओं के अन्दर पूरा करते हुए ख़ुदा की इबादत करनी चाहिए। रहे सांसारिक मामले और समस्याएँ, तो केवल वैयक्तिक जीवन की सीमा तक धर्म उसे निश्चित हिदायतें देता है जिनकी उसे पूरी-पूरी पाबन्दी करनी चाहिए। शेष जीवन में वह स्वतंत्र है। क्योंकि पूजा-पाठ व इबादत व्यक्ति का काम है, समाज व गिरोह का नहीं। इसलिए धर्म भी मानव और ईश्वर के बीच का एक निजी मामला है, जो जीवन के आम सामाजिक मामलों और समस्याओं में कोई रोक-टोक नहीं करता और न उसे कोई रोक-टोक करना चाहिए। इन समस्याओं में इनसान को अधिकार है कि वह जो मार्ग चाहे अपनाए और जीवन की जो प्रणाली चाहे अपनाए। ईश्वर और धर्म को इससे कोई बहस नहीं।

(3) तीसरी धारणा यह है कि संसार का परित्याग और इच्छाओं को मार डालना भी ग़लत, और बन्दगी (ईशोपासना) को केवल व्यक्ति का काम और धर्म को इनसान के केवल निजी जीवन का मामला समझना भी ग़लत। सही बात यह है कि मानव का उपासनागृह हो या उसका घर, उसके खेत हों या उसके बाज़ार, उसकी आर्थिक संस्थाएँ हों या उसका राजनैतिक क्षेत्र – ये सब-के-सब स्थान अपने धार्मिक कर्त्तव्यों और बन्दगी के उत्तरदायित्वों को निभाने के स्थान हैं। उनमें से किसी एक जगह से भी मनुष्य न तो भाग सकता है, न उसमें अपनी मनमानी कर सकता है। इसी प्रकार उसे जितनी शक्तियाँ दी गई हैं, वे सब उसी बन्दगी के काम को पूरा करने के लिए ही दी गई हैं। इसलिए इनमें से

कोई शक्ति न कुचल डालने की है, न आज़ाद छोड़ देने की। यथार्थ धर्मपरायणता और ख़ुदापरस्ती यह है कि इनसान अपना पूरा जीवन, व्यक्तिगत से लेकर सामूहिक तक, ईश्वर (अल्लाह) के आदेशों के अधीन गुज़ारे। वह उपासनागृह में अगर जगत्-पालनहार अल्लाह तआला की परस्तिश करता है, तो उससे बाहर भी वही कुछ करे जिसे करने का उसने हुक्म दिया है, और इस प्रकार उसके सासांरिक जीवन की प्रणाली पूरी की पूरी वही हो जो उसके मालिक को पसन्द है।

इस्लाम में संन्यास नहीं

इन तीनों धारणाओं में से जहाँ तक पहली धारणा का सम्बन्ध है, इस्लाम यक़ीनी तौर पर इस प्रकार का कोई धर्म नहीं। उसकी एक-एक बात से इस धारणा का खण्डन होता है और इस खण्डन में उसकी वह आस्था-सम्बन्धी और व्यावहारिक आधारशिलाएँ सबसे आगे हैं जिनसे हम अभी परिचय प्राप्त कर चुके हैं। अतः उनसे स्पष्ट हो चुका है कि –

(अ) इस्लाम में अल्लाह की अवधारणा केवल प्रभु-प्रीतम की धारणा नहीं है, बल्कि यह भी है कि वह मानव का वास्तविक शासक और वास्तविक संविधान-निर्माता भी है। स्पष्ट है कि संसार-त्याग, इन्द्रीय-दमन और ज्ञान-ध्यान के द्वारा ख़ुदा तक पहुँच जाने का दृष्टिकोण उसी वक़्त सही हो सकता है, जब वह इनसान का केवल अभीष्ट और लक्ष्य-बिन्दु हो और इसके सिवा और कुछ न हो। लेकिन जब वास्तविकता इस प्रकार की नहीं है, बल्कि यह है कि वह उसका आदेशदाता-शासक और क़ानुन बनानेवाला भी है, तो इसका अर्थ यह है कि उसके लिए उसके कुछ आदेश और क़ानून भी होंगे, जिनका उसे पालन करना चाहिए। इसलिए इनसान का काम केवल यह नहीं है कि वह केवल अल्लाह की याद एवं ध्यान में व्यस्त रहे, बल्कि यह भी है कि वह जीवन के मैदान में आए और उन आदेशों का पालन करके आज्ञाकारी प्रजा होने का प्रमाण दे।

(ब) इस्लाम की रचना जिन पाँच 'स्तम्भों' पर हुई है उनमें से प्राय: की – नमाज़, ज़कात और हज की – ठीक-ठीक अदायगी के लिए किसी-न-किसी प्रकार की सामूहिकता हर स्थिति में ज़रूरी है। एकाकीपन में सामूहिकता का कोई अस्तित्व नहीं हुआ करता। इसलिए उसके अन्दर सिमटे रहने से इन मूलभूत इबादतों की सही अदायगी भी नहीं हो सकती। विचार कीजिए जिस एकांतवास में इस्लाम की बुनियादें भी ठीक रूप से न उठाई जा सकती हों, उसमें पूरे इस्लाम का निर्माण किस प्रकार सम्भव हो सकता है?

(स) इस्लाम के ये स्तम्भ मूलोपासना होने के बावजूद धर्म की बहुत-सी सामूहिक मर्यादाओं और सामाजिक हितों को भी अपने अन्दर समेटे हुए हैं। इस आधार पर इन्हें अलग-अलग अदा कर लेने के बजाय सामूहिक रूप में अदा करने की ताकीद की गई है। इससे एक तरफ़ तो यह स्पष्ट होता है कि इस्लाम की इन व्यावहारिक आधारशिलाओं से धर्म और ख़ुदापरस्ती (ईशपरायणता) की जिस प्रकृति का प्रदर्शन होता है वह एकांतवास और इन्द्रीय-दमन के तरीक़े से किसी प्रकार सामंजस्य नहीं रख सकता। दूसरी ओर यह कि अगर जीवन के सामूहिक वातावरण से हटकर स्वयं नमाज़-रोज़े अदा कर भी लिए गए तो इससे वे सब अभीष्ट उद्देश्य और लाभ कभी भी प्राप्त नहीं हो सकेंगे जिन्हें इन इबादतों के द्वारा ईश्वरीय धर्म-विधान (शरीअत) प्राप्त करना चाहता है। ऐसी दशा में इन विशिष्ट और मौलिक उपासनाओं (इबादतों) की सीमा तक भी उस ख़ुदापरस्ती का हक़ किसी तरह अदा नहीं हो सकता जिसे इस्लाम ख़ुदापरस्ती (ईशोपासना) कहता है।

(द) इन पाँच चीज़ों को 'इस्लाम के स्तम्भ' कहा गया है, न कि सम्पूर्ण इस्लाम, – इसका अर्थ स्पष्टत: यह हुआ कि इस्लाम केवल इन्हीं पाँच चीज़ों का नाम नहीं है, बल्कि इनके अलावा भी बहुत कुछ है। क्योंकि स्तम्भों का असाधारण महत्त्व और उनका उच्च स्थान अपनी जगह पर है, मगर कोई इमारत केवल स्तम्भों या दीवारों का नाम नहीं हुआ करती और न आज तक स्तम्भों की किसी संख्या को 'इमारत' समझा गया है।

किसी निर्मित वस्तु को 'इमारत' समझने और कहने का अवसर तो उसी समय आता है, जब दीवारों पर छत डाली जा चुकी हो। अर्थात दीवार और छत दोनों मिलकर इमारत कहलाती हैं। इसलिए ज़रूरी है कि इस्लाम की भी कोई छत हो जिसके लिए ये पाँचों चीज़ें 'स्तम्भ' बन सकें और फिर ये सब मिलकर इस्लाम की 'इमारत' की शक्ल अपना सकें। स्पष्ट है कि इस्लाम की यह 'छत' उसकी वही शिक्षाएँ होंगी जो इन पाँचों चीज़ों के अलावा हैं। हर व्यक्ति जानता है कि इन शिक्षाओं में से अनगिनत ऐसी भी हैं जिनका सम्बन्ध संसार के व्यस्त जीवन से है और तनहाई (एकाकीपन) के सुनसान गोशों में उनको व्यवहार में ला सकना ऐसा ही असम्भव है जैसे ख़ुश्की में तैरना। इसलिए यदि यह मान भी लिया जाए कि इस्लाम के मौलिक कार्य एकांत निर्जन स्थानों में भी ठीक-ठीक पूरे किए जा सकते हैं, तब भी यह इस्लाम की पैरवी का हक़ अदा हो जाने के समानार्थक किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। क्योंकि केवल इन चार-पाँच चीज़ों का हक़ अदा हो जाना और बात है तथा पूरे इस्लाम का हक़ अदा हो जाना बिलकुल दूसरी बात है। केवल इन्हीं आदेशों का अनुपालन पूरे इस्लाम का आज्ञानुपालन उसी समय हो सकता था, जब इस्लाम इन पाँच चीज़ों के अतिरिक्त और कुछ न होता। किन्तु मालूम हो चुका कि ऐसी धारणा रखने की कोई गुंजाइश मौजूद नहीं।

ये समस्त तथ्य जो इस्लाम की धारणात्मक और व्यावहारिक बुनियादों के अन्दर ही मौजूद हैं, साफ़-साफ़ एलान करते हैं कि इस्लाम का संन्यास से कोई सम्बन्ध नहीं।

इस बात की पुष्टि में क़ुरआन व हदीस की कुछ गवाहियाँ भी सुन लीजिए। नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं –

"इस्लाम में कोई संन्यास नहीं" (नैलुल औतार, भाग-6)

हज़रत उसमान (रज़ि.) बिन मज़ऊन ने जब निष्पौरुष (ख़स्सी) हो जाने की अनुमति माँगी तो नबी (सल्ल.) ने इनकार करते हुए फ़रमाया –

"हमें अल्लाह तआला ने संन्यास के बजाए सरल और विशुद्ध इबराहीम वाला धर्म प्रदान किया है।" (नैलुल् औतार, भाग-6)

इसी प्रकार अल्लाह तआला ईसाइयों पर जिन्होंने संन्यास को धर्म और ईशपरायणता (ख़ुदापरस्ती) की पराकाष्ठा समझकर अपना रखा था, आलोचना करते हुए फ़रमाते हैं –

".....संन्यास जिसे उन्होंने स्वयं गढ़ लिया है, हमने उन्हें इसका आदेश नहीं दिया था।" (क़ुरआन, 57:27)

मालूम हुआ कि न केवल इस्लाम में, बल्कि ईश्वर की ओर से आई हुई किसी शरीअत में भी संन्यास की शिक्षा नहीं दी गई थी। जिन्होंने भी ख़ुदापरस्ती के लिए यह ढंग अपनाया, पूरी तरह अपने जी से गढ़कर अपनाया। दूसरे शब्दों में यह कि अल्लाह के धर्म का स्वभाव कभी भी संन्यास के दर्शन के मतैक्य समरूप नहीं रहा।

जिस प्रकार इस्लाम धर्म का स्वभाव संन्यास को सहन नहीं करता और जिस प्रकार इसकी मौलिक धारणाओं और संस्कारों से उसका विरोध टपका पड़ता है, जैसाकि चाहिए; ठीक यही दशा उसकी विस्तृत शिक्षाओं की भी है। अतः नबी (सल्ल.) ने हर उस कार्यशैली और आचरण को निषेधित कर दिया है जो संन्यास की कार्यशैली था या उसकी ओर ले जानेवाली बन सकता था। उदाहरणार्थ, निकाह से बचना, निष्पौरुष (ख़स्सी) होना, सदैव निरन्तर रोज़े रखना, रोज़े के दौरान रात को भी कुछ न खाना-पीना, वाक्शक्ति को स्थगित रखना, इस प्रकार का रात्रि-जागरण करना जिनसे शरीर ज़रूरी आराम से और परिवारजन अपने हक़ों से वंचित हो जाएँ आदि।

इस्लाम केवल वैयक्तिक जीवन तक सीमित नहीं

धर्म के सम्बन्ध में इस अवधारणा से भी इस्लाम का कोई जोड़ नहीं कि धर्म केवल ईश्वर और व्यक्ति का निजी मामला है। अर्थात् वह इस प्रकार का भी धर्म नहीं है कि बन्दे और ख़ुदा के बीच का बस एक निजी मामला हो। यदि ऐसा होता तो उसकी शिक्षाएँ अनिवार्यतः वैयक्तिक जीवन की

समस्याओं तक ही सीमित होतीं। वह केवल मसजिद की बातें करता, नमाज़-रोज़े का आदेश देता कुछ नैतिक शिक्षाओं की तलक़ीन कर देता, कुछ सामाजिक हिदायतें दे देता, और फिर चुप्पी साध लेता। किन्तु क़ुरआन और हदीस का एक-एक पृष्ठ गवाही देता है कि वस्तुस्थिति यह नहीं है। इस्लाम के निर्देशों की मसनद इबादतगाहों और जीवन के सीमित क्षेत्रों ही में बिछी हुई दिखाई नहीं देती, बल्कि वह बाज़ारों, व्यापारिक संस्थाओं, आर्थिक क्षेत्रों, संस्कृति व समाज के दायरों, राजनीति व हुकूमत के ऐवानों – मतलब यह कि जीवन के हर क्षेत्र में हिदायतें व मार्गदर्शन देता है। वह कुछ बातों से रोकता और कुछ बातों का हुक्म देता नज़र आता है। इनमें से कोई चीज़ भी ऐसी नहीं जिसको वह "धर्म से अधिक" कहता हो। उदाहरणतः क़ुरआन आदेश देता है कि व्यभिचारी को सौ कोड़े मारो। उसका यह आदेश स्पष्टतः एक ऐसा आदेश है जिसका सम्बन्ध पुलिस और न्यायालय और शासन से है, और इसलिए वह निस्सन्देह समष्टीय जीवन का प्रकरण है। इस आदेश की हैसियत और उसके लागू करने के बारे में कहता है कि "अल्लाह के धर्म के मामलों में उन व्यभिचारियों के लिए दया की भावना तुम्हारा दामन न पकड़ने पाए," (क़ुरआन, 24:2)। इस निर्देश के शब्दों से साफ़ मालूम होता है कि क़ुरआन के निकट कोड़े मारने का यह हुक्म 'अल्लाह के धर्म' का एक हिस्सा है, न कि उससे बाहर या अधिक कोई चीज़। इसी प्रकार वह कहता है कि – "साल के चार महीने आदरवाले हैं," (क़ुरआन, 9:36)। इनमें जंग करना वैध नहीं। यह निर्देश स्पष्टतः सामरिक क़ानून से सम्बन्ध रखता है और प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि जंग सामुदायिक जीवन के बिलकुल अंतिम विचारणीय विषयों में से है। लेकिन क़ुरआन उसे भी "सीधा धर्म" बताता है – "यही सीधा-धर्म (सीधा दीन) है," (क़ुरआन, 9:36)। अर्थात् यह निर्देश कि इन चार महीनों का सम्मान यथास्थिति किया जाए और उनमें जंग छेड़कर उनका निरादर न किया जाए 'धर्म' ही का एक घटक है, उससे अलग कोई चीज़ नहीं।

यही नहीं कि क़ुरआन सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले केवल अपने ही क़ानूनों को धर्म कहता है, बल्कि किसी भी मज़हब और सोसायटी के क़ानून को उसका 'धर्म' कहता है। अतएव, हज़रत यूसुफ़ (अलै.) के क़िस्से में वह एक जगह कहता है –

"उसके लिए इस बात की गुंजाइश न थी कि वह अपने भाई को मिस्र के बादशाह के 'धर्म' के तहत रोक लेता।" (क़ुरआन, 12:76)

स्पष्ट है कि यहाँ जिस चीज़ को "मिस्र के बादशाह का धर्म" कहा गया है उससे अभिप्रेत उसका राष्ट्र-विधान और फ़ौजदारी का क़ानून है।

ये कुछ उदाहरण इस वास्तविकता को खोल देने के लिए बिलकुल पर्याप्त हैं कि अल्लाह का हर फ़रमान और उसके रसूल (सल्ल.) का हर कथन इस्लाम का हिस्सा और धर्म का अंग व घटक है और उनके किसी भी आदेश को धर्म से अलग नहीं सोचा जा सकता।

इस दृष्टि से भी सोचिए तो इस प्रकार के विचार में कि धर्म आदमी के वैयक्तिक जीवन तक सीमित है, कोई बौद्धिकता न मिल सकेगी। 'इस्लाम' का अभिप्राय यदि अल्लाह तआला का बिना शर्त आज्ञानुपालन करना है तो उसके किसी भी आदेश को आज्ञानुपालन की परिधि से किस प्रकार बाहर रखा जा सकता है ? और यह कैसे सम्भव है कि उसके कुछ आदेशों को उसके भेजे हुए हिदायतनामे (मार्गदर्शन) और अवतरित किए हुए धर्म का अंश न माना जाए और उनका आज्ञानुपालन इस्लाम के मुतालबे में सम्मिलित न हो ?

अब ये दोनों वास्तविकताएँ आपके सामने हैं कि किताब व सुन्नत (अर्थात् क़ुरआन और हदीस) में मानव-जीवन के आध्यात्मिक व भौतिक, वैयक्तिक और सामुदायिक सारे ही विषयों एवं समस्याओं से सम्बन्धित आदेश दिए गए हैं, और यह भी कि इनमें का हर हुक्म धर्म का अंश और इस्लाम में दाख़िल है। इन सच्चाइयों की मौजूदगी में ऐसा कह सकने की कोई गुंजाइश नहीं रहती कि इस्लाम का क्षेत्र इनसान के केवल वैयक्तिक जीवन तक सीमित है। और यह भी वैसा ही एक धर्म है जैसा कि दुनिया में अन्य धर्म पाए जाते हैं और जिनका संसार के सामूहिक एवं मानव जीवन की व्यापक समस्याओं से कोई लेना-देना नहीं होता।

इस्लाम एक परिपूर्ण व्यवस्था

अगर यह मान लिया जाए कि इस वक़्त रात नहीं है तो इसका अर्थ यह होगा कि इस वक़्त अनिवार्यत: दिन ही है। इसलिए जब यह बात स्पष्ट हो गई कि इस्लाम न तो संन्यास (रहबानियत) को सही समझता है और न इसका क्षेत्र वैयक्तिक जीवन की समस्याओं तक सीमित है, तो इसका स्वरूप आप-से-आप निश्चित हो गया। वह यह कि मानवता से सम्बन्धित कोई ऐसी समस्या एवं विषय नहीं जो उसके क्षेत्र से बाहर हो। वह एक ऐसा धर्म है जो हर जगह व्यक्ति के साथ होता है। व्यक्ति जो भी क़दम उठाना चाहता है वह इस्लाम को मार्गदर्शन हेतु अपने सामने मौजूद पाता है। संक्षिप्त में यह कि वह एक ऐसी परिपूर्ण व्यवस्था है जो मानवीय जीवन के आस्था सम्बन्धी, चिंतन सम्बन्धी, नैतिकता और व्यवहार सम्बन्धी समस्त पहलुओं को पूरी तरह घेरे हुए है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि वायुमण्डल इस भूमि को चारों ओर से अपने अंक में लिए हुए है। नीचे इस व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण अंशों की एक संक्षिप्त रूप-रेखा पेश की जाती है, ताकि एक तरफ़ तो इस दावे का विस्तृत प्रमाण भी सामने आ जाए और दूसरी ओर यह भी मालूम हो जाए कि यह व्यवस्था क्या है ? किन्तु इससे पूर्व कि इस्लामी व्यवस्था के विविध अंशों का परिचय कराया जाए, निम्न कुछ सैद्धांतिक बातों को अच्छी तरह ज़ेहन में बिठा लेना चाहिए—

(1) प्रथम यह कि इनमें का हर अंश एक ही केन्द्र से सम्बद्ध है, एक ही सारतत्त्व है जो इन सबके अन्दर दौड़ रहा है। यह 'केन्द्र' और यह 'सारतत्त्व' वही ईमान और धारणाएँ हैं, जिनपर किताब के दूसरे अध्याय में वार्ता की जा चुकी है और उनमें से भी विशिष्टता के साथ यह धारणा कि अल्लाह तआला हमारा अकेला पूज्य-प्रभु, असल शासक और वास्तविक विधि-प्रदाता है। वास्तव में यही आधारभूत धारणा वह मूल है जिससे बिलकुल स्वाभाविक शैली में इस्लाम की इस पूरी व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ है। इसलिए इस व्यवस्था के जिस भाग का भी मूल्य और महत्त्व आप समझना चाहें केवल इसके बाह्य ढाँचे ही को न देखें,

बल्कि ज़रूरी है कि उसे जड़ समेत देखें।

(2) दूसरी बात यह कि इस व्यवस्था की कार्यकुशलता एक ऐसे समाज के अस्तित्व पर निर्भर है जो 'मुस्लिम' हो, जिसे अल्लाह और उसके गुणों पर गहरा यक़ीन हो, जो आख़िरत (परलोक) पर सच्चा ईमान रखता हो और जो अल्लाह के रसूल हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) को दिल से अल्लाह का नबी और आख़िरी नबी स्वीकार करता हो। संक्षेप में यह कि जो सही अर्थों में इस्लाम का आज्ञानुपालक हो। इसलिए इस व्यवस्था के मूल्य और महत्त्व का अनुमान लगाने के लिए ज़रूरी है कि उसे एक ऐसे ही समाज के साथ सम्बद्ध करके देखा जाए, अन्यथा जिस प्रकार एक अच्छे शक्तिशाली बहादुर की कल्पना के बिना किसी अच्छी-से-अच्छी तलवार की काट का अंदाज़ा नहीं लगाया जा सकता, उसी प्रकार एक अच्छे मुस्लिम समाज की अवधारणा के बिना इस्लामी व्यवस्था के भी व्यावहारिक मूल्य और महत्त्व का सही अनुमान नहीं किया जा सकता।

(3) तीसरी बात यह है कि इस व्यवस्था के विभिन्न हिस्से आपस में सुदृढ़ रूप से जुड़े हुए हैं, जिस प्रकार कि एक मशीन के विविध पुरज़े परस्पर जुड़े होते हैं। इसलिए दृष्टिकोणीय रूप से समझने के लिए तो उन्हें अलग-अलग ख़ानों में ज़रूर विभाजित किया जाता है, मगर व्यावहारिक रूप में उनका पृथक-पृथक अस्तित्व लगभग असम्भव है। अपनी कार्य-क्षमता की दृष्टि से ये समस्त घटक वास्तव में एक एकत्व हैं। इनमें का कोई भी घटक अपना व्यावहारिक गुण उसी वक़्त दिखा सकता है जब यह पूरी व्यवस्था पूर्णरूपेण क्रियाशील हो। इसी प्रकार उसके किसी भी घटक को ठीक-ठीक समझा भी उसी वक़्त जा सकता है, जबकि दूसरे सभी घटक नज़र के सामने हों।

इन मौलिक बातों को ज़ेहन में बिठा लेने के बाद अब आइए इस पूरी व्यवस्था का अध्ययन करें।

1. आध्यात्मिक व्यवस्था

इस्लामी व्यवस्था का सबसे महत्त्वपूर्ण और केंद्रीय अंश उसका वह हिस्सा है जिसका सीधा सम्बन्ध इनसान की अन्तरात्मा से है और जिसे प्रचलन की दृष्टि से इस्लाम की आध्यात्मिक व्यवस्था कह सकते हैं। इस व्यवस्था का लक्ष्य यह है कि इनसानी आत्मा इच्छाओं की दासता से आज़ाद और संसारवाद के प्रदूषणों से पाक हो जाए और आज़ाद व पाक होकर अल्लाह की पैरवी, उसकी मुहब्बत और उसकी प्रसन्नता की चाहत की भावनाओं से भर जाए। इस पवित्रता और ख़ुदा के चाहने का अपेक्षित मापदण्ड यह है कि इनसान वही कुछ पसन्द करने लगे जो उसके अल्लाह को पसन्द है और हर उस चीज़ को घृणा की दृष्टि से देखने लगे जो उसके अल्लाह को अप्रिय है। अपने वास्तविक स्वामी के आदेशों पर इस प्रकार अमल करने लगे मानो वह उसे अपने सिर की आँखों से देख रहा है। उसकी नाराज़ी से इस प्रकार डरता रहे मानो उसके तेजस्वी सिंहासन के सामने खड़ा है। उसकी प्रसन्नता के लिए इस प्रकार लपकता रहे जैसे प्यासा ठण्डे पानी की ओर लपकता है और उसके इशारों पर अपनी जान व माल क़ुरबान कर देने के लिए इस तरह तैयार रहे जैसे कि उन चीज़ों की उसकी निगाह में कोई क़ीमत ही नहीं। आध्यात्म के इस सबसे ऊँचे और मेआरी मक़ाम का नाम इस्लाम की भाषा में 'एहसान' है।

अन्तरात्मा में पवित्रता और ख़ुदा-तलबी की यह कैफ़ियत पैदा करने के लिए इस्लाम ने जो मौलिक और सहज उपाय निश्चित किए हैं वे वही हैं जिनको 'इस्लाम का आधार-स्तम्भ' कहा जाता है। इनका उल्लेख 'आधारभूत कर्म' के शीर्षक के अन्तर्गत ऊपर सविस्तार किया जा चुका है। नमाज़ और ज़कात, रोज़ा और हज मानवीय अन्तरात्मा में यह कैफ़ियत किस तरह उत्पन्न करते हैं? यह पूरी वार्ता आपके सामने होगी, इस लिए यहाँ इस व्याख्या की कोई ज़रूरत नहीं।

2. नैतिक व्यवस्था

किसी व्यक्ति की अन्तरामा की पवित्रता या अपवित्रता की सबसे अति सामान्य और सबसे व्यक्त कसौटी उसके शिष्टाचार और नीतिगत आचरण (अख़लाक़) होते हैं। अन्तरात्मा जिस प्रकार की होती है नीतिगत आचरण भी वैसे ही प्रकट रूप में आते हैं। यही कारण है कि आम तौर से इनसान के नीतिगत आचरण ही उसके गुणों व दोषों को प्रकट कर देनेवाले समझे जाते हैं। इसलिए स्वाभाविक क्रमबद्धता के आधार पर आध्यात्मिक व्यवस्था के बाद नैतिक व्यवस्था ही का नम्बर आना चाहिए। जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध है, उसका फ़ैसला भी यही मालूम होता है, क्योंकि उसने अच्छे शिष्टाचार और नीतिगत आचरण को अत्यन्त महत्त्व प्रदान किया है, इतना महत्त्व कि एक पहलू से मानो वही धर्म का सार है। अल्लाह के नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं –

> "मैं इसलिए भेजा गया हूँ ताकि नीतिगत सुआचरण को परिपूर्ण कर दूँ।"
>
> (हदीस : मुवत्ता)

> " भलाई अच्छे शिष्टाचार एवं व्यवहार का नाम है।"
>
> (हदीस : मुस्लिम)

यह है शिष्टाचार और अच्छे आचरण का वह असाधारण महत्त्व जिसके आधार पर उसके बारे में इस्लाम ने बड़े विस्तार से आदेश दिए हैं और उनकी बड़ी ताकीद की है। इन कारणों से इस्लामी व्यवस्था के दूसरे अंशों से पहले इसी अंश का अध्ययन किया जाना उचित होगा।

इस क्रम में सबसे पहले इस्लामी नैतिकता एवं शिष्टाचार की हैसियत जान लेनी चाहिए। अर्थात् यह कि क्या इस्लाम में अच्छे शिष्टाचार (अख़लाक़) और बुरे शिष्टाचार निश्चित और तयशुदा हैं ? और अगर निश्चित और तयशुदा हैं तो क्या हमेशा के लिए निश्चित हैं या समय की स्थिति के अनुसार उनमें कोई परिवर्तन भी हो सकता है ? इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि इस्लाम में अच्छे-बुरे शिष्टाचार का निर्णय सिर्फ़ अल्लाह और रसूल के अधिकार में है। अच्छी नैतिकता एवं शिष्टाचार वही चीज़ हो सकती

है, जिसे अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल.) ने अच्छी नैतिकता एवं शिष्टाचार बताया हो। इसी प्रकार बुरी नैतिकता एवं बुरा शिष्टाचार केवल वह चीज़ होती है, जिसे अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल.) ने बुरी नैतिकता व बुरा आचरण कहा हो। इसलिए इस्लाम में अच्छे और बुरे आचरण एवं शिष्टाचार का मामला एक निश्चित किया जा चुका मामला है, जो न किसी मानवीय बुद्धि के निर्णय का मुहताज है, न किसी अनुभव का ज़रूरतमंद है। वैसे तो जहाँ तक सामान्य अवलोकन का सम्बन्ध है, मालूम यही होगा कि आम शिष्टाचार हमेशा से और प्रत्येक समाज में प्रचलित रहे हैं और वे मात्र इस्लाम ही की कोई विशिष्ट वस्तु नहीं हैं। मगर इसके बावजूद इस्लामी चरित्र और सामान्य रूप से प्रचलित शिष्टाचार दोनों को एक ही समझ लेना बड़ी भारी भूल होगी। क्योंकि इस्लाम ने किसी कार्यशैली को अच्छा शिष्टाचार या बुरा शिष्टाचार इसलिए नहीं कहा है कि लोग उसे ऐसे ही कहते और समझते चले आए हैं या बुद्धि और अनुभव से उसकी यही हैसियत निर्धारित होती है, बल्कि ख़ुद अपने सिद्धांतों के आधार पर कहा है। अतः जहाँ अनगिनत इस्लामी शिष्टाचार ठीक वही हैं जो सामान्य रूप से प्रचलित हैं, वहीं बहुत-सी चीज़ें उसके यहाँ ऐसी भी मिलेंगी जो उसके नज़दीक तो भलाई और सुशीलता हैं, किन्तु दूसरे उन्हें ऐसा नहीं मानते। इसी प्रकार कुछ बातें ऐसी भी हैं जिनको वह बुराई और दुष्टता कहता है, लेकिन कितने ही लोग उसे भलाई का दर्जा देते हैं। यह इस बात का जीवन्त प्रमाण है कि शिष्टाचार के बारे में इस्लाम का अपना एक विशिष्ट आदर्श है और अपनी एक स्थाई व्यवस्था भी। चूँकि वस्तुस्थिति यह है कि इस्लामी शिष्टाचाार एवं नीतियाँ एक स्थाई आधार रखती हैं और जो इस्लाम के मौलिक सिद्धांतों का प्रत्यक्ष फल हैं, इसी लिए स्वभावतः स्थाई और अपरिवर्तनीय भी हैं। समय की परिस्थिति की कोई अपेक्षा ऐसी नहीं हो सकती जिसके लिए उनका एक अंश भी अपनी जगह से हटाया जा सकता हो। सच्चाई और ईमानदारी हर स्थिति में सर्वश्रेष्ठ मानवीय गुण रहेंगे। न्याय उस वक़्त भी ज़रूरी होगा, जबकि अपना नुक़सान हो रहा हो, वचन-भंग किसी दुश्मन से भी उचित नहीं। मतलब यह कि ये शिष्टाचार हर स्थिति में अपनी जगह अटल रहनेवाले हैं और इस्लामी नैतिक मर्यादाएँ किसी स्थिति में भी परिवर्तित होनेवाली चीज़ें नहीं हैं।

यह है इस्लामी शिष्टाचार का सामाजिक मूल्य। इसे ज़ेहन में रखकर अब उनकी समीक्षा की तरफ़ आइए और यह देखिए कि वे हैं क्या? पहले उन शिष्टाचारों को लीजिए जिनका सम्बन्ध मानव के सामान्य जीवन से है और जो आधारभूत स्थिति की हैं। अल्लाह तआला फ़रमाता है –

"लोगों के साथ भलाई कर, जिस प्रकार कि अल्लाह ने तेरे साथ भलाई की है।" (क़ुरआन, 28:77)

"....(उन संयमी लोगों के लिए) जो क्रोध को पी जाते हैं और लोगों को माफ़ कर देते हैं।" (क़ुरआन, 3:134)

"निस्सन्देह, अल्लाह किसी दग़ाबाज़ कृतघ्न को पसन्द नहीं करता।" (क़ुरआन, 22:38)

"....फ़ुज़ूलख़र्ची न करो!" (क़ुरआन, 17:26)

"लोगों से (बातें करते समय) अपने गालों को (घमंड से) टेढ़ा न रख, न ज़मीन पर इतराकर चल। कोई सन्देह नहीं कि अल्लाह किसी घमण्डी और शेख़ीबाज़ को बिलकुल पसन्द नहीं करता।" (क़ुरआन, 31:18)

"तबाही है हर ताना देने वाले और ऐब लगानेवाले के लिए।" (क़ुरआन, 104:1)

नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं :

"निस्सन्देह सच्चाई भलाई की ओर और भलाई जन्नत की ओर ले जाती है ------------- और झूठ बुराई का और बुराई जहन्नम का मार्ग दिखाती है।" (हदीस : मुस्लिम)

"थोड़ा-सा दिखावा भी शिर्क है।" (हदीस : इब्ने-माजा)

"ज़ुल्म करने से बचो! क्योंकि ज़ुल्म क़ियामत के दिन अँधियारों की शक्ल में प्रकट होगा।" (हदीस : मुस्लिम)

"चार गुण जिस किसी के अन्दर होंगे, वह पक्का मुनाफ़िक़ (कपटाचारी) होगा।

और जिसके अन्दर उनमें से कोई एक होगा उसके अन्दर कपट का एक गुण होगा, यहाँ तक कि वह उसे छोड़ दे। (वे चार गुण ये हैं–) (1) जब कोई धरोहर (अमानत) उसके पास रखी जाए तो वह ख़ियानत (बेईमानी) कर जाए, (2) बात करे तो झूठ बोले, (3) वादा करे तो पूरा न करे, (4) झगड़ा करे तो गालियों पर उतर आए।'' (हदीस : बुख़ारी शरीफ़, भाग-1)

''नर्मी अपनाओ, सख़्ती और अपशब्द बोलने से दूर रहो।''
(हदीस : बुख़ारी शरीफ़, भाग-2)

''चुग़ली खानेवाला जन्नत से वंचित रहेगा।''
(हदीस : बुख़ारी शरीफ़, भाग-2)

''अल्लाह उस व्यक्ति पर दया न करेगा, जो दूसरे लोगों पर दया नहीं करता।'' (हदीस: तिर्मिज़ी, भाग-2)

''दग़ाबाज़ और कंजूस और एहसान जतानेवाले जन्नत में न जाएँगे।''
(हदीस: तिर्मिज़ी, भाग-2)

इस्लाम की इन सामान्य और आधारभूत नैतिक एवं शिष्टाचार सम्बन्धी शिक्षाओं के बाद उन नीतियों और शिष्टाचार की ओर आइए जिनकी नसीहत उसने जीवन के विशिष्ट क्षेत्रों को दृष्टि में रखकर की है –

● मानव-जीवन का सबसे पहला क्षेत्र उसका गृहस्थ जीवन है, जहाँ वह अपनी बीवी और अपने बच्चों से हर वक़्त क़रीब रहता है। हर व्यक्ति को अपने परिवारजन के साथ स्वाभाविक रूप से बड़ी गहरी मुहब्बत होती है और इसलिए वह आम तौर से उनके साथ त्याग और बलिदान का व्यवहार भी अनिवार्य रूप से अपनाता है। इस्लाम कहता है कि यह व्यवहार मात्र एक फ़ितरी माँग ही नहीं है, बल्कि एक धार्मिक अनिवार्य कर्त्तव्य भी है। अल्लाह का आदेश है –

''अपनी बीवियों के साथ भले तरीक़े से रहो-सहो।'' (क़ुरआन, 4:19)

नबी (सल्ल.) का इरशाद है –

"तुममें से अच्छे लोग वे हैं जो अपनी बीवियों के प्रति अच्छे हों।"

(हदीस : तिर्मिज़ी)

"औरतों के विषय में अच्छे आचारण की वसीयत क़बूल करो।"

(हदीस : मुस्लिम)

● घरेलू जीवन के बाद ख़ानदानी जीवन का क्षेत्र आता है, जहाँ इनसान का वास्ता माता-पिता और भाई-बहन आदि निकट सम्बन्धियों से होता है। मात-पिता के साथ जिस व्यवहार को अपनाने का हुक्म दिया गया है, उसका अनुमान सिर्फ़ इसी एक बात से लगाया जा सकता है कि अल्लाह तआला ने उनके साथ सद्व्यवहार करने का आदेश अपनी इबादत करने के आदेश के साथ ही दिया है –

"…..अल्लाह की इबादत करो और उसका किसी को सहभागी न बनाओ और माता-पिता के साथ सद्व्यवहार करो।" (क़ुरआन, 4:36)

और फिर सद्व्यवहार की व्याख्या करते हुए फ़रमाया –

"उनके समक्ष विनम्रता की बाँहों को दयालुता (एवं प्रेम की भावना) के साथ झुका दो, और प्रार्थना करो कि प्रभु! इनपर कृपा कर, जिस प्रकार इन्होंने (कृपा एवं स्नेह के साथ) मुझे बचपन में पाला था।"

(क़ुरआन, 17:24)

नबी (सल्ल.) ने इस सिलसिले में जो कुछ कहा है उसमें से केवल दो-एक कथनों का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा –

"तुम्हारे माँ-बाप तुम्हारी जन्नत और जहन्नम हैं।" (हदीस : इब्ने-माजा)

"जो नेक औलाद अपने माँ-बाप पर प्यार और स्नेह की दृष्टि डालती है, अल्लाह तआला उसकी ऐसी हर दृष्टि के बदले उसे एक क़बूल किए हुए हज का सवाब प्रदान करता है।" (हदीस : बैहक़ी)

हद यह है कि ख़ुदा न करे कि माता-पिता ग़ैर-मुस्लिम हों, और ग़ैर-मुस्लिम ही नहीं बल्कि कठोर हृदय और इस्लाम से जघन्य शत्रुता रखनेवाले

हों, तब भी उनकी सेवा और उदारता के आम अधिकार अपनी जगह शेष ही रहेंगे, और ज़रूरी है कि उन हक़ों को पूरा किया जाए।

इस बात को स्पष्ट करते हुए क़ुरआन में आदेश दिया गया –

> "परन्तु यदि वे (माँ-बाप) तुम पर दबाव डालें कि मेरे साथ तू किसी ऐसे को साझी ठहराए जिसे तू नहीं जानता तो उनकी बात हरगिज़ न मान (परन्तु) दुनिया में उनके साथ भले तरीक़े से रहना!" (क़ुरआन, 31:15)

माता-पिता के बाद जहाँ तक दूसरे रिश्तेदारों का सम्बन्ध है तो उनके बारे में क़ुरआन ने सर्वसाधारण और व्यापक सद्व्यवहार की ताकीद की है। अत: क़ुरआन के अध्याय 4 (अर्थात् सूरा निसा) की ऊपर उल्लिखित आयत नं. 24 में "व बिल् वालिदैनि इह्सा-ना"(और माँ-बाप के साथ सद्व्यवहार करो) के बाद ही "व बिज़िल क़ुर-बा" के शब्द आए हैं, जिनका अर्थ यह है कि जिस प्रकार माता-पिता के साथ उनके मर्तबे के मुताबिक़ अच्छा व्यवहार करना चाहिए, उसी प्रकार रिश्तेदारों के साथ भी अच्छा व्यवहार करना चाहिए। उनमें जो रिश्तेदार जितना ही अधिक निकटता का रिश्ता रखता होगा, उसके हक़ भी उतने ही अधिक होंगे। एक साहब ने नबी (सल्ल.) से पूछा कि मुझे सद्व्यवहार किस के साथ (ज़्यादा) करना चाहिए? आप (सल्ल) ने फ़रमाया, "अपनी माँ के साथ।" यह बात आप (सल्ल.) ने तीन बार फ़रमाई। चौथी बार जब पूछनेवाले ने इसी प्रश्न को पुन: दुहराया, तो आप (सल्ल.) ने फ़रमाया – "फिर बाप के साथ, इसके बाद क्रमानुसार अधिक क़रीबी रिश्तेदारों के साथ।" (हदीस : तिरमिज़ी)

रिश्तेदारों के साथ सद्व्यवहार करने को इस्लामी परिभाषा में "सिला रहमी" कहा जाता है। जिसके मानी हैं – "ख़ूनी रिश्तों को जोड़े रखना और उनकी पासदारी करना।" क़ुरआन मजीद ने 'सिलारहमी' को मानवता और हक़ को पहचानने की एक आधारशिला माना है और इसकी बार-बार तलक़ीन की है। अल्लाह के रसूल (सल्ल.) फ़रमाते हैं कि 'सिलारह्मी' ईमान के अनिवार्य अंगों में से है –

"जो कोई अल्लाह पर और आख़िरत पर ईमान रखता हो, उसे चाहिए कि सिलारहमी करे।" (हदीस : बुख़ारी)

"रहमी-रिश्ते काटनेवाला जन्नत में दाख़िल न हो सकेगा।" (हदीस : बुख़ारी)

इसके बाद पड़ोस और मुहल्ले का क्षेत्र आता है। पड़ोसियों से एक मुसलमान को जिस प्रकार पेश आना चाहिए उसके स्पष्टीकरण के लिए दो हदीसें पर्याप्त हैं। नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं –

"जिबरील (अलै.) मुझे पड़ोसी के प्रति बराबर सचेत करते रहे, यहाँ तक कि मेरे मन में यह धारणा उत्पन्न होने लगी कि कहीं उसे वारिस न बना दें।" (हदीस: बुख़ारी)

"जिस व्यक्ति का पड़ोसी उसकी यातना से सुरक्षित न हो, वह जन्नत में न जाएगा।" (हदीस : मुस्लिम)

● अब और आगे पूरे समाज का बड़ा और विस्तृत क्षेत्र होता है, जिसके अन्दर मनुष्य को अनेकों प्रकार के लोगों से मामला पेश आता है। इन सबके साथ उसकी जो नीति होनी चाहिए, सैद्धांतिक रूप से उसका निर्धारण क़ुरआन मजीद के ये शब्द करते हैं –

"............अल्लाह ने आदेश दिया है अच्छा व्यवहार करने का माँ-बाप के साथ, और रिश्तेदारों, अनाथों, निर्धनों, रिश्तेदार पड़ोसियों, अपरिचित पड़ोसियों, साथ बैठनेवालों, मुसाफ़िरों और ग़ुलामों के साथ।" (क़ुरआन, 4: 36)

मानवीय-सम्बन्ध की दृष्टि से मनुष्यों के जितने प्रकार हो सकते थे, इस आयत में उनमें से एक-एक का नाम लेकर गिना दिया गया है और सबके बारे में यह व्यापक निर्देश दे दिया गया है कि उनके साथ एक मुसलमान का व्यवहार अनिवार्यतः 'उपकार' (सद्व्यवहार) और भलाई का होना चाहिए।

● आम समाज के बाद प्रशासनिक क्षेत्र आता है। इस्लामी समाज में

हर व्यक्ति की राजनैतिक और प्रबन्धकीय दृष्टि से भी एक निश्चित हैसियत होती है। या तो वह आदेश देनेवाला होगा या आदेशपालक, शासक का स्थान रखता होगा या प्रजा का। अगर वह आदेश देनेवाला है और शासक का मक़ाम रखता है तो अपनी प्रजा के साथ उसकी जो कार्यप्रणाली होनी चाहिए, उसका स्पष्टीकरण अल्लाह के नबी (सल्ल.) के इस फ़रमान से होता है। अल्लाह के रसूल (सल्लं.) ने फ़रमाया –

"जो कोई सरदार, मुसलमानों के मामलों का ज़िम्मेदार होते हुए उनके लिए जी-जान से कोशिश नहीं करता और न उनका भला चाहता है, वह उनके साथ जन्नत में न जाएगा।" (हदीस : मुस्लिम)

और अगर वह प्रजा है तो उसे अपने शासक एवं अमीर के साथ जो कर्त्तव्य-प्रणाली अपनानी चाहिए, उसका निर्धारण यह हदीस करती है –

"(नबी सल्ल. ने फ़रमाया :) धर्म सदुपदेश और शुभ-चिंतन का नाम है। पूछा गया – किसके सदुपदेश एवं शुभचिंतन का? फ़रमाया – अल्लाह का, उसके रसूल का और मुसलमानों के अमीर (शासक) का और समस्त मुसलमानों का।" (हदीस : मुस्लिम)

अर्थात् धार्मिकता और ईशपरायणता की अपेक्षाओं में यह बात भी अनिवार्य रूप से सम्मिलित है कि सरदार एवं अमीर का व्यवहार अपनी प्रजा के साथ और प्रजा का व्यवहार अपने सरदार के साथ वफ़ादारी, ख़ैरख़्वाही और निष्ठा का हो।

● सबसे अंतिम क्षेत्र एक मुसलमान के जीवन का वह है जो मुस्लिम समाज से बाहर का होता है और जो ग़ैर-मुस्लिमों के साथ मामलों और सम्बन्धों के आधार पर अस्तित्व में आता है। यहाँ उसे जिस नैतिक आचरण का पाबन्द होना चाहिए, उसका मौलिक सिद्धांत निम्न आयत में मौजूद है –

"ऐ ईमानवालो! अल्लाह के (धर्म के) लिए तत्पर रहनेवाले और न्याय की गवाही देनेवाले बनो और किसी समुदाय की दुश्मनी (भी) तुम्हें न्याय से कभी भी अलग न रखने पाए। न्याय करो! यही तक़वा से लगती हुई बात है।" (क़ुरआन, 5:8)

ये हैं वे मौलिक आधार जिनपर इस्लाम इनसान के नैतिक जीवन का निर्माण करता है। इन्हें देखकर हर व्यक्ति इस बात की अनुभूति कर सकता है कि मुसलमान के जीवन का एक-एक अवयव नैतिकता के सुदृढ़ सिद्धान्तों से कसा हुआ है।

3. पारिवारिक व्यवस्था

इन दो आधारभूत एवं महत्त्वपूर्ण विभागों के बाद अब मानवीय जीवन के सांस्कृतिक ढाँचे की ओर आइए और उसके एक-एक अनुभागों के बारे में इस्लामी आदेशों एवं उपदेशों का अध्ययन कीजिए।

मानव-सभ्यता की बुनियाद एक मर्द और एक औरत के पारस्परिक समागम से अस्तित्व में आती है। इन्ही दो इनसानों से मिलकर बननेवाली छोटी-सी सामूहिक संस्था, मानव की सांस्कृतिक जीवन की सबसे पहली कड़ी होती है। इस सामूहिक संस्था को मानव का 'पारिवारिक जीवन' और उसके लिए जो नियम होते हैं उन्हें 'पारिवारिक व्यवस्था' कहते हैं। इस्लाम ने जो पारिवारिक व्यवस्था निश्चित की है, उसकी मोटी-मोटी बातें ये हैं :

मर्द और औरत का यह स्थाई समागम एक स्पष्ट समझौते के द्वारा अस्तित्व में आता है, जिसे शरीअत की भाषा में 'निकाह' कहते हैं। यह निकाह एक पवित्र रिश्ता है, जो दोनों की मर्ज़ी से और पूरी उद्घोषणा के साथ जोड़ा जाता है। निकाह के बिना मर्द-औरत का सम्बन्ध घोर पाप और अत्यन्त दण्डनीय अपराध है। निकाह केवल एक फ़ितरी ज़रूरत ही नहीं, बल्कि एक शरई ज़रूरत भी है। नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं –

> "............. मैं औरतों से निकाह भी करता हूँ, जो कोई मेरे इस तरीक़े (सुन्नत) से परहेज़ करेगा वह मेरा न रहेगा।"
>
> (हदीस : बुख़ारी, भाग-2)

इस ज़रूरत से अपने को अलग रखना इस्लामी तरीक़ा नहीं है। हज़रत उसमान बिन मज़ऊन (रज़ि.) ने पौरुष्यहीन (ख़स्सी) होने की अनुमति माँगी तो आप (सल्ल.) ने अनुमति नहीं दी।

(हदीस : बुख़ारी, भाग-2)

निकाह के समझौते को क़ुरआन (4:21) ने 'पुख़्ता समझौता' (मीसाक़न ग़लीज़ा) ठहराया है। इस समझौते के द्वारा दोनों अपने-अपने ऊपर भारी ज़िम्मेदारियाँ ओढ़ते हैं, और हमेशा के लिए ओढ़ते हैं। इस रिश्ते से जो एक छोटा-सा सामुदायिक एकत्व बनता है, मर्द उसका निरीक्षक और महाप्रबन्धक होता है और औरत उसके आदेशाधीन घर की व्यवस्था एवं प्रबन्ध का संचालन करती है। (क़ुरआन, 4:34)

इस सामुदायिक एकत्व में मर्द की ज़िम्मेदारी यह है कि–

(1) वह औरत के लिए और होनेवाली सन्तान के लिए भोजन, कपड़े और निवास की, मतलब यह कि जीवन की हर ज़रूरत की पूर्ति का प्रबन्ध करे। जीवन की आवश्यकताओं का यह प्रबन्ध उसे अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार करना होगा।

> "चाहिए कि सामर्थ्यवाला अपनी सामर्थ्य के अनुसार ख़र्च करे और जिसे उसकी रोज़ी नपी-तुली मिली हो तो उसे चाहिए कि अल्लाह ने उसे जो कुछ भी दिया उसी में से वह ख़र्च करे।" (क़ुरआन, 65:7)

यह ज़िम्मेदारी केवल नैतिक ही नहीं है, बल्कि क़ानूनी हैसियत भी रखती है। अर्थात् यदि कोई व्यक्ति इसमें कोताही करता है तो प्रशासन उसे अपने इस अनिवार्य कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए विवश करेगा।

(2) वह बीवी-बच्चों की धार्मिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण का ध्यान रखे और उसकी व्यवस्था करे। अल्लाह ने ताकीद के साथ फ़रमाया है कि–

> "ईमानवालो! अपने आपको और अपने परिवारजन को दोज़ख़ (नरक) की आग से बचाओ।" (क़ुरआन, 66:6)

अर्थात् मर्द के ऊपर यह दोहरी ज़िम्मेदारी डाली गई है कि वह अपने परिवारजन की सांसारिक ज़रूरतों और पारलौकिक सफलता, दोनों बातों का पूरा-पूरा ध्यान रखे। इस सम्बन्ध में वह इहलोक और परलोक दोनों जगह उत्तरदायी होगा –

"सुन रखो! तुममें से हर व्यक्ति उत्तरदायी शासक है। और हर एक से उसकी प्रजा के बारे में पूछगच्छ होगी।.........मर्द अपने घरवालों के प्रति उत्तरदायी है और उसे उनके बारे में जवाबदेही करनी होगी।"

(हदीस : मुस्लिम)

औरत की ज़िम्मेदारी यह है कि :-

(1) वह घर के अन्दर की व्यवस्था सँभाले–

"औरत अपने शौहर (पति) के घर और उसकी सन्तान के प्रति उत्तरदायी और निगराँ है और उसे उनके बारे में जवाब देना होगा।"

(हदीस : मुस्लिम, भाग-2)

(2) शौहर का आज्ञानुपालन करे और अपनी इसमत (सतीत्व) को पूरी तरह सुरक्षित रखे :–

"अत: नेक (सच्चरित्र) औरतें आज्ञा-पालन करनेवाली और गुप्तांगों की रक्षा करनेवाली होती हैं।" (क़ुरआन, 4:34)

इसी प्रकार औलाद का भी यह अनिवार्य कर्त्तव्य है कि वह अपने माता-पिता की आज्ञा माने और सेवा करे। उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना अक्षम्य अपराध है –

"गुनाहों में से जिसको चाहेगा अल्लाह माफ़ कर देगा। मगर माँ-बाप की नाफ़रमानी को माफ़ न करेगा।" (हदीस : बैहक़ी)

जिस प्रकार निकाह को एक शरई (संवैधानिक) ज़रूरत कहा गया है, उसी प्रकार इस निकाह के परिणामस्वरूप आ पड़नेवाली उन समस्त ज़िम्मेदारियों को 'अल्लाह की नियत की गई सीमाएँ' कहा गया है। (क़ुरआन, 2:229) और मर्द व औरत दोनों को सचेत किया गया कि वे उन सीमाओं का पूरा-पूरा सम्मान करें। (क़ुरआन, 2:229)

हर शरीफ़ और अपने कर्त्तव्य को पहचाननेवाले व्यक्ति से आशा यही की जाती है कि वह उन सीमाओं का बराबर ध्यान रखेगा, किन्तु ख़ुदा न करे

अगर यह वस्तुस्थिति शेष न रह जाए, बल्कि पति-पत्नी में मतभेद पैदा हो जाए और निबाह की कोई उम्मीद नज़र न आए, तो मजबूरन इस बात की भी अनुमति है कि पति तलाक़ के ज़रीये और औरत ख़ुलअ के ज़रीये इस निकाह के रिश्ते को समाप्त कर दे –

> "फिर यदि तुमको यह डर हो कि वे अल्लाह की सीमाओं पर क़ायम न रहेंगे तो स्त्री जो कुछ देकर छुटकारा प्राप्त करना चाहे उसमें उन दोनों के लिए कोई गुनाह नहीं।" (क़ुरआन, 2:229)

यहाँ तक कि इस्लामिक प्रशासन को भी यह अधिकार प्राप्त है कि इस स्थिति में वह आगे बढ़कर इस रिश्ते को अपने तौर पर तोड़ दे, क्योंकि इसकी मर्यादा अपनी जगह बड़ी महत्त्वपूर्ण ही सही, लेकिन 'अल्लाह की सीमाओं' की मर्यादा इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिए उसके लिए उन्हें पामाल करने की छूट नहीं हो सकती।

4. सामाजिक व्यवस्था

एक घर की अत्यन्त सीमित सामूहिकता से बाहर जो एक विस्तृत समूह होता है और जिसे 'समाज' कहा जाता है, इसके सम्बन्ध में इस्लाम की कुछ आधारभूत धारणाएँ हैं। पहले उन धारणाओं को मालूम कर लीजिए, इसके बाद इससे सम्बन्धित आदेशों के विवरण का समय आएगा।

समाज के बारे में इस्लाम का कहना यह है कि यह जिन अनगिनत व्यक्तियों से मिलकर बना होता है, वे वस्तुतः सब के सब एक ही माता-पिता की सन्तान होते हैं –

> "जिसने तुम्हें एक जान से पैदा किया।" (क़ुरआन, 4:1)

इसलिए पैदाइशी तौर पर वे सब बराबर होते हैं। उनमें कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। कोई पाक और कोई नापाक नहीं होता। काले और गोरे, हिन्दी और अरबी, आर्यन और सामी, एशियाई और यूरोपी, पूर्वीय व पश्चिमी – सभी एक-से, एक ही श्रेणी के और एक ही प्रकार के अधिकारों को रखनेवाले

मानव होते हैं। नस्ल या वतन या रंग या भाषा के आधार पर उनमें कोई भेदभाव नहीं हो सकता। भेदभाव का केवल एक ही आधार है, और वह है अपने पालनहार प्रभु के प्रति मनुष्य का उचित और अनुचित रवय्या। इसलिए पूरा मानव-समाज वास्तव में केवल दो वर्गों में बँटा हुआ है – एक वर्ग उन लोगों का है जो अपने वास्तविक स्वामी अल्लाह के धर्म (दीन) में आस्था (ईमान) रखते हैं। दूसरा उन लोगों का है जो उसे अपना धर्म नहीं मानते। पहला इस्लामी समाज कहलाता है, दूसरा ग़ैर-मुस्लिम समाज। इन दोनों समाजों की आधारशिलाएँ स्पष्टत: एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न होती हैं, और जब आधारशिलाएँ भिन्न होती हैं तो उनके ढाँचे भी नैसर्गिक रूप से परस्पर भिन्न होते हैं, और जीवन के कई महत्त्वपूर्ण मामलों में उनके बीच कोई सामंजस्य नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ – 'निकाह का रिश्ता' जो पूरी सांस्कृतिक व्यवस्था की पहली ईंट है, मुसलमानों और ग़ैर-मुस्लिमों में स्थापित नहीं हो सकता।

जब धर्म और आस्था के आधार पर इस्लामी और ग़ैर-इस्लामी दो अलग-अलग समाज बन जाते हैं, तो इन दोनों के बारे में अपने-अपने अनुयायियों के लिए इस्लाम के आदेश भी बहुत कुछ भिन्न ही होंगे। जहाँ तक ग़ैर-मुस्लिम समाज का सम्बन्ध है, उसके बारे में समस्त इस्लामी शिक्षाओं का सार यह है कि उसके लोगों के साथ जो व्यवहार किया जाएगा वह आम मानवीय आधारभूत शिष्टाचार — उदाहरणत: न्याय व इनसाफ़, सत्यनिष्ठा व ईमानदारी, सहृदयता व मुरव्वत, अनुकम्पा व समता, सच्चाई व वचन-पालन आदि — के अनुसार किया जाएगा और कभी भी इनका उल्लंघन न किया जाएगा। रहा मुस्लिम समाज का मामला तो इसके लिए इस्लाम ने बड़े विस्तार से और सुस्पष्ट हिदायतें दी हैं, और उन्हीं को इस्लाम की सामाजिक व्यवस्था कहा जाता है। इन हिदायतों का सार यह है –

(1) व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध किसी प्रकार के सामुदायिक या वर्गीय या वंशीय संघर्ष के बजाय भाईचारगी, सहानुभूति, समानता, सहयोग और त्याग पर स्थापित किए जाएँ। अल्लाह का आदेश है –

"ईमानवाले तो आपस में भाई-भाई हैं।" (क़ुरआन, 49:10)

व्यावहारिक रूप में यह 'भाईचारगी' कैसी होनी चाहिए? इसका स्पष्टीकरण अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल.) के इन फ़रमानों से होता है –

"ये ईमानवाले अपने ऊपर दूसरों को प्राथमिकता दिया करते हैं, चाहे स्वयं भुखमरी की हालत में क्यों न हों।" (क़ुरआन, 59:9)

"लोग दूसरे लोगों का मज़ाक़ न उड़ाएँ .... और न औरतें दूसरी औरतों का मज़ाक़ उड़ाएँ .... एक-दूसरे पर दोषारोपण न करो, न एक-दूसरे का बुरा नाम रखो .... बहुत ज़्यादा गुमान करने से बचो, ... और किसी का भेद न टटोलो, न एक-दूसरे को पीठ-पीछे बुरा कहो।" (क़ुरआन, 49:11-12)

"मोमिन एक-दूसरे के लिए इमारत के सदृश होते हैं, जिसका हर अवयव (एक) दूसरे का सहायक होता है।" (हदीस : मुस्लिम)

"पारस्परिक प्यार, दयालुता और स्नेह में मुसलमानों की स्थिति एक जिस्म की तरह है। शरीर के एक अंग में यदि कष्ट होता है, तो पूरा शरीर बेचैनी, अनिद्रा और बुख़ार में ग्रस्त हो जाता है।" (हदीस : मुस्लिम, भाग-2)

"आपस में ईर्ष्या न करो, न नीलाम में केवल दाम चढ़ा देने के लिए बोली बोलो। न एक-दूसरे से द्वैष रखो, न सम्बन्ध समाप्त करो और न दूसरे के क्रय-विक्रय के मामले में हस्तक्षेप करके स्वयं क्रय-विक्रय का मामला कर लेने की कोशिश करो, बल्कि अल्लाह के बंदे और भाई-भाई बनकर रहो। — एक मुसलमान दूसरे का भाई होता है। उस पर ज़ुल्म नहीं करता और न उसे निस्सहाय व बेबस छोड़ता है और न उसको तुच्छ समझता है....... मुसलमान के ख़ून का सम्मान, उसकी सम्पत्ति का सम्मान और उसकी इज़्ज़त का सम्मान मुसलमान पर फ़र्ज़ (अनिवार्य कर्त्तव्य) है।"

(हदीस : मुस्लिम, भाग-2)

"एक मुसलमान के दूसरे मुसलमान पर छः हक़ हैं :- (1) जब उससे मिलो तो सलाम करो, (2) जब मदद के लिए पुकारे तो 'हाज़िर हूँ' कहो, (3) जब तुमसे ख़ैरख़ाही की अपेक्षा करे, तो उसके प्रति ख़ैरख़ाही करो

(4) जब छींके और छींकने के बाद 'अलहम्दुलिल्लाह' कहे तो 'यर्हमुकल्लाह' कहो, (5) जब बीमार पड़े तो उसकी तबीअत पूछने को जाओ और (6) जब वफ़ात (मृत्यु) पा जाए तो उसके जनाज़े में शामिल हो।''

(हदीस : मुस्लिम, भाग-2)

''किसी मुसलमान के लिए जाइज़ (वैध) नहीं कि अपने मुसलमान भाई को तीन दिन से ज़्यादा मुद्दत तक छोड़े रहे।''

(हदीसः मुस्लिम, भाग-2)

''कोई व्यक्ति अपने मुसलमान भाई के निकाह के पैग़ाम पर पैग़ाम न दे, यहाँ तक कि वह निकाह कर ले या बात ख़त्म कर दे।''

(हदीस : बुख़ारी, भाग-2)

''पारस्परिक सम्बन्धों की ख़राबी से पूरी तरह बचते रहो; क्योंकि यह चीज़ दीन (धर्म) का सफ़ाया कर देनेवाली है।''

(हदीस : अबू दाऊद, भाग-2)

यह है इस्लामी समाज में लोगों के पारस्परिक सम्बन्धों की अपेक्षित स्थिति और कैफ़ियत। यह स्थिति किसी कुधारणा या स्वार्थपरता के हाथों जहाँ कहीं ख़त्म होती नज़र आए तो दूसरे लोगों का अनिवार्य कर्त्तव्य (फ़र्ज़) है कि परिस्थिति के सुधार के लिए तत्काल दौड़ पड़ें।

''मुसलमान तो (सारे-के-सारे) आपस में भाई-भाई हैं। अतः (अगर कहीं आपस में रंजिश पैदा हो जाए तो) अपने दोनों भाइयों में समझौता और सुलह-सफ़ाई करा दो।''

(क़ुरआन, 49:10)

एक हदीस में है कि अल्लाह के रसूल (सल्ल.) ने सहाबा (रज़ि.) से फ़रमाया –

''क्या तुम्हें एक ऐसा काम न बताऊँ जो रोज़े और सदक़े (दान) और नमाज़ से भी श्रेष्ठ है?'' सहाबा (रज़ि.) ने निवेदन किया, ''हाँ (ज़रूर बताएँ)।'' फ़रमाया – ''आपस के सम्बन्धों को ठीक कर देना।''

(हदीस : अबू दाऊद, भाग-2)

(2) समाज में भलाई करने और ख़ुदा से डरने और उससे प्यार करने के कामों को उत्साहित किया जाए। न केवल उत्साहित किया जाए, बल्कि अनिवार्य है कि लोग ऐसे कामों में एक-दूसरे की मदद करें।

"नेकी और तक़वा (ईश-भय) के कामों में एक-दूसरे की सहायता करो।"
(क़ुरआन, 5:2)

और इतना ही नहीं, बल्कि ऐसे कामों पर एक-दूसरे को निरन्तर उभारते भी रहना चाहिए –

"मोमिन मर्द और मोमिन औरतें आपस में एक दूसरे के दोस्त हैं। वे आपस में एक-दूसरे को नेकी पर उभारते रहते हैं।" (क़ुरआन, 9:71)

(3) समाज के अन्दर बुराइयों को सिर उठाने का अवसर न दिया जाए। इसकी सूरत यह है कि एक ओर तो किसी बुरे काम में मदद न की जाए (क़ुरआन, 5:2), दूसरी ओर अपनी शक्ति-भर ऐसी हरकतों से लोगों को बाज़ रखने की पूरी-पूरी कोशिश भी की जाए। जगत् के पालनहार अल्लाह की हिदायत है कि :-

"तुममें से जो व्यक्ति भी कोई बुराई देखे तो चाहिए कि वह उसे अपने हाथ से बदलकर दुरुस्त कर दे।" (हदीस : मुस्लिम, भाग-1)

यह बुरी हरकतों से लोगों को बाज़ रखना केवल समाज ही की सेवा और ख़ैरख़ाही नहीं है, बल्कि स्वयं उस व्यक्ति की भी सेवा और ख़ैरख़ाही है जिसे बुराई से रोका गया हो।

अल्लाह के रसूल (सल्ल.) ने हिदायत फ़रमाई कि "अपने भाई की मदद करो, चाहे वह ज़ालिम (अत्याचारी) हो या मज़लूम (अत्याचार पीड़ित)" इस पर सहाबा (रज़ि.) ने (हैरत से) पूछा कि "ऐ अल्लाह के रसूल (सल्ल.) मज़लूम भाई की मदद की बात तो समझ में आती है, मगर यह ज़ालिम की मदद किस प्रकार की जाएगी।" आप (सल्ल.) ने फ़रमाया – "तुम उसे ज़ुल्म करने से रोक दो, अत: यही उसकी मदद है।"
(हदीस : बुख़ारी, मुस्लिम)

(4) उन समस्त स्रोतों को बन्द रखा जाए जिनसे वासनात्मक बुराइयां उबल-उबलकर समाज में फैल जाया करती हैं। इस उद्देश्य के लिए ये व्यापक उपाय अपनाए गए हैं –

(अ) व्यभिचार को अत्यन्त नीच कर्मों में शामिल करते हुए फ़रमाया गया है –

> "व्यभिचार (ज़िना) के निकट भी न जाओ, यह खुली हुई बेहयाई का काम और बुरा आचरण है।" (क़ुरआन, 17:32)

यह कहकर व्यभिचार के विरुद्ध पूरे समाज में अत्यन्त घृणा की तीव्र भावनाएँ पैदा कर दी गई हैं –

> "व्यभिचारी किसी व्यभिचारिणी या मुशरिक से ही निकाह करता है और किसी व्यभिचारिणी को व्यभिचारी या मुशरिक ही अपने निकाह में लाता है।" (क़ुरआन, 24:3)

(ब) व्यभिचार करनेवाले अपराधी के लिए शिक्षाप्रद और हृदय-विदारक सज़ा रखी गई है और सज़ा देने का तरीक़ा इस प्रकार निश्चित किया गया है कि वह सार्वजनिक स्थल अर्थात् खुले आम दी जाए, ज़्यादा-से-ज़्यादा लोगों की उपस्थिति में दी जाए और सज़ा देने में किसी मुरव्वत या लिहाज़ से काम न लिया जाए।

> "व्यभिचारिणी और व्यभिचारी – इन दोनों में से प्रत्येक को सौ कोड़े मारो और अल्लाह के धर्म के विषय में (अर्थात् अल्लाह का क़ानून लागू करने में) तुम्हें उनपर तरस न आए यदि तुम अल्लाह और अंतिम दिन पर ईमान रखते हो, और चाहिए कि उनकी सज़ा के वक़्त मुसलमानों की एक जमाअत भी वहाँ मौजूद हो।" (क़ुरआन, 24:2)

(स) औरतों का कार्यक्षेत्र सामान्य स्थितियों में घर की चार दीवारियों तक सीमित कर दिया गया और उन्हें अनावश्यक बाहर निकलने से रोक दिया गया है –

"अपने घरों में टिककर रहो और विगत अज्ञानकाल की-सी सज-धज न दिखाती फिरना।" (क़ुरआन, 33:33)

(द) मर्दों और औरतों का आज़ादाना मेल-मिलाप अत्यन्त निषेधित है। बहुत ही निकटवर्ती सम्बन्धियों के सिवा और किसी के सामने औरतों को बेपरदा आने की अनुमति नहीं –

"वे अपने ऊपर अपनी चादरों का कुछ हिस्सा लटका लिया करें।" (क़ुरआन, 33:59)

इसी तरह उन्हें इस बात से भी रोक दिया गया है कि वे ख़ुशबू लगाकर या झनझन करनेवाले आभूषण पहनकर बाहर निकलें, या परदे की आड़ से ग़ैर-महरम (वह व्यक्ति जिससे विवाह जाइज़ हो।) मर्दों से अनावश्यक बातचीत करें, या बातचीत करनी पड़ जाए तो शैली में कोई लोच पैदा करें–

"अतः तुम्हारी बातों में लोच न हो कि वह व्यक्ति जिसके दिल में रोग है, वह लालच में पड़ जाए।" (क़ुरआन, 33:32)

(ह) औरतों को ऐसे वस्त्र पहनने या ऐसे तौर-तरीक़े अपनाने को सख़्त मना कर दिया गया है जो दूसरों के सामने हुस्न को ज़ाहिर करनेवाली परिभाषा में आते हों। उन औरतों पर लानत भेजी गई है जो इतने बारीक कपड़े पहनें कि जिस्म अन्दर से झलक रहा हो, या जो मटकती हुई चलें–

"ऐसी औरतें जो कपड़े पहनकर भी नग्न हों, (ग़ैर मर्दों को) अपनी ओर आकर्षित करनेवाली हों और ऊँटनियों की भांति मटककर चलनेवाली हों – वे जन्नत में कदापि प्रवेश न कर सकेंगी और न उसकी महक पा सकेंगी।" (हदीस : मुस्लिम, भाग-2)

(व) शर्म और हया की सख़्त ताकीद की गई है और उसे ईमान (आस्था) का एक अनिवार्य अंग माना गया है –

"शर्म ईमान का एक अंग है।" (हदीस : बुख़ारी, भाग-1)

(ज़) मर्दों और औरतों दोनों को हुक्म है कि अगर उनकी नज़रें एक-दूसरे

पर पड़ जाएँ तो वे देखते न रहें, बल्कि नज़रें तुरन्त नीची कर लें –

> "ईमानवाले पुरुषों से कह दो कि अपनी निगाहें बचाकर रखें और अपने गुप्तांगों की रक्षा करें .... और ईमानवाली स्त्रियों से कह दो कि वे भी अपनी निगाहें बचाकर रखें और अपने गुप्तांगों की रक्षा करें और अपने शृंगार प्रकट न करें, सिवाय उसके जो उनमें ज़ाहिर रहता है।"
>
> (क़ुरआन, 24:30-31)

इसी प्रकार किसी के घर में बिना सूचना तथा बिना अनुमति अचानक न चले जाया करें –

> "ऐ ईमानवालो! अपने घरों के सिवा दूसरे घरों में प्रवेश न करो, जब तक कि अनुमति प्राप्त न कर लो और उन घरवालों को सलाम न कर लो।"
>
> (क़ुरआन, 24:27)

(ह) अश्लीलता और व्यभिचार की बातें करना सख़्त मना है, क्योंकि इससे समाज की मानसिक पावनता आहत हो जाती है और इस बुराई के विरुद्ध लोगों की नैसर्गिक और धारणात्मक घृणा हलकी पड़ने लगती है। इसलिए उन लोगों को सख़्त दण्ड की धमकी दी गई है जो इस प्रकार की चर्चाएँ किया करते हैं या समाज को अश्लीलताप्रिय देखना चाहते हैं–

> "जो लोग चाहते हैं कि उन लोगों में, जो ईमान लाए हैं, अश्लीलता फैले, उनके लिए दुनिया और आख़िरत में दुखद यातना है।"
>
> (क़ुरआन, 24:19)

(त) निकाह की हिदायत की गई है और विशेषकर जवानों के एकाकी (अर्थात् अविवाहित) रहने को सख़्त नापसन्द किया गया है। (मुस्लिम हदीस, भाग-1) आदेश है कि जैसे ही कोई लड़की (या लड़का) जवानी की उम्र को पहुँचे मुनासिब रिश्ता मिलने पर उसका तुरन्त विवाह कर दो (तिरमिज़ी, भाग-1)। फिर इस निकाह के मामले को बहुत ही सादा और सरल भी रखा गया है! बहुत ही निकट के कुछ रिश्तों को छोड़कर बाक़ी सभी लोगों से निकाह जाइज़ है। इसी प्रकार ज़ात-पात का अन्तर भी कोई रुकावट

नहीं है। फ़रमाया गया है कि –

> "निकाह में लोग औरत के नस्ल व वंश को, उसकी ख़ूबसूरती को और उसकी दौलतमंदी को देखा करते हैं। लेकिन तुम मुसलमानों को उसकी दीनदारी और अख़्लाक़ व किरदार देखना चाहिए।"
>
> (हदीस : बुख़ारी, भाग-2)

महर में भी बीच का रास्ता अपनाने की हिदायत की गई है और जहाँ तक विवाह की रस्म को पूरा किए जाने का मामला है, तो वह इतना सहज है कि इसमें किसी प्रकार की कठिनाई का अंश तक नहीं। न किसी धार्मिक गुरु, पंडित या हाकिम की ज़रूरत, न किसी और बात की शर्त। कम-से-कम दो गवाहों के सामने पुरुष और स्त्री अपनी-अपनी सहमति को प्रकट करके स्वयं ही इस अनिवार्य कर्त्तव्य (फ़र्ज़) को पूरा कर सकते हैं।

(य) किसी नैतिक आवश्यकता या सामाजिक हित की यदि अपेक्षा हो तो न्यायपूर्ण बरताव के प्रतिबन्ध के साथ एक के बजाय चार निकाहों तक की भी अनुमति है। जैसे – किसी यतीम बच्चे की ठीक परवरिश उसके बिना न हो सकती हो कि उसे अपना सौतेला बच्चा बना लिया जाए, या किसी व्यक्ति को सिर्फ़ एक बीवी के ज़रिए अपनी पवित्रता की रक्षा कठिन नज़र आती हो –

> "तो उनमें से जो तुम्हें पसन्द हों, दो-दो, या तीन-तीन या चार-चार से विवाह कर लो।" (क़ुरआन, 4:3)

(क) विधवा या बेवा औरतों और विधुरों को फिर से दाम्पत्य जीवन अपना लेने की हिदायत की गई है। इसी प्रकार यदि लौंडी या ग़ुलाम मौजूद हों तो हुक्म है कि उसका विवाह कर दो। क़ुरआन में है कि –

> "तुममें से जो बेजोड़े के हों और तुम्हारे लौंडी ग़ुलामों में से जो नेक हों, उनके विवाह कर दो।" (24 : 32)

इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि समाज में यदि कोई ऐसा व्यक्ति है, जो कामवासना की प्रवृत्ति एवं शक्ति रखता है, तो वह अविवाहित न रह जाए, अन्यथा अन्देशा रहेगा कि कहीं वह किसी गुनाह में लिप्त न हो जाए।

(5) ऐसे तमाम कामों से परहेज़ किया जाए जो लोगों में प्रायः व्यभिचार या कामासक्ति के रुजहान को उकसा दिया करते हैं, या उसकी मानसिक शक्ति को पतित और नैतिक चेतना को अपंग कर देते हैं। यही कारण है कि नाच-गाने, बाजे, शराब और दूसरी नशीली वस्तुओं के इस्तेमाल को अवैध कर दिया गया है।

(6) रहन-सहन और खाने-पीने में सन्तुलन रखा जाए। क़ुरआन ने मोमिन की पहचान यह बताई है कि वह ख़र्च में न फ़ुज़ूलख़र्ची से काम लेता है और न ही कंजूसी से।

> "जो ख़र्च करते हैं तो न तो फ़ुज़ूलख़र्ची करते हैं और न ही कंजूसी से काम लेते हैं, बल्कि वे इनके बीच की राह अपनाते हैं।"
>
> (क़ुरआन, 25:67)

अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल.) का एक ओर तो यह कहना है कि "अल्लाह तआला अपनी दी हुई नेमत का अपने बन्दे पर प्रभाव प्रकट होते देखना चाहता है।" (हदीस : तिर्मिज़ी), दूसरी ओर आप घमण्ड या फ़ुज़ूलख़र्ची (अपव्यय) और ऐशपरस्ती का आचरण अपनाने से सख़्ती के साथ मना करते हैं उदाहरणार्थ – कोई ऐसा लिबास नहीं पहना जा सकता जो घमण्ड के कारण टख़नों से नीचे होकर ज़मीन पर घिसटता रहता हो। (हदीस : मुवत्ता) सोने चांदी के बर्तनों का इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। मर्द रेशम नहीं पहन सकता। (हदीस : तिर्मिज़ी) रहन-सहन का सामान ज़रूरत से ज़्यादा इकट्ठा नहीं करना चाहिए। (हदीस : मुस्लिम) इसी प्रकार ऊँची-ऊँची कोठियाँ और महल बनाकर रहना कोई अच्छी बात नहीं। नबी (सल्ल.) का फ़रमान है –

> "सच्चे मुसलमान का हर ख़र्च जो वह अपने ऊपर करता है, वास्तव में अल्लाह के मार्ग में ख़र्च है, सिवाय (ज़रूरत से अधिक) निर्माण के कि उसमें कोई भलाई नहीं।"
>
> (हदीस : तिर्मिज़ी)

और यह कि –

"भोग-विलासिता से मुसलमान को बहुत दूर रहना चाहिए।"

(हदीस : अहमद)

(7) पुरुष और स्त्री की जन्मजात शक्तियाँ और उनके कार्य के नैसर्गिक क्षेत्र जिस प्रकार अलग-अलग हैं, उसी प्रकार उनकी वेशभूषा भी अनिवार्यतः अलग-अलग रहनी चाहिए। नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं –

"अल्लाह तआला ने उन पुरुषों पर जो स्त्रियों का रंग-ढंग अपनाते हैं और उन स्त्रियों पर जो पुरुषों का रंग-ढंग अपनाती हैं, लानत (फिटकार) भेजी है।" (हदीस : बुख़ारी)

(8) किसी निकट सम्बन्धी की मृत्यु मनुष्य के लिए बड़े धैर्य-परीक्षण की घड़ी होती है। ऐसी स्थिति में भी हमें धैर्य एवं सहिष्णुता और स्वाभिमान एवं बड़प्पन नहीं छोड़ना चाहिए। आदेश है कि

"ऐसे समय (अर्थात् शोक समय) में भी अधीरता और रोने-पीटने का प्रदर्शन न करो।" (हदीस : अबू दाऊद, भाग-2)

इसी प्रकार बड़ी-से-बड़ी ख़ुशी के अवसर पर भी आपे से बाहर न होना चाहिए।

"उस चीज़ का अफ़सोस न करो जो तुमसे जाती रहे और न उसपर फूल जाओ जो उसने तुम्हें प्रदान की हो।" (क़ुरआन, 57:23)

फिर स्वाभिमान और बड़प्पन ही नहीं, बल्कि अच्छी रुचि का भी ख़याल रखना ज़रूरी है। आदेश है कि "बाएँ हाथ से न खाओ" (हदीस : इब्ने-माजा)। "दायें हाथ से इस्तिंजा न करो, बल्कि उससे गुप्तांग को छुओ तक नहीं" (हदीस : बुख़ारी)। "एक पाँव में जूता पहनकर न चलो" (हदीस : मुस्लिम)। "सिर का सिर्फ़ कुछ हिस्सा न मुण्डाओ" (हदीस : बुख़ारी)।

(9) ऐसे काम न किए जाएँ जिनका कोई पारलौकिक या सांसारिक लाभ न हो। मोमिन के आधारभूत गुणों में से क़ुरआन मजीद ने एक गुण यह भी बताया है कि वह "लग़्व" अर्थात् लाभहीन और फ़ुज़ूल कामों में कोई

अभिरुचि नहीं रखता, (क़ुरआन, 23:3)। इसी प्रकार नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं कि "किसी के अच्छे मुस्लिम होने का लक्षण यह है कि आदमी निरर्थक कामों से भी दूर रहे।"

(हदीस : मुवत्ता)

(10) ऐसे आचरण न अपनाए जाएँ जिनमें किसी ग़ैर-इस्लामी समाज की कोई ख़ास रूह काम कर रही हो और जिनको अपना लेने के बाद मुसलमानों की सांस्कृतिक विशिष्टता या धार्मिक प्रवृति आहत हो जाती हो। उदाहरणत: आदेश है कि –

> कोई मुसलमान ऐसा रूप-रंग न अपनाए जो ग़ैर-मुस्लिमों या फ़ासिक़ों के लिए विशिष्ट हो, अन्यथा उनकी गणना उन्हीं में से होगी।
>
> (हदीस : अबू दाऊद)

मतलब यह कि इस्लामी समाज का मिज़ाज ऐसा बनाया गया है जो इस्लामी मिसालों से मेल खाता हो। मुसलमानों की सामाजिक विशिष्टता हर स्थिति में बरक़रार और हर पहलू से उत्कृष्ट रहनी चाहिए। इस्लाम केवल इस बात को मानता है कि सफ़ेदी और चीज़ है और कालिमा दूसरी चीज़ है, इस बात को क़तई नहीं मानता कि सफ़ेदी और कालिमा दोनों एक ही जैसी चीज़ें हैं।

5. आर्थिक व्यवस्था

जो व्यक्ति इस्लाम को जानता है, वह यह भी जानता है कि उसकी निगाह में मानव का असल हित उसके परलोक का हित है। उसे आख़िरत ही के लिए जीना और मरना चाहिए। फिर मुस्लिम की पहचान ही यह है कि वह दुनिया पर आख़िरत को प्राथमिकता दे और उसी को अपना वास्तविक ध्यान-केन्द्र बनाए रखे। यह एक सुस्पष्ट और प्रत्यक्ष वास्तविकता है। सूरज से भी अधिक प्रकाशमान और स्पष्ट। लेकिन इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए और न इसका मतलब यह कभी भी लेना चाहिए कि इस्लाम संसार की उन बातों को सिरे से कोई महत्त्व ही नहीं देता जो मानव के भौतिक जीवन के लिए अपेक्षित होती और हो सकती हैं। इस्लाम ने इस ज़मीन पर इनसान की जो

रचनात्मक हैसियत ठहराई है, उसकी पैदाइश का जो उद्देश्य बताया है, आध्यात्मिक (रूहानी) उच्चता और अल्लाह के सामीप्य की जो अवधारणा प्रस्तुत की और उसके लिए जो राजमार्ग नियत किया है – इन सारी चीज़ों को देखते हुए ऐसा विचार करना कि इस्लाम मानव की भौतिक आवश्यकताओं को कोई महत्त्व नहीं देता – स्पष्टतः अज्ञानता का प्रमाण देना है। 'मोमिन' और 'मुस्लिम' केवल आत्मा का नाम नहीं है, बल्कि आत्मा और शरीर दोनों के संग्रह का नाम है और एक मुसलमान को इस संसार में अपना फ़र्ज़ पूरा करने, अपने मिशन को लक्ष्य तक पहुँचाने और अपने पालनहार की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए जो कुछ करना है, उसके लिए शरीर और शारीरिक शक्तियाँ भी ज़रूरत की चीज़ें हैं तथा उनका इस्तेमाल ज़रूरी है। ऐसी स्थिति में वह जीवन-सामग्री भी क्यों आवश्यक न होगी जिसपर शरीर और शारीरिक शक्तियों का अस्तित्व निर्भर है और जिसे हम मानव की आजीविका एवं जीवननिर्वाह का साधन कहते हैं। यही कारण है कि हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) ने फ़रमाया है–

"फ़र्ज़ इबादतों के बाद हलाल रोज़ी कमाना भी फ़र्ज़ है।"

(हदीस : बैहक़ी)

इसी तरह क़ुरआन मजीद में जीवन-सामग्री को जगह-जगह 'अल्लाह का माल', 'पाकीज़ा चीज़ें', 'अल्लाह की नेमतें' और 'अल्लाह का फ़ज़्ल' कहा गया है।

मतलब यह कि जीवन की भौतिक आवश्यकताओं को भी इस्लाम अपेक्षित महत्त्व देता है और इसका उसने पूरा-पूरा प्रावधान भी कर रखा है कि कोई व्यक्ति इस जीवन-सामग्री से वंचित न रह जाए। यह प्रावधान सार्वभौमिक है और चहुँमुखी उपायों पर आधारित है :

(i) हर व्यक्ति को अपनी आजीविका स्वयं प्राप्त करने की प्रेरणा एवं उपदेश,

(ii) कमाने और ख़र्च करने की अपेक्षित स्वतंत्रता और उनपर आवश्यक

प्रतिबन्ध,

(iii) मोहताजों की सहायता करने के बारे में धनवानों को नैतिक उपदेश, और

(iv) मोहताजों के सम्बन्ध में धन-संपन्न लोगों का वैधानिक उत्तरदायित्व

इन चारों उपायों की संक्षिप्त व्याख्या यह है–

(i) हर व्यक्ति को अपनी आजीविका स्वयं अर्जित करने की प्रेरणा एवं उपदेश

(क) प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आजीविका अर्जित करने की कोशिश को एक वैधानिक उत्तरदायित्व समझना चाहिए और किसी पर बोझ बनने के बजाय अपनी आजीविका स्वयं अपना पसीना बहाकर हासिल करनी चाहिए। (हदीस : बुख़ारी, भाग-1)

(ख) भीख माँगकर अपनी आजीविका चलाना अत्यन्त घृणित कार्य है और जो व्यक्ति भी किसी उचित विवशता के बिना दूसरों के सामने हाथ फैलाता है, वह हराम (अवैध) कमाता और हराम खाता है।

(हदीस : मुस्लिम, भाग-1)

(ii) कमाने और ख़र्च करने की अपेक्षित स्वतन्त्रता और उनपर आवश्यक प्रतिबन्ध

(1) आजीविका प्राप्त करने के समस्त वैध संसाधन हर व्यक्ति के लिए समान रूप से खुले रहेंगे। आर्थिक क्षेत्र में संघर्ष एवं प्रयास करने का सभी को बराबर का अधिकार प्राप्त होगा। यहाँ एकाधिकार नाम की कोई चीज़ न होगी। कृषि, व्यापार, दस्तकारी, नौकरी मतलब यह कि प्राप्त आजीविका प्राप्त करने का कोई वैध साधन किसी व्यक्ति के लिए निषेध न होगा। हर व्यक्ति अपनी योग्यता और अपनी रुचि के मुताबिक़ आजीविका-साधन अपनाने में पूर्णतः स्वतन्त्र होगा, क्योंकि इस धरती पर आजीविका के जितने भी साधन हैं, उन सबको अल्लाह ने अपने समस्त बन्दों के लिए ही पैदा किया है, (क़ुरआन, 2:29)। इसलिए उनसे लाभान्वित होने का वैधानिक रूप से सभी को एक

समान अधिकार प्राप्त है।

(2) भूमि और वातावरण की ऐसी समस्त वस्तुओं से, जिनके पैदा करने और उपयोगी बनाने में किसी मानवीय श्रम का कोई हस्तक्षेप नहीं होता, सभी लोग अपनी ज़रूरत के मुताबिक़ लाभ उठाने का बराबर का अधिकार रखते हैं। नबी (सल्ल.) का फ़रमान है –

> "मुसलमान– तीन चीज़ों में बराबर का अधिकार रखते हैं – पानी, घास और आग।"
> (हदीस : अबू दाऊद, भाग-1)

इस हदीस में नाम यद्यपि केवल तीन चीज़ों का लिया गया है, किन्तु वास्तविकता यह है कि यह एक सैद्धान्तिक निर्देश है और इससे अभिप्रेत यह है कि वे समस्त चीज़ें मूलत: सबके लिए समानरूप से वैध हैं, जो फ़ितरी तौर से आप से आप पैदा हुई हों और जिनमें किसी व्यक्ति की मेहनत न लगी हो। इसी लिए पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) ने उस व्यक्ति के बारे में, जो ऐसी चीज़ों के इस्तेमाल से लोगों को रोके, फ़रमाया है कि –

> "............. अल्लाह तआला क़ियामत के दिन उससे कहेगा कि आज मैं तुम्हें अपनी दयालुता से वंचित रखूँगा, जिस प्रकार कि तुमने लोगों को उस चीज़ की 'दयालुता' (अर्थात् अतिरिक्त भाग) से वंचित कर रखा था, जिसे तेरे हाथों ने बनाया और तैयार नहीं किया था।"
> (हदीस : तिर्मिज़ी, भाग-1)

अत: नदी, तालाब और स्रोतों का पानी, जंगल की लकड़ी और घास और अपने आप उगे हुए पेड़ों के फल, इसी प्रकार स्वतन्त्र पक्षी, पानी की मछलियाँ, जंगली जानवर, खुली हुई खानें, नमक के भण्डार आदि सारी चीज़ें आम इस्तेमाल के लिए होंगी और उन पर समान रूप से सबका अधिकार होगा। पड़ी हुई बंजर ज़मीन का मामला भी ऐसा ही है। जो चाहे उसे जोतकर और तैयार करके खेती कर सकता है। कोई उसे रोक नहीं सकता।

इन चीज़ों के प्रयोग का अधिकार मुस्लिम-ग़ैर मुस्लिम सब को समान रूप से है। चूँकि यह बात मुस्लिम समाज के सामने की गई।

"पड़ी हुई बंजर भूमि अल्लाह की और उसके रसूल की है। फिर ये मेरी ओर से तुम्हारे लिए भेंट है।"
(हुज्जतुल्लाहिल बालिग़ा, भाग-2)

(3) आम इस्तेमाल की इन चीज़ों में से जितने हिस्से को भी कोई व्यक्ति अपनी मेहनत और दक्षता का उपयोग करके अपने क़ब्ज़े में ले लेगा, उसका वह मालिक हो जाएगा, अब उससे वह चीज़ छीनी नहीं जा सकती। नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं –

"जिस किसी ने कोई बंजर भूमि को कृषि योग्य बना लिया, वह उसका स्वामी है।"
(हुज्जतुल्लाहिल बालिग़ा, भाग-2)

(4) कोई व्यक्ति आजीविका के प्राकृतिक संसाधनों को अपनी मिल्कियत में ला चुकने के बाद उसे बेकार छोड़े नहीं रख सकता। अगर तीन साल तक उसने कोई ज़मीन बेकार छोड़े रखी तो वह फिर अपनी असल स्थिति – सार्वजनिक वैधता – में वापस लौट जाएगी और उस समय जो व्यक्ति भी चाहेगा उसे अपने उपयोग में लाकर आबाद कर सकेगा।
(किताबुल ख़िराज, पृ.77)

(5) प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्राप्त है कि वह अपने धन को अतिरिक्त धन प्राप्ति का साधन बनाए। व्यवसाय और कला दोनों चीज़ों की, जो धन से और अधिक धन बढ़ाने के व्यावहारिक साधन हैं, शरीअत (इस्लामिक-विधान) ने बड़ी प्रेरणा दी है और उनकी बड़ी महत्ता बयान की है।

(6) धन से अतिरिक्त धन निरंकुशता से प्राप्त नहीं किया जा सकता, बल्कि उन पर कुछ सख़्त नैतिक और क़ानूनी पाबंदियाँ लागू हैं और वे ये हैं –

(क) मामला करने में दो टूक सच्चाई और ईमानदारी अनिवार्य है। ग्राहक को धोखा देना और उससे अपनी चीज़ का दोष छिपाकर बेच देना, बड़ा भारी गुनाह है। अल्लाह के रसूल (सल्ल.) का फ़रमान है –

"जिसने धोखा दिया वह मेरे लोगों में से नहीं।"

(हदीस : तिर्मिज़ी, भाग-1)

(ख) अपनी बिक्री बढ़ाने के लिए झूठी क़समें खाना बड़े गुनाह की बात है। हदीस में आता है कि ऐसा व्यक्ति क़ियामत के दिन अल्लाह तआला की कृपादृष्टि से वंचित रहेगा। (हदीस : मुस्लिम, भाग-1)

(ग) ब्याज का कारोबार, चाहे वह किसी रूप में हो, हर स्थिति में मना है। ब्याज लेना और ब्याज देना बिलकुल हराम है (क़ुरआन, 2:275), और हराम ही नहीं बल्कि ऐसा फ़ौजदारी अपराध है जिसकी स्थिति इस्लाम से बग़ावत और इस्लामी राज्य के विरुद्ध युद्ध की उद्घोषणा की-सी है। (क़ुरआन, 2:279)

(घ) कोई ऐसा साझे का कारोबार नहीं किया जा सकता, जिसमें एक पक्ष का लाभ तो सुनिश्चित हो, लेकिन दूसरे का अनिश्चित और संदिग्ध हो। इस प्रकार के समस्त कारोबार के मामले ब्याज के कारोबार ही की परिभाषा में आते हैं।

(ड.) जुआ हराम और एक अपवित्र कर्म है। इससे दूर रहना चाहिए। क़ुरआन में है :

"ये शराब और जुआ और देवस्थान और पाँसे तो गंदे शैतानी काम हैं, अत: तुम इनसे दूर रहो।" (क़ुरआन, 5:90)

जुआ न केवल यह कि स्पष्ट एवं प्रचलित ढंग का नहीं खेला जा सकता, बल्कि कोई भी ऐसा कारोबार या मामला नहीं किया जा सकता जिसमें जुए के प्रकार का कोई अंश पाया जाता हो। उदाहरणत: सट्टा, लाटरी और वर्तमान के इंश्योरेंस आदि।

(च) जिन चीज़ों का खाना-पीना हराम है। उदाहरणार्थ: – शराब, ख़ून, सुअर और मुर्दार (स्वयं-मृत पशु) आदि – इनका व्यापार एवं कारोबार भी हराम है। हदीस में है –

"अल्लाह ने और उसके रसूल (सल्ल.) ने शराब, मुर्दार, सुअर और मूर्तियों के व्यापार को हराम (अवैध) ठहरा दिया है।"

(हदीस : बुख़ारी भाग-1)

शरीअत में इनका न सिर्फ़ व्यापार हराम है, बल्कि इनसे होनेवाली आय एवं मूल्य भी हराम है। हदीस में है –

"अल्लाह तआला जब किसी क़ौम के लिए किसी चीज़ का खाना हराम करता है तो उसके मूल्य को भी हराम कर देता है।"

(हदीस : अबू दाऊद, भाग-2)

(छ) कारोबार में कोई ऐसा तरीक़ा नहीं अपनाया जा सकता, जिससे दूसरे व्यक्ति या समाज को नुक़सान पहुँचता हो। उदाहरणतः (1) भाव बढ़ाने के लिए आवश्यक जीवन-सामग्री को रोके रखना सख़्त मना है। ऐसे व्यापारियों पर लानत व फिटकार लगाई गई है (हदीस : इब्ने माजा)। (2) इसी प्रकार मण्डी में आनेवाले व्यापारिक सामान को आगे बढ़कर रास्ते ही में ख़रीद लेना जाइज़ नहीं है (हदीस : मुस्लिम, भाग-1)। (3) और किसी शहरी को इस बात की अनुमति नहीं कि वह किसी देहाती का, जो मण्डी में अपना सामान बेचने लाया हो, वकील या ऐजेंट बन जाए और उसका सामान अधिक दामों में बेचने के लिए अपने पास रख ले (हदीस : बुख़ारी, भाग-2)।

(ज) कोई ऐसा लेन-देन नहीं किया जा सकता, जिसमें बेची जानेवाली चीज़ बेचनेवाले के अपने स्वामित्व में न हो, क्योंकि इससे उपद्रव एवं फ़साद पैदा होने की आशंका होती है और यही चीज़ आगे बढ़कर सट्टे का रूप ले लेती है, जिससे जीवन की आवश्यक सामग्रियों का मूल्य देखते-ही-देखते कहीं-से-कहीं पहुँच जाया करता है। (हदीस : अबू दाऊद)

(झ) जिस प्रकार रोज़ी-रोज़गार के वे सभी तरीक़े प्रतिबंधित हैं, जो दूसरों के लिए भौतिक हानि का कारण बनते हों, उसी प्रकार वे साधन भी

प्रतिबंधित हैं जिनसे लोगों को नैतिक या धार्मिक हानि पहुँचती हो। नशीली चीज़ों को, तस्वीरों को, नाच-गाने को, कामुक एवं अश्लील साहित्य की तैयारी और उसके प्रकाशन एवं प्रचार को, वर्तमान प्रकार के सिनेमा को और इसी रंग-ढंग व प्रकार की दूसरी चीज़ों को जीविकोपार्जन का साधन बनाने को अवैध ठहराया है।

(ञ) लेन-देन का कोई ऐसा मामला, जो धोखा एवं फ़रेब की श्रेणी में आता हो और जिसके कारण दोनों पक्षों में तनाव उत्पन्न हो सकता हो, नहीं किया जा सकता। (हदीस : अबू दाऊद)

(ट) उपरोक्त सीमाओं एवं मर्यादाओं का अनुपालन करते हुए जो धन भी प्राप्त होगा, वह यद्यपि व्यक्ति की अपनी वैध व्यक्तिगत सम्पत्ति होगी, जिसको वह स्वयं ख़र्च कर सकेगा, किन्तु उसे स्वयं व्यय कर सकने का यह अधिकार बिना शर्त एवं सीमारहित नहीं है। बल्कि उसपर बहुत-सी नैतिक और वैधानिक पाबंदियाँ लागू हैं। यदि उसने इन पाबन्दियों को तोड़ा तो शासन उसका हाथ पकड़ लेगा और यदि वह शासन की पकड़ में आने से बच भी गया, तो आख़िरत (परलोक) की पकड़ से किसी भी स्थिति में न बच सकेगा। इन प्रतिबन्धों एवं पाबन्दियों में से कुछ की व्याख्या इस वार्ता की अगली पंक्तियों में आ रही है और कुछ का 'सामाजिक व्यवस्था' की वार्ता में वर्णन किया जा चुका है। इनका सार यह है कि शिष्ट शैली का आरामदेह और ख़ुशहाल जीवन ज़रूर व्यतीत किया जा सकता है, किन्तु विलासिता, उन्माद, घमण्ड, अभिमान और आडम्बरयुक्त जीवन कदापि नहीं गुज़ारा जा सकता।

(iii) मोहताजों की ज़रूरतें पूरी करने के सम्बन्ध में धनवानों को नैतिक उपदेश

आजीविका और धन प्राप्त करने की स्वतंत्रता यद्यपि सभी लोगों को समान रूप से प्राप्त है लेकिन चूँकि पैदाइशी तौर पर समस्त व्यक्तियों को

मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ समान रूप से नहीं प्राप्त हैं, बल्कि उनमें बड़ा भारी अन्तर होता है; फिर परिस्थितियाँ और संयोग भी सबका समान रूप से साथ नहीं दिया करते, इसलिए यह आशा नहीं की जा सकती कि सभी लोगों के आर्थिक प्रयासों के परिणाम समान और बेहतर ही होंगे। इसके विपरीत पूरी सम्भावना है, और तजुर्बा बताता है कि केवल यही सम्भव है कि समाज के कुछ लोग लाखों के स्वामी बन गए हों तो कुछ दो वक़्त की रोटी भी न जुटा सके हों। यद्यपि हर व्यक्ति के लिए जीवन की आवश्यक सामग्री, आर्थिक आवश्यकताओं की उपलब्धता, जैसा कि अभी मालूम हो चुका, इसकी केवल सांसारिक आवश्यकता ही नहीं, धार्मिक आवश्यकता भी है। दूसरी ओर समस्त मानवजाति की हैसियत इस्लाम यह निश्चित करता है कि वह पूरी की पूरी अल्लाह का 'परिवार' है। (हदीस: बैहक़ी) अगर हम अपने परिवार को नंगा-भूखा देखना पसन्द नहीं करते तो यह कैसे सम्भव है कि अति करुणामय एवं कृपाशील अल्लाह अपने 'परिवार' को नंगा-भूखा देखना पसन्द करेगा। इन कारणों से इस्लाम पूरा ज़ोर देकर कहता है कि आर्थिक प्रयासों में असफल रह जानेवाले लोगों की ज़रूरतें वे लोग पूरी करें जो इस संघर्ष में सफल हों। यह उनकी और समाज की समष्टीय व्यवस्था अर्थात् सरकार का उत्तरदायित्व है कि उन्हें भूखा-नंगा न रहने दिया जाए। क्योंकि इस संसार में जीवन-यापन का जो सामान अल्लाह तआला ने उतारा है, वह इसके समस्त निवासियों के लिए उतारा है। इसलिए अगर अपनी वित्तीय दौड़-धूप के बाद भी किसी कारण से कुछ लोग अपनी वास्तविक आवश्यकता को पूरा कर सकने में सफल नहीं हो पाते, और कुछ अपनी ज़रूरत से अधिक कमा लेते हैं, तो उनकी यह अधिक कमाई वास्तव में उनकी अपनी ज़रूरत की और अपने अधिकार की चीज़ नहीं होती, बल्कि यह वास्तव में दूसरों का हक़ होता है, जो अल्लाह तआला की मर्ज़ी की हिकमत और मस्लहत के अधीन उनके पास पहुँच गया है। मानो उसकी हैसियत एक अमानत की-सी होती है जिसके वे अमीन (अमानतदार) होते हैं। उन अमानतदारों का अनिवार्य कर्त्तव्य होता है कि असल हक़दारों को उनका हक़ और उनकी अमानत पहुँचा दें। ईमानवालों के लक्षण बयान करते हुए क़ुरआन मजीद ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—

"…..उनके मालों में माँगनेवालों और निर्धनों का 'हक़' होता है।"

(क़ुरआन, 51:19)

समाज के निर्धन और मोहताज लोगों तक उनका यह "हक़" पहुँचा देने के बारे में मालदारों को जो नैतिक उपदेश दिए गए हैं, वे ये हैं –

1. "लोगो! तुम नेकी का मक़ाम किसी स्थिति में नहीं पा सकते, जब तक कि अपने सबसे प्रिय धन का एक भाग अल्लाह के मार्ग में ख़र्च न कर दो।" (क़ुरआन, 3:92)

2. "यह बात ईमान के विरुद्ध है कि कोई व्यक्ति अपना पेट भरकर सोए और उसका पड़ोसी भूख से करवटें बदल रहा हो।" (हदीस : बैहक़ी)

3. धनवान होना एक बड़ी परीक्षा ही नहीं है, बल्कि एक ख़तरनाक उत्पात (फ़ितना) है, और सामान्य रूप से यह अति घृणित दुष्परिणाम ही का कारण बनता रहता है। इस दुष्परिणाम से केवल वही लोग बच सकते हैं जो अपनी दौलत को अल्लाह के मोहताज बन्दों पर और दूसरे धार्मिक कामों में बेझिझक ख़र्च करते रहें। नबी (सल्ल.) ने एक बार फ़रमाया कि "काबा के रब की क़सम! यही लोग सबसे ज़्यादा घाटे में रहेंगे।" पूछा गया, "ये कौन लोग हैं?" फ़रमाया, "ये दौलत के भण्डार रखनेवाले हैं, इनमें से केवल वही लोग इस बुरे अंजाम से सुरक्षित रहेंगे जो अपनी दौलत ख़ुदा की राह में बराबर और निरन्तर देते रहते हैं, यद्यपि ऐसे लोग अधिक नहीं होते।" (हदीस : बुख़ारी)

(iv) मोहताजों के सम्बन्ध में धनवानों का इस्लामी संवैधानिक उत्तरदायित्व

ज़रूरतमन्दों के इस 'हक़' की महत्ता को देखते हुए धनवानों पर निम्न नैतिक उपदेशों के साथ-साथ कुछ इस्लामी संवैधानिक ज़िम्मेदारियाँ भी लागू की गई हैं, और वे ये हैं –

1. प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जो निर्धन एवं मुहताज नहीं है, प्रति वर्ष अपनी संपत्ति और पैदावर का एक निश्चित भाग मोहताजों को उनका वैधानिक अधिकार समझकर अनिवार्यतः देना पड़ेगा। समाज की एक समष्टि-व्यवस्था एक-एक व्यक्ति से ज़कात और उश्र (पैदावार का 10वाँ भाग) की यह मात्रा वुसूल करेगी और ग़रीबों तक पहुँचाने का प्रबन्ध करेगी। कोई व्यक्ति ज़कात और उश्र देने से इनकार नहीं कर सकता। अगर करेगा तो न केवल यह कि अपनी आख़िरत (परलोक) बिगाड़ेगा, बल्कि दुनिया में भी हुकूमत की कठोर कार्रवाइयों से दो-चार होगा।

2. अगर ज़कात और उश्र की यह मात्रा ग़रीबों की ज़रूरतें पूरी करने और दूसरे सामाजिक कामों के लिए पर्याप्त न हो सके, तो शासन पूँजीपतियों पर कर (Tax) भी लगाएगा।

3. जब कोई व्यक्ति देहान्त कर जाए तो उसकी छोड़ी हुई संपत्ति उसके विभिन्न निकट सम्बन्धियों में वितरित कर दी जाएगी और अगर निकट-सम्बन्धी मौजूद न हों तो दूर के रिश्तेदारों में बाँट दी जाएगी। (इस कार्य के लिए शरीअत में विरासत का विस्तृत क़ानून मौजूद है।) इस प्रकार संपत्ति समाज में थोड़ी जगहों पर सिमटी रहने के बजाय अनेक दिशाओं में लगातार फैलती रहती है। इससे ग़रीबी का क्षेत्र बराबर सिकुड़ता रहता है, क्योंकि संपत्ति का गतिमान रहना और उसका उचित वितरण किसी समाज में आर्थिक ऊँच-नीच कम करने का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन होता है।

6. राजनीतिक व्यवस्था

इस्लामी राजनीतिक व्यवस्था की नींव दो आधारभूत वास्तविकताओं पर निर्भर है –

(क) अल्लाह तआला की हैसियत, जो वह ब्रह्माण्ड के – विशेषकर मानवजाति के – मुक़ाबले में रखता है, जिस प्रकार स्रष्टा और पालनहार

होने की है, उसी प्रकार उसके वास्तविक शासक होने की भी है।

(ख) इनसान की हैसियत जिस प्रकार सर्वजगत् के पालनहार अल्लाह तआला की सृष्टि और पालित एवं पोषित होने की है, उसी प्रकार उसके ग़ुलाम (दास) और इस भूमि पर उसके (ख़लीफ़ा) प्रतिनिधि होने की भी है।

इन दोनों मूलभूत वास्तविकताओं के आधार पर इस्लाम ने राजनीति की जो व्यवस्था स्थापित की है, उसकी स्पष्ट रेखाएँ ये हैं –

(1) सर्वोच्च सत्ता और यथार्थ शासन वास्तव में अल्लाह के लिए विशिष्ट है। इसमें कोई व्यक्ति या ख़ानदान या कोई वर्ग, बल्कि समस्त मानवजाति भी ज़र्रा बराबर उसकी शरीक व भागीदार नहीं, सब के सब उसी की जन्मजात रैयत हैं।

"निस्संदेह, सत्ता और अधिकार तो बस अल्लाह का है। उसने आदेश दिया है कि उसके सिवा किसी की बन्दगी न करो।" (क़ुरआन, 12:40)

(2) वास्तविक विधि-प्रदाता केवल अल्लाह है। उसी का दिया हुआ संविधान मानव-जीवन का संविधान है और उसी का दिया हुआ क़ानून मानव-जीवन का क़ानून है। किसी भी व्यक्ति या संस्था को स्वयं यह अधिकार प्राप्त नहीं है कि वह अपने लिए या किसी और के लिए संविधान एवं क़ानून की रचना करे।

(3) अल्लाह का नबी इस दुनिया में उसका प्रतिनिधि और उसके आदेशों एवं इच्छाओं का व्याख्याकर्ता होता है। इसलिए उसकी हैसियत भी अधीनस्थ विधिकर्ता की है और उसके दिए हुए आदेश भी उसी प्रकार पालन के लिए अनिवार्य होंगे, जिस प्रकार वास्तविक विधिनिर्माता अर्थात् अल्लाह तआला के होते हैं –

"रसूल जो कुछ तुम्हें दे उसे ले लो और जिस चीज़ से तुम्हें रोक दे उससे रुक जाओ।" (क़ुरआन, 59:7)

और रसूल का आज्ञानुपालन ठीक अल्लाह तआला का आज्ञानुपालन होता है –

> "जिसने रसूल की आज्ञा का पालन किया, उसने अल्लाह की आज्ञा का पालन किया।" (क़ुरआन, 4:80)

(4) अल्लाह और रसूल (सल्ल.) के दिए हुए आदेश एवं विधान के ठीक-ठीक अनुपालन के लिए और समाज में उनको लागू करने के लिए एक सामूहिक व्यवस्था और एक शासनात्मक संस्था की स्थापना अनिवार्य है। इस्लामी संविधान (शरीअत) के विद्वानों ने विस्तार से लिखा है कि –

> "इस बात पर इस्लाम के अनुयायीगण एक मत हैं कि अमीरुलमोमिनीन (मुसलमानों के शासक) की नियुक्ति अनिवार्य है।"
>
> (शरह अक़ाइद निस्फ़िया)

शरीअत की परिभाषा में इस सामाजिक व्यवस्था और शासनात्मक संस्था को 'खिलाफ़त' या 'इमामत' या 'अमारत' कहा गया है, और यह मौलिक रूप से एक व्यक्ति पर संगठित होता है, जिसे 'ख़लीफ़ा' या 'इमाम' या 'अमीर' कहते हैं।

(5) इस्लामी राज्य के अन्दर रहनेवाले जो लोग इस्लाम को अपना धर्म नहीं मानते होंगे, वे भी यद्यपि राज्य के नागरिक ही होंगे किन्तु उनकी नागरिकता कुछ भिन्न प्रकार की होगी। इस प्रकार के नागरिकों को इस्लामी परिभाषा में 'ज़िम्मी' कहा जाता है। 'ज़िम्मी' इसलिए कहा जाता है कि राज्य उनकी जान व माल और इज़्ज़त की रक्षा का ज़िम्मेदार होता है। ज़िम्मियों के अधिकार ख़लीफ़ा और राज्य की इच्छा पर निर्भर नहीं होते कि वह जब चाहे उनमें कमी कर दे। बल्कि अल्लाह एवं उसके रसूल की ओर से नियत किए हुए हैं और इस्लामी शासन हर स्थिति में उन्हें पूरा करने का पाबन्द होता है।

(6) ख़लीफ़ा का काम यह है कि वह वास्तविक शासक (अल्लाह तआला)

के आदेश एवं उसकी इच्छाओं के अनुकूल सत्ता की व्यवस्था स्थापित कर लोगों में न्याय की स्थापना करे, उनके अधिकारों की रक्षा करे, देश एवं समाज की रक्षा करे और सबसे अंतिम बात यह कि उस उद्देश्य को पूरा करे जिसके लिए अल्लाह तआला ने इस्लाम को अवतरित किया। नुबूवत के समापक तथा अन्तिम नबी मुहम्मद (सल्ल.) को पैदा किया और मुस्लिम समुदाय को उठाया। इस सम्बन्ध में वह ख़ुदा और प्राणी जगत् दोनों के सामने उत्तरदायी होगा।

(7) ख़िलाफ़त की इस भारी ज़िम्मेदारी का हक़ अदा करने में ख़लीफ़ा की सहायता करने हेतु एक सलाहकार समिति (मजलिसे-शूरा) होगी और उस पर अनिवार्य होगा कि वह देश की व्यवस्था इस समिति की सलाह से चलाए। अल्लाह के नबी हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) तक को अल्लाह तआला का यह आदेश था कि वह महत्त्वपूर्ण मामलों में अपने साथियों से मशविरा कर लिया करें।

(8) ख़लीफ़ा वह व्यक्ति बनता है जिसे इस्लामी सोसायटी इस भारी ज़िम्मेदारी के योग्य समझती है और उसकी ख़िलाफ़त पर राज़ी होती है। वह चुनाव के द्वारा सत्तारूढ़ होता है। अगर वह अपने कर्तव्य को पूरा करने में लापरवाह सिद्ध होता है तो उसे पद से हटाया भी जा सकता है। यहाँ तक कि अगर यह लापरवाही कभी ख़िलाफ़त के मौलिक उद्देश्यों से मुख मोड़ने की सीमा को पहुँच जाए तो ऐसी स्थिति में नागरिकों का अनिवार्य कर्त्तव्य हो जाएगा कि उसके हाथ से ख़िलाफ़त की लगाम तुरन्त छीन लें।

(9) 'ख़लीफ़ा' के चुनाव का क्या तरीक़ा हो?– इस सम्बन्ध में शरीअत ने कोई सुनिश्चित पद्धति अपनाने का आदेश नहीं दिया है, बल्कि सिर्फ़ यह किया है कि एक ओर तो चुनाव का उद्देश्य बता दिया है, दूसरी ओर उसके तरीक़े के सम्बन्ध में एक सैद्धांतिक निर्देश दे दिया है। अब इस उद्देश्य को पूरा कर देनेवाला और इस सैद्धांतिक निर्देश से अनुकूलता रखनेवाला, चुनाव का जो ढंग भी अपनाया जाएगा, वह इस्लामी तरीक़ा

होगा। उद्देश्य तो यह है कि केवल ऐसा व्यक्ति सत्ता में आए जो अपने ज्ञान, अपने तक़वा (संयम), अपने चिंतन और अपनी बौद्धिक प्रतिभाओं और व्यावहारिक शक्तियों के आधार से समष्टि रूपेण सभी में श्रेष्ठ हो, और आम लोगों को उसका विश्वास और आदर प्राप्त हो। सैद्धांतिक निर्देश यह है कि चुनाव मूलत: समाज के केवल वे लोग करें जो अपनी सूझबूझ, अपनी धर्मपरायणता और अपनी निर्णय-शक्ति की दृष्टि से समाज के 'उलुल-अम्र' अर्थात् समस्याएँ हल करने की क्षमता रखनेवाले प्रतिष्ठित एवं आदर्श और पेशवा हों। शेष लोग यानी आम जनता उनका समर्थन करें। यह सैद्धान्तिक निर्देश भी वास्तव में इसी लिए दिया गया कि चुनाव का उद्देश्य ज़्यादा अच्छी तरह हासिल हो सके।

(10) 'ख़िलाफ़त' का पद (और इसी प्रकार शासन का कोई भी पद) किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता जो उसकी स्वयं माँग करे या उसका इच्छुक हो। नबी (सल्ल.) फ़रमाते हैं कि –

> ''ख़ुदा की क़सम हम इस काम पर किसी ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति नहीं करते जो स्वयं उसकी माँग करता हो और न ऐसे व्यक्ति की (नियुक्ति करते हैं) जो उसकी इच्छा रखता हो।'' (हदीस : मुस्लिम, भाग-2)

इसका कारण यह है कि इस्लाम में शासन 'अधिकार' नहीं है, बल्कि 'ज़िम्मेदारी' और 'धरोहर' है जिसकी ख़ुदा के सामने भारी जवाबदेही करनी होगी। (हदीस : मुस्लिम, भाग-2)। इसलिए कोई संवेदनशील सच्चा मुसलमान उसका याचक और इच्छुक होकर अपने आप इस बात का साहस नहीं कर सकता कि कल अल्लाह के सामने जब उपस्थित हो, तो हिसाब देने के लिए उसकी ज़िम्मेदारियों में हज़ारों और लाखों ख़ुदा के बन्दों के हक़ अदा करने की सबसे बड़ी ज़िम्मेदारी भी सम्मिलित हो। अत: नबी (सल्ल.) ने फ़रमाया भी है कि –

> ''तुम सबसे अच्छे व्यक्ति (अर्थात् उत्तम पुरुष) को पाओगे कि वह लोगों की इस अध्यक्षता के काम को सबसे ज़्यादा नापसन्द करनेवाला होता है।''
>
> (हदीस: बुख़ारी, भाग-2)

अतः कोई व्यक्ति अगर किसी पद की ओर स्वयं लपकता है तो यह इस बात का प्रमाण होगा कि उसे उस फ़रीज़े (अनिवार्य क़र्त्तव्य) की वास्तविक हैसियत और उसकी भारी ज़िम्मेदारियों का एहसास ही नहीं है। और ज़ाहिर है जिसे किसी काम के वास्तविक हैसियत का और उसकी ज़िम्मेदारियों का एहसास ही न हो, वह उसको सही ढंग से पूरा भी नहीं कर सकता।

(11) किसी व्यक्ति के लिए उचित नहीं कि वह निर्वाचित 'ख़लीफ़ा' की ख़िलाफ़त स्वीकार करने से इनकार कर दे। अगर कोई ऐसा करेगा तो इस्लाम के राजमार्ग से हटकर अज्ञानता के मार्ग पर जा पड़ेगा (हदीस : मुस्लिम, भाग-2)। क्योंकि यह इनकार वास्तव में एक व्यक्ति की ख़िलाफ़त का इनकार नहीं है, बल्कि पूरे इस्लामी राज्य का इनकार और उसके ख़िलाफ़ बग़ावत का एलान है।

(12) हर व्यक्ति पर इस्लामी संविधान के अनुसार यह अनिवार्य है कि ख़लीफ़ा के आदेशों का अनुपालन करे। क़ुरआन में है –

> "(ऐ ईमान लानेवालो !) अल्लाह की आज्ञा का पालन करो और रसूल का कहना मानो और उनका भी कहना मानो जो तुममें ख़लीफ़ा (अर्थात् अधिकारी लोग) हैं। (क़ुरआन, 4: 59)

ख़लीफ़ा के आदेशपालन से इनकार करना वास्तव में ख़ुदा और उसके रसूल के आदेश का पालन करने से इनकार करना है। (हदीस : मुस्लिम, भाग-2) किन्तु यदि वह गुनाह का और इस्लामी शरीअत के ख़िलाफ़ किसी काम का आदेश देता है, तो ऐसी स्थिति में उसकी आज्ञा न मानना ज़रूरी है (हदीस : मुस्लिम, भाग-2)।

मुसलमानों के ख़लीफ़ा का केवल यही हक़ नहीं है कि उसका आज्ञानुपालन किया जाए, बल्कि यह भी है कि दिल से उसकी ख़ैरख़ाही की जाए। यह इस्लाम और दीनदारी (धर्मपरायणता) की अनिवार्य माँग है।

(हदीस : मुस्लिम, भाग-2)

(13) जनता के अनिवार्य कर्त्तव्यों में से ही नहीं बल्कि उनका उत्तरदायित्व है

कि वे ख़लीफ़ा और उसके अधीन कर्मचारियों पर निरीक्षण की कड़ी निगाह रखें। वे जहाँ भी ग़लती करते पाए जाएँ, तुरन्त टोक दिए जाएँ। अगर टेढ़ी राह चलें तो हर प्रकार के उचित प्रयास करके उन्हें सीधी राह चलने पर विवश कर दिया जाए। हज़रत अबू बक्र सिद्दीक़ (रज़ि.) ने ख़लीफ़ा नियुक्त होने के बाद लोगों को उनकी यह ज़िम्मेदारी याद दिलाते हुए उनसे इस निरीक्षण की स्वयं माँग की थी और फ़रमाया था कि – "अगर मैं टेढ़ी राह अपनाऊँ तो मुझे सीधा कर देना।

(तारीख़े-तबरी, फ़ारसी अनुवाद, भाग-4)

(14) जिन समस्याओं और विषयों के सम्बन्ध में अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल.) के स्पष्ट आदेश मौजूद न होंगे, उनके लिए क़ानून बनाए जाएँगे। ये क़ानून मुसलमानों का ख़लीफ़ा और उसकी सलाहकर समिति बनाएगी।

(15) इस्लामी राज्य प्रत्येक व्यक्ति की, चाहे वह मुस्लिम हो या ग़ैर - मुस्लिम, जान माल और इज़्ज़त की रक्षा का उत्तरदायी होगा। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी पद्धति से उपासना करने और अन्तःकरण को साँवारने की पूरी-पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। मत अभिव्यक्ति पर मात्र इतना प्रतिबन्ध होगा कि राज्य के विरुद्ध बग़ावत की दीक्षा न दी जाए और न इस प्रकार की बातें कही जाएँ जो देश में उपद्रव एवं आतंक फैलानेवाली या नैतिक गिरावट पैदा करनेवाली हों। किसी व्यक्ति का अपराध साबित किए बिना उसकी स्वतन्त्रता न छीनी जा सकेगी।

(16) इस्लामी राज्य की स्थापना का उद्देश्य और शासन-कर्त्तव्य बहुत ऊँचा और बहुत विस्तृत है। इसके मूलभूत बिन्दु क़ुरआन मजीद की ये आयतें निश्चित करती हैं –

"हमने अपने पैग़म्बरों को स्पष्ट प्रमाणों के साथ भेजा और उनके साथ किताब और तुला उतारी ताकि लोग न्याय पर जमे रहें, और हमने लोहा उतारा।"

(क़ुरआन, 57: 25)

"ऐ दाऊद ! हमने तुम्हें ज़मीन में अपना ख़लीफ़ा बनाया है। अतः लोगों

के बीच सत्यनिष्ठता के साथ फ़ैसला किया करो।" (क़ुरआन, 38:26)

"ये वे लोग हैं कि अगर हम उन्हें ज़मीन में सत्ता प्रदान करें तो वे नमाज़ का आयोजन करेंगे, ज़कात अदा करेंगे और भलाई का आदेश देंगे और बुराई से रोकेंगे।" (क़ुरआन, 22:41)

पहली दो आयतें इस्लामी शासन क़ायम करने का सामान्य और तीसरी उसका विशेष उद्देश्य स्पष्ट करती है। पहली आयतों से मालूम होता है कि शासन का काम समाज में न्याय एवं इनसाफ़ को स्थापित करना है और यह एक ऐसा उद्देश्य है जो नितान्त सामान्य प्रकार का है। न्याय की स्थापना केवल इस्लामी राज्यों ही का मुख्य उद्देश्य नहीं होता, वरन् दुनिया की हर हुकूमत कम-से-कम अपने इरादे और दावे की हद तक इसी उद्देश्य से स्थापित हुआ करती है। और यह एक ऐसा उद्देश्य है जो शासनात्मक व्यवस्था के अस्तित्व के लिए हर समाज में अपरिहार्य है। तीसरी आयत इस सामान्य उद्देश्य पर एक अभिवृद्धि करती हुई इस्लामी राज्य का उद्देश्य यह बताती है कि समाज को नमाज़ का आयोजन करनेवाला, ज़कात देनेवाला, भलाइयों से स्वयं प्यार करनेवाला और दूसरों को उसका आदेश देनेवाला तथा बुराइयों से स्वयं बचनेवाला और दूसरों को उससे बचाने एवं रोकनेवाला बनाया जाए, और यह वह उद्देश्य है जो इस्लामी राज्य का विशिष्ट एवं सर्वोपरि उद्देश्य होता है, जिसका किसी अन्य शासन व्यवस्था में नितान्त अभाव होता है। यह मक़सद जिन चार बुनियादी योजनाओं (नमाज़ का आयोजन, ज़कात देना, भलाई का हुक्म देना और बुराई से रोकना) पर अभिव्याप्त है, थोड़ा ग़ौर कीजिए तो मालूम होगा कि यह वास्तव में पूरे धर्म को क़ायम रखने, उसकी बरकतों के क्षेत्र को बढ़ाते रहने और समाज को सही इस्लामी समाज बनाए रखने की सर्वश्रेष्ठ ज़िम्मेदारी और अनथक प्रयास ही का दूसरा नाम है।

7. विधीय व्यवस्था

इस्लामी विधीय व्यवस्था की आधारभूत बातें ये हैं –

1. विधि (क़ानून) के मूल स्रोत दो हैं – (1) क़ुरआन और (2) हदीस

इनके अन्दर जितने क़ानून स्पष्ट रूप में मौजूद हैं, वे दोटूक और अटल हैं और हर परिस्थिति में अनिवार्य रूप से स्वीकार्य और अनुकरणीय हैं। इनमें कभी कोई साधारण फेर-बदल भी नहीं हो सकता और न कोई ख़लीफ़ा (इस्लामी शासक) शासन-प्रबन्ध के संचालन में उनकी तनिक भर भी अवहेलना कर सकता है, और न किसी शासक के लिए वैध है कि मामलों का फ़ैसला उनसे हटकर करे। ऐसा करना इस्लाम से हाथ धो बैठना है –

> "जो लोग अल्लाह के उतारे हुए क़ानून के अनुसार फ़ैसला न करें, वही सत्य के इनकारी अर्थात् अधर्मी हैं।" (क़ुरआन, 5:44)

2. जिन समस्याओं और विषयों के सम्बन्ध में स्पष्ट आदेश क़ुरआन और हदीस में मौजूद न हों उनके लिए सामयिक परिस्थिति और ज़रूरतों के मुताबिक़ क़ानून स्पष्ट किए जाएँगे। ये क़ानून वे लोग स्पष्ट करेंगे जो अपने ज्ञान एवं ईश-परायणता (तक़वा), अपनी धार्मिक दूरदर्शिता, अपनी विधीय कुशलता और सामयिक माँगों से सम्बन्धित अपनी गहरी जानकारी के आधार पर उसके पात्र होंगे। यह विधि-निर्माण का कार्य आम न होगा, बल्कि केवल उन्हीं मामलों में हो सकेगा जिनके बारे में क़ुरआन एवं हदीस के स्पष्ट आदेश मौजूद न होंगे। इसी प्रकार यह कार्य स्वच्छन्दता के साथ न होगा, बल्कि 'दीन' के स्वभाव और शरीअत के निश्चित उसूलों एंव लक्ष्यों के अधीन ही होगा तथा इन्हीं को सामने रखकर किया जाएगा।

इस प्रकार के क़ानून-निर्माण को इस्लामी परिभाषा में 'क़ियास' अर्थात् अनुमान कहते हैं। अनुमानित आदेशों एवं क़ानूनों की हैसियत दोटूक और अपरिवर्तनीय एवं मतभेद रहित शरीअत के आदेशों की नहीं होती, बल्कि उनमें मतभेद हो सकता है और परिवर्तन की आवश्यकता भी पड़ सकती है। मतभेद इसलिए हो सकता है कि यह मानवीय समझ-बूझ एवं मत का विषय है, जिसमें मतभेद का होना स्वाभाविक बात है। परिवर्तन की आवश्यकता इसलिए पड़ सकती है कि 'क़ियास' और 'इज्तिहाद' में सामयिक हालात और उसकी अपेक्षाओं को भी सामने रखना ज़रूरी होता है और ये हालात और माँगें निरन्तर बदलती रहती हैं। यद्यपि ऐसा 'क़ियास' जिसपर पूरी

मिल्लत के इस्लामिक विद्वान व धार्मिक तथ्यान्वेषक सहमत हो गए हों, मतभेद रहित होता है और उसकी हैसियत भी स्थायी क़ानून की-सी हो जाती है। इस सहमति को इस्लामी परिभाषा में 'इजमाअ' अर्थात् किसी एक बात पर एक राय होना कहते हैं।

इस प्रकार इस्लामिक विधि के स्रोत चार हो जाते हैं – (1) क़ुरआन, (2)हदीस (3) क़ियास और (4) इजमाअ।

3. इस्लामी विधान सभा, प्रशासन से पूरी तरह स्वतन्त्र होगी। विधि निर्माण पर प्रशासन के किसी प्रभाव एवं अधिकार का कोई प्रश्न ही नहीं पैदा होता। विधि-निर्माताओं के समक्ष केवल अल्लाह और रसूल (सल्ल.) की मंशा को यथा सम्भव ठीक-ठीक अभिव्यक्त करना लक्ष्य होता है। इस्लाम में विधि-निर्माण का अर्थ यह जानने और बताने के सिवा और कुछ नहीं होता है कि अगर अल्लाह के रसूल (सल्ल.) के सामने अमुक मामला या मसला पेश होता तो उसका फ़ैसला या जवाब हमारे अनुमान के मुताबिक़ यह होता।

4. इस्लामी विधान सभा की तरह न्यायपालिका भी प्रशासन से पूरी तरह मुक्त होगी। न्यायाधीशों (क़ाज़ियों और जजों) की नियुक्ति यद्यपि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शासन ही करेगा, लेकिन जब एक न्यायाधीश (क़ाज़ी) की नियुक्ति हो गई तो अब वह अदालत की कुर्सी पर शासन व सरकार का प्रतिनिधि नहीं, बल्कि वह ख़ुदा और उसके रसूल (सल्ल.) का प्रतिनिधित्व करता है और उसके लिए शरीअत के आदेश के सिवा और कोई चीज़ लिहाज़ करने योग्य नहीं रह जाती।

5. वैधानिक शक्ति सर्वोपरि है। कोई क़ानून से उच्च नहीं होता। धनी व निर्धन का, विशिष्ट व सामान्य का यहाँ कोई भेदभाव नहीं पाया जाता। ऊँचे से ऊँचा व्यक्ति, यहाँ तक कि वक़्त का ख़लीफ़ा क़ानून का उसी प्रकार ग़ुलाम है, जिस प्रकार एक बेकस फ़क़ीर होता है। अगर किसी मामले में ख़लीफ़ा मुद्दयी (दावेदार) या मुद्दआ-अलैह (जिसपर दावा किया गया हो) हो तो अदालत में उसे भी उसी हैसियत से उपस्थित होना होगा, जिस हैसियत से दूसरे लोग उपस्थित हुआ करते हैं। इसी प्रकार अगर क़ानून किसी मुक़द्दमे में

उसे मुजरिम ठहरा देता है तो उसे भी सुनिश्चित दण्ड अनिवार्यतः भुगतना पड़ेगा।

अल्लाह के रसूल (सल्ल.) ने एक बड़े घर की औरत को जिस ने चोरी की थी, सज़ा देने का फ़ैसला किया तो कुछ लोगों ने उसके बड़े घर के होने की वजह से उसे सज़ा न देने की माँग की। उस माँग पर नबी (सल्ल.) बहुत नाराज़ हुए और स्पष्ट शब्दों में उन लोगों से कहा कि अगर मेरी बेटी भी चोरी करती तो उसे भी माफ़ नहीं किया जाता और सज़ा अवश्य मिलती।

यह घटना क़ानून की सर्वोच्चता के इतिहास में अनुपम है, जिस की मिसाल कहीं नहीं मिलती।

जिन अपराधों की सज़ाएँ क़ुरआन और हदीस के अन्दर दोटूक शैली में और स्पष्ट तरीक़े पर निश्चित कर दी गईं, उनको लागू करने के लिए ख़लीफ़ा भी नहीं रोक सकता। यहाँ "रहम की दरख़्वास्त" मंज़ूर करने का किसी गवर्नर या राष्ट्रपति या और किसी को अधिकार प्राप्त नहीं।

6. ताज़ीरात (अर्थात् फ़ौजदारी अपराधों की सज़ाएँ) केवल उसी स्थिति में लागू की जाएँगी जबकि समाज और वातावरण वस्तुतः इस्लामी हो और परिस्थितियाँ सामान्य हों। अगर समाज व्यवहारतः इस्लामी रंग का न हो, या हालात ऐसे असाधारण हो गए हों जिनमें अपराध करने को विवश करनेवाली परिस्थितियाँ उभर आई हों, तो सज़ाओं का लागू करना रुका रहेगा, इसी लिए अकाल की स्थिति में ख़लीफ़ा द्वितीय हज़रत उमर (रज़ि) ने चोरी की सज़ा स्थगित कर दी थी।

7. न्याय हर व्यक्ति को निःशुल्क मिलेगा। यहाँ कोर्ट फ़ीस नाम की कोई चीज़ न्याय पारिश्रमिक स्वरूप वुसूल न की जा सकेगी।

धर्म और राजनीति

समय का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न

पिछले पृष्ठों में यद्यपि यह बात बिलकुल स्पष्ट हो चुकी है कि इस्लाम जीवन की एक ऐसी व्यवस्था रखता है जिस का एक अंश राजनीतिक व्यवस्था भी है; किन्तु यह बात अभी स्पष्ट नहीं हो सकी है कि राजनीति धर्म का और राजनीतिक व्यवस्था इस्लामिक व्यवस्था का कैसा अंश है ? इसका क्या और कितना महत्त्व है और क्यों है ? हालांकि आवश्यकता कहती है कि इसे स्पष्ट होना चाहिए। क्योंकि जिस चीज़ को हम राजनीति कहते हैं, वह मानवीय जीवन के लिए कोई साधारण महत्त्व की चीज़ नहीं है। विशेषकर वर्तमान समय में तो इसका हस्तक्षेप इतना बढ़ चुका है कि जीवन के निजी से निजी मामले तथा समस्याएँ भी इसके तर्क-क्षेत्र से पूरी तरह बाहर नहीं रह गई हैं। इसलिए फ़ितरी तौर से जीवन के बनाव- बिगाड़ पर इसका असाधारण प्रभाव पड़ता है। हर आँखों वाला देख सकता है कि समस्त दर्शन, दृष्टिकोण और अक़ीदे धरे के धरे रह जाते हैं और राजनीति तथा शासन की धारा समाज को अपनी दिशा पर बहाए लिए चलती रहती है। साथ ही मज़े की बात यह भी है कि वह धर्म व मज़हब से कोई सम्बन्ध न होने की भी उद्घोषणा करती रहती है। राजनीति कहती है कि मेरा दीन-धर्म से कोई रिश्ता नहीं है। फिर अपनी इस बात के बुद्धिसंगत, बल्कि आवश्यकता पड़ने पर बड़े ख़ूबसूरत और दृष्टि-भ्रमित 'तर्क' भी देती है और इस क्रम में अपनी किसी अपेक्षा का नहीं बल्कि स्वयं धर्म ही के हित का नाम लेती और उसकी पवित्रता की दुहाई देती है। वह कहती है कि वह धर्म इनसान को ईश्वर से मिलाने का साधन है, अत्यन्त उच्च और पवित्र चीज़ है। इसलिए यह उसकी बड़ाई और उसकी पवित्रता का निरादर है कि उसे संसार के बखेड़ों में घसीटा जाए। जो चीज़ पवित्र है उसे पवित्र जगहों और पुनीत कार्यों ही के लिए विशिष्ट रहने देना

चाहिए। राजनीति और राजनीतिज्ञों का यह दृष्टिकोण आज लगभग पूरे विश्व की समस्या बनी हुई है, जिसके प्रभावाधीन लोग सामान्य रूप से किसी धर्म के बारे में यह मानने के लिए तैयार ही नहीं होते कि इसका राजनीति से कोई आदरणीय सम्बन्ध होगा। इससे आगे की कोई बात सोचना और मानना तो बहुत दूर की बात है।

आज वस्तुस्थिति यह है कि जो लोग इस्लाम के केवल नाम लेवा नहीं, बल्कि वस्तुतः अनुयायी हैं और उसे दूसरों की नहीं, बल्कि स्वयं अपनी निगाह से देखने के दावेदार हैं, उनमें से भी बहुतों का कहना यह है कि इस्लाम से राजनीति और शासन का सम्बन्ध अधिक से अधिक दूसरे दर्जे का है। धर्म में उसे कोई मूलभूत महत्त्व प्राप्त नहीं है, न शासन इस्लाम के लिए कोई अनिवार्य चीज़ है। अनिवार्य होना तो दूर रहा, वह उसके लिए अपेक्षित भी नहीं है। न उसकी स्थापना के लिए प्रयास करना इस्लाम के अनुयायियों का कोई धार्मिक उत्तरदायित्व है। इसकी हैसियत तो मात्र एक पुरस्कार की है जो धर्म की निष्ठापूर्ण पैरवी के परिणाम में अल्लाह की ओर से ईमानवालों को प्रदान किया जाता है। दो शब्दों में यह कि शासन व हुकूमत यदि अपेक्षित है भी तो इस्लाम के अनुयायियों के लिए, न कि स्वयं इस्लाम के लिए।

इन कारणों से इस्लाम के बारे में भी यह प्रश्न समय का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन गया है कि इसका राजनीति से क्या सम्बन्ध है ? अर्थात् राजनीति यदि इसका एक अंग है तो किस प्रकार का और किस महत्त्व का अंग है ? इसलिए बहुत ज़रूरी है कि प्रश्न को एक स्थाई महत्त्वपूर्ण बहस की हैसियत से लिया जाए और इसका स्पष्ट और सप्रमाण व तर्कपूर्ण जवाब मालूम किया जाए। अन्यथा पूरी आशंका है कि इसके बिना इस्लाम को अच्छी तरह समझा न जा सकेगा। ज़ेहन में इसकी जो तसवीर आएगी वह अगर ग़लत नहीं, तो धुँधली अवश्य होगी। समस्या की महत्ता चाहती है कि इसके सभी सम्बन्धित विभागों पर दृष्टि डाली जाए और क्रमानुगत उन समस्त मूलभूत बातों तथा बिन्दुओं का जायज़ा लिया जाए जिनसे धर्म और राजनीति के सम्बन्ध की सही स्थिति निश्चित करने में सहायता या मार्गदर्शन मिलता हो –

अल्लाह पर ईमान और राजनीतिक अवधारणा

इस उद्‌देश्य के लिए हमें सबसे पहले अल्लाह तआला के गुणों को देखना चाहिए, क्योंकि यही गुण वास्तव में वे स्रोत हैं जिससे धर्म की समस्त अवधारणाएँ और शरीअत के सभी आदेश निकले हैं। इसलिए इस बात के फ़ैसले का अधिकार भी, कि राजनीति का इस्लाम से क्या सम्बन्ध है, सबसे अधिक इन गुणों ही को प्राप्त है।

पुस्तक के दूसरे अध्याय "मौलिक धारणाएँ" में हम संक्षिप्त में यह जान चुके हैं कि अल्लाह तआला के मौलिक गुणों में से एक गुण 'शासक' होना भी है। इस गुण का प्रमाण क़ुरआन की जिन आयतों से मिलता है उनमें से कुछ ये हैं –

> "कहो, मैं शरण लेता हूँ इनसानों के रब की, इनसानों के सम्राट की, इनसानों के उपास्य की" (क़ुरआन, 114:1-3)

> "सुन रखो! उसी के लिए है पैदा करना भी और आदेश देना भी।" (क़ुरआन, 7:54)

> "शासन नहीं है किसी का सिवाय अल्लाह के।" (क़ुरआन, 12:40)

क़ुरआन की ये आयतें बताती हैं कि अल्लाह तआला इनसानों का केवल पालनहार और प्रभु-पूज्य ही नहीं है, बल्कि सम्राट, आदेश दाता और हाकिम भी है। अर्थात् वह ऐसा पालनहार और पूज्य है जिसके पालनहार होने और पूज्य होने में प्रभुत्त्व और शासक का भाव अनिवार्यतः सम्मिलित है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मानवजाति का वास्तविक शासक (सत्ताधारी व परम आधिपत्य) और विधिनिर्माता (शरीअत बनानेवाला) अल्लाह तआला ही है और यह उसके सर्वमान्य और महत्त्वपूर्ण गुणों में से एक है। जब तक किसी को इस गुण का विश्वास न हो वह अल्लाह पर सही अर्थों में ईमान रखनेवाला माना ही नहीं जा सकता।

जब यह एक पूर्व निश्चित वास्तविकता है कि मानवजाति का वास्तविक

शासक और सर्वोच्च सत्तावान और विधिनिर्माता अल्लाह के सिवा कोई और नहीं तो यह वास्तव में इस बात का निर्देश भी है कि उसके राजनीतिक जीवन का निर्माण अल्लाह तआला की साझाहीन सत्ता पर होना चाहिए। क्योंकि राजनीति का सबसे पहला विषय और उसकी सबसे आधारभूत धारा यही प्रभुत्त्व का विषय और सर्वोच्च सत्तावान होने की धारा है, और अल्लाह के प्रभुत्त्व का गुण इसी विषय का सीधा उत्तर है।

शरीअत के आदेश और राजनीतिक अनुभाग

प्रभुत्व के गुण के बाद अब शरीअत के समस्त आदेशों को देखिए। जिन समस्याओं से राजनीति बहस करती है और जो मानव के राजनीतिक जीवन की समस्याएँ हैं, उनमें ख़ास बातें ये हैं –

(1) सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था की आवश्यकता क्यों होती है? मानव की वास्तविक सृजनात्मक स्थिति क्या है? व्यक्ति के मौलिक अधिकार क्या हैं? सत्ता के अधिकार कितने और कैसे हैं? विधि-निर्माण का अधिकार किसे है? स्वयं विधि की स्थिति क्या है? आदि — देखना चाहिए कि क़ुरआन व हदीस ने इन विषयों पर बहस की है या नहीं? और इन बातों के सम्बन्ध में अनिवार्य हिदायतें दी हैं या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर इस्लाम की 'राजनीतिक व्यवस्था' की बहस में आप अभी देख चुके हैं, जिससे पूरी तरह मालूम हो चुका है कि राजनीति जिन-जिन आधारभूत विषयों से बहस करती है, इस्लाम ने इनमें से एक-एक को लिया है और उन सभी के बारे में मार्गदर्शन किया है।

अल्लाह के आदेशों का अनुपालन और सत्ता-प्रभुत्व

इस्लामी शरीअत जिन आदेशों व मार्गदर्शनों को अपने में समाविष्ट किए हुए है, उनमें से अनगिनत आदेश ऐसे हैं जिनका अनुपालन एक राजनीतिक व्यवस्था और एक प्रभुत्व संपन्न सत्ता के बिना सम्भव ही नहीं। उदाहरण के रूप में निम्न कुछ आदेशों को देखिए --

(1) अगर कोई व्यक्ति किसी को क़त्ल कर दे तो तुम्हारे लिए अनिवार्य है कि उससे क़िसास (हत्या-दण्ड) लो –

"ऐ ईमान लानेवालो! क़त्ल किए गए व्यक्ति के विषय में हत्यादण्ड (क़िसास) तुमपर अनिवार्य किया गया।" (क़ुरआन, 2:178)

(2) चोर का हाथ काट दो –

".....चोर चाहे स्त्री हो या पुरुष दोनों के हाथ काट दो।"

(क़ुरआन, 5:38)

(3) व्यभिचारी को सौ कोड़े लगाओ –

"व्यभिचारिणी और व्यभिचारी – इन दोनों में से प्रत्येक को सौ कोड़े मारो।" (क़ुरआन, 24:2)

(4) व्यभिचार का झूठा आरोप लगानेवालों को अस्सी कोड़े मारो –

".....जो लोग शरीफ़ एवं पाक दामन स्त्रियों पर लाँछन लगाएँ, फिर चार गवाह न लाएँ, उन्हें अस्सी कोड़े मारो और उनकी गवाही कभी भी स्वीकार न करो।" (क़ुरआन, 24:4)

इसी प्रकार कितने ही आदेश ऐसे हैं जिसपर सत्ता के बिना यदि अमल हो भी सकता है तो केवल आंशिक रूप में या त्रुटिपूर्ण रूप में ही हो सकता है। पूरी तरह और अपेक्षित रूप में उनपर भी अमल उसी समय सम्भव है जब राजनीति और शासन की एक प्रभुत्व प्राप्त व्यवस्था स्थापित हो। उदाहरणतः ये आदेश –

(1) बुराई को हाथ से मिटा दो। (हदीस : मुस्लिम)

(2) न्याय और इनसाफ़ के मार्ग पर दृढ़ता से जमे रहो। (क़ुरआन, 4:135)

(3) अल्लाह से इतर न्यायालय कभी भी इस योग्य नहीं कि कोई सच्चा मुसलमान वहाँ अपने मुक़द्दमे ले जाए। (क़ुरआन, 4:60)

(4) लोगों के मामलों का फ़ैसला उन क़ानूनों के मुताबिक़ करो जिन्हें अल्लाह ने नाज़िल किया है। (क़ुरआन, 5:48)

(5) मुसलमान के वुजूद का उद्देश्य सारे विश्व के सामने सत्य-धर्म की गवाही देना है। (क़ुरआन, 2:143)

स्पष्ट है कि इस प्रकार के धर्मादेशों का अनुपालन भी ठीक उसी प्रकार अनिवार्य है जिस प्रकार कि दूसरे आदेशों का अनुपालन अनिवार्य है। क्योंकि ये भी उसी प्रकार शरीअत के अंग हैं जिस प्रकार कि दूसरे आदेश हैं, और इनको पूरा करना भी उसी प्रकार ईमान व इस्लाम की अपेक्षा है जिस प्रकार अन्य आदेशों को पूरा करना है। क्योंकि अल्लाह तआला ने हमें अपने आदेश में किसी चुनाव की स्वतन्त्रता नहीं दी है कि जिनका चाहें अनुपालन करें और जिन्हें चाहें छोड़ दें। उसकी माँग तो यह है कि जो कुछ भी मेरी ओर से अवतरित किया गया है, सभी की पैरवी करो (क़ुरआन, 7:3)। और अगर तुमने ऐसा न किया, बल्कि मेरे आदेशों में अपनी इच्छा के मुताबिक़ अन्तर किया, जिन आदेशों पर जी चाहा चले और जिनको चाहा छोड़ बैठे, तो यह ईमान की नहीं इनकार की नीति होगी। हमारे सामने यहूदियों का उदाहरण है। उनपर इसी प्रकार के आचरण को अपनाने पर स्पष्ट शब्दों में यह जुर्म लगाया गया था कि "क्या तुम अल्लाह की किताब (तौरात) के एक भाग पर ईमान रखते हो और एक भाग का इनकार करते हो।" (क़ुरआन, 2:85)

राजनीति : इस्लाम-धर्म का अनिवार्य अंग

अब इन समस्त बातों को एक साथ दृष्टि में रखकर ग़ौर से देखिए, इस्लाम और राजनीति के सम्बन्ध का प्रश्न पूरी तरह हल हो जाएगा।

अगर सम्प्रभुता अल्लाह तआला का एक आधारभूत गुण है, और अगर इस गुण की स्पष्ट माँग यह है कि मानव के राजनीतिक जीवन का निर्माण अल्लाह तआला की साझाहीन सत्ता पर होना चाहिए— तो यह इस बात का प्रमाण है कि मानव का राजनीतिक जीवन भी धर्म की सीमा में सम्मिलित है और उसे उसकी सीमा से किसी प्रकार बाहर नहीं रखा जा सकता। अगर बाहर रखा जाएगा तो अल्लाह तआला की सम्प्रभुता के गुण पर ईमान रखने का दावा निरर्थक होकर रह जाएगा।

अगर शरीअत का एक भाग राजनीतिक आदेश पर भी आधारित है और

इस्लाम एक पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था भी रखता है– तो यह इस बात का अटल प्रमाण है कि इस्लाम के पूरे और वास्तविक अस्तित्व की, उसकी राजनीतिक व्यवस्था के बिना कल्पना ही नहीं की जा सकती। जिस प्रकार कि किसी स्वस्थ और पूर्ण शरीर की यदि आप कल्पना करना चाहें तो उसके किसी उत्कृष्ट अंग, उदाहरणतः सिर या हाथ या पाँव, को अलग रखकर कभी न कर सकेंगे।

अगर सत्ता-प्रभुत्व के बिना धर्म के अनगिनत आदेश निष्क्रय होकर रह जाते हैं और उनको व्यवहार में लाना संभव नहीं रह जाता तथा दूसरी ओर शरीअत का कोई अंश भी छोड़ बैठना कुफ़्र (दीन का इनकार) की नीति है, इस्लाम की नहीं– तो इसका स्पष्ट और खुला अर्थ यह है कि राजनीति इस्लाम का एक अटूट और अनिवार्य अंग है, क्योंकि स्वयं में उसका जो महत्त्व है वह तो है ही, साथ ही उसका यह महत्त्व भी है कि उसी पर धर्म के बहुत-से दूसरे अंगों की पूर्णता किसी न किसी हद तक निर्भर करती है।

इन सभी पक्षों को देखते हुए हज़रत उमर (रज़ि.) के ये शब्द एक खुली वास्तविकता की अभिव्यक्ति ही कहे जा सकेंगे कि –

> "जमाअत के बिना इस्लाम, इस्लाम नहीं और अमीर (सत्ता-व्यवस्था) के बिना जमाअत, जमाअत नहीं।" (जामेअ बयानुल इल्म)

सुप्रसिद्ध ताबई हज़रत कअ़्ब अल-अहबार (रह.) ने इस बारे में जो बात कही है वह कितनी सटीक है कि –

> "इस्लाम और शासन और आम जनता – इन तीनों की मिसाल शामियाने (ख़ेमे) और उसके खम्भे और उसके खूँटों जैसी है। शामियाना इस्लाम है। खम्भा शासन है और ख़ूँटे आम जनता हैं। इनमें से कोई भी शेष दो के बिना अपनी ठीक हालत में नहीं रह सकता।" (अल-अक़्दुल फ़रीद, भाग-1)

मतलब यह कि राजनीति और शासन की अवधारणा से यदि इस्लाम को अलग कर दिया जाए तो फिर इस्लाम वह इस्लाम न रह जाएगा जो अल्लाह का भेजा हुआ, क़ुरआन का बताया हुआ और अल्लाह के रसूल (सल्ल.)

का अपनाया हुआ इस्लाम है। इस्लाम अपनी सही शक्ल में उसी समय देखा जा सकता है, जब उसे पूर्ण सत्ता-प्रभुत्व के तख़्त पर रखकर देखा जाए।

यहाँ पहुँचकर वस्तुस्थिति का एक और इनक़िलाबी पहलू सामने आ जाता है और वह यह कि इस्लाम राजनीतिक प्रभुत्व को दुनिया की चीज़ नहीं, बल्कि धार्मिक चीज़ क़रार देता है। अप्रिय और अनापेक्षित नहीं, बल्कि पसन्दीदा और अपेक्षित ठहराता है। वह इससे बेनियाज़ नहीं होता बल्कि इस की इच्छा रखता और इसे प्राप्त करना चाहता है, और यह इसलिए चाहता है कि जब तक उसके पास यह प्रभुत्व प्राप्त न हो वह अपने अस्तित्व का लक्ष्य पूरा ही नहीं कर सकता।

इस्लामी शासन और मुस्लिम शासन

इस अवसर पर उस नाज़ुक और सबसे बड़े अन्तर को भी अच्छी तरह जान लेना चाहिए जो "इस्लामी शासन" और "मुस्लिम शासन" के बीच होता है।

यह तो एक खुली हुई सच्चाई है कि इस्लाम कोई शरीर व प्राण रखनेवाली हस्ती नहीं है कि वह अपने अपेक्षित प्रभुत्व को स्वयं अपनी कोशिशों से प्राप्त कर सकेगा और प्राप्त करने के बाद उसे अपने हाथों में रखेगा। इसके विपरीत यह सब कुछ इसके अनुयायियों के द्वारा ही हो सकेगा। वे ही इस प्रभुत्व को प्राप्त करने की कोशिशें भी करेंगे और वे ही इसे प्राप्त कर चुकने के बाद अपने हाथों में रखकर इसको लागू भी करेंगे। किन्तु बड़ा अन्तर है उस सम्प्रभुता में जो मुसलमानों को उनके अपने लिए अपेक्षित हो और उस सत्ता में जो उन्हें वस्तुतः इस्लाम के लिए अपेक्षित हो। पहले प्रकार की प्रभु-सत्ता 'मुस्लिम सम्प्रभुता' और दूसरे प्रकार की प्रभु-सत्ता 'इस्लामी सम्प्रभुता' होती है। अल्लाह तआला के निकट वह अगर दुनिया है तो यह 'दीन' (धर्म) है। वह अगर बुराई है तो यह भलाई है, वह अगर दुनिया का बिगाड़ है तो यह दुनिया का श्रृंगार है। इसी आधार पर एक ओर ईमानवालों की प्रशंसा अगर क़ुरआन ने यह की है कि – "वे ज़मीन में अपनी बड़ाई और फ़साद (बिगाड़) नहीं चाहते" (क़ुरआन, 28:83), तो दूसरी ओर उन्हें सम्बोधित

करके यह भी कहा कि "तुम्हीं सरबलन्द होगे अगर तुम्हारे अन्दर सच्चा ईमान मौजूद हो" (क़ुरआन, 3:139)। ये दोनों अल्लाह तआला के फ़रमान मिलकर जिस वास्तविकता को रौशनी में लाते हैं वह यह है कि जो 'बड़ाई' और 'सम्प्रभुता' अपने लिए होती है वह वास्तव में सरकशी और अत्याचारपूर्ण होती है, दुनिया को ख़राबियों से भर देती है और ईमानवाला इसके बारे में सोच भी नहीं सकता। लेकिन जो उच्चता और श्रेष्ठता इस्लाम के लिए होती है, वह सरापा भलाई और दयालुता होती है और मुसलमान उसका दिल से अभिलाषी होता है। स्पष्ट शब्दों में सम्प्रभुता व सत्ता की ये दोनों क़िस्में गुणवत्ता की दृष्टि से एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। अपनी आधार-भूत अवधारणाओं में भी भिन्न हैं और अपने परिणामों और निष्कर्ष की दृष्टि से भी भिन्न हैं। यद्यपि देखने में दोनों ही 'सम्प्रभुता' और दोनों 'इस्लाम के माननेवालों' ही के हाथों में होती हैं। किन्तु एक की हैसियत एक पवित्र धरोहर व अमानत और एक भारी उत्तदायित्व की है, जबकि दूसरे की हैसियत वैयक्तिक या सामूहिक सम्पत्ति और अमर्यादित सत्ताधिकार की है। जो लोग गहरी समझ नहीं रखते वे तो बाहरी रूप से धोखा खा सकते हैं, किन्तु जो लोग हालात पर गहरी नज़र रखते हैं और प्रखर बुद्धिवाले हैं, उनसे इतना बड़ा और आधारभूत अन्तर छिपा नहीं रह सकता। वे साफ़ महसूस कर लेंगे कि यद्यपि 'बाज़' और गिद्ध' दोनों की उड़ाने ज़ाहिर में एक ही 'वातावरण' में होती हैं, लेकिन दोनों की 'दुनिया' वस्तुतः एक नहीं होती।

शरीअत और इबादत

इबादत का महत्त्व और उसकी हैसियत

धर्म, अल्लाह तआला की बन्दगी के वैचारिक व व्यावहारिक या बाह्य व आध्यात्मिक नक़्शे का दूसरा नाम है। इसकी आवश्यकता और इसका उद्देश्य इसके सिवा और कुछ नहीं होता कि वह लोगों को अल्लाह तआला की इबादत का ढंग बताए। क्योंकि यही "बन्दगी और इबादत" वह चीज़ है, जो मानव-आत्मा को पवित्रता और उच्चता प्रदान करती है तथा उसे अल्लाह की ख़ुशी प्राप्त करने का इच्छुक बनाती है। इसके परिणामस्वरूप वह अल्लाह तआला की प्रसन्नता और अनुकम्पा प्राप्त करने का पात्र बन जाता है। यह वह अवधारणा है जो धर्म के सम्बन्ध में रखी जाती है, और बिलकुल ठीक रखी जाती है। क़ुरआन मजीद इसे एक पूरी तरह खुली हक़ीक़त ठहरा देता है और पूरे विस्तार के साथ कहता है कि किसी भी नबी का आह्वान इसके अतिरिक्त और कुछ था ही नहीं –

> "अल्लाह की इबादत करो और ताग़ूत (अल्लाह के प्रति उद्दण्डता की नीति अपनानेवाले) से दूर रहो।" (क़ुरआन, 16:36)

और ठीक-ठीक यही आह्वान था जो इस्लाम के अंतिम पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) ने भी किया था। सम्पूर्ण जगत् के पालनहार अल्लाह तआला ने नबी (सल्ल.) से जिन शब्दों में उसे पेश करने को कहा था वे भी यही थे –

> "लोगो। अपने पालनहार की इबादत करो।" (क़ुरआन, 2:21)

फिर इतना ही नहीं, क़ुरआन मजीद तो इससे भी ज़्यादा ख़ुलासा करता है, कहता है कि इनसान तो पैदा ही इसी काम के लिए किया गया है –

"(अल्लाह तआला फ़रमाता है कि) मैंने जिन्नों और इनसानों को सिर्फ़ इसलिए पैदा किया है कि वे मेरी 'इबादत' करें।" (क़ुरआन, 51:56)

यानी 'इबादत' ही वह प्रमुख कार्य है जिसके लिए इनसान को पैदा किया गया है और नबियों को नियुक्त किया गया है। स्पष्ट है कि ये दोनों बातें एक-दूसरे की पूरक हैं। जिस काम के लिए इनसानों को पैदा किया गया था, नबियों के आने का मक़सद भी वस्तुतः उसी की याददिहानी और शिक्षा व उपदेश के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता था।

इबादत का अर्थ

'इबादत' के इस गौरव और महत्त्व को सुनते ही मस्तिष्क में फ़ितरी तौर से यह प्रश्न उभरता है कि इस 'इबादत' में और इस्लाम में किस प्रकार का रिश्ता है जिसका पिछले पृष्ठों में उल्लेख किया जा चुका है। इस्लाम अपने पूरे और वास्तविक अर्थ की दृष्टि से तो बन्दगी और ज़िन्दगी की एक सार्वभौमिक व्यवस्था है, जो अक़ीदों से लेकर परस्तिश तक और परस्तिश से लेकर इनसान के सांसारिक जीवन के एक-एक विभाग तक, हर चीज़ को अपने घेरे में लिए हुए है और सभी के बारे में सुविस्तृत हिदायतें देता है। तो क्या इस पूरे हिदायत के संग्रह की और उसके एक-एक अंशों की पैरवी व अनुपालन को 'इबादत' कहा जाएगा? या उसके मात्र किसी विशिष्ट अंश या कुछ विशिष्ट अंगों ही के अनुपालन पर 'इबादत' के इस क़ुरआनी पारिभाषिक शब्द को चस्पाँ किया जा सकेगा? यह केवल एक दृष्टिकोण सम्बन्धी प्रश्न नहीं है, बल्कि एक अत्यन्त व्यावहारिक महत्ता और ज़रूरत का भी प्रश्न है, क्योंकि इसका इस्लामी शरीअत के आदेशों से सीधा और गहरा सम्बन्ध है और इसका जो उत्तर होगा, उसका उन आदेशों की पैरवी पर बड़ा असाधारण प्रभाव पड़ेगा। यदि शोध से स्पष्ट हो कि इस्लाम के निकट 'इबादत' का कोई सीमित अर्थ है, तो उसके केवल उन्हीं शरीअत के अंगों की पैरवी व अनुपालन, जो सीमित अर्थ के दायरे में दाख़िल होंगे, पवित्रता और आस्था के असल पात्र ठहरेंगे। और यदि वस्तुस्थिति दूसरी नज़र आई तो फिर यह अन्तर नहीं किया जा सकेगा और समझा जाएगा कि पूरी इस्लामी शरीअत की पैरवी इबादत है और उसके हर अंग का अनुपालन समान रूप से ध्यानपूर्वक, उत्साहपूर्ण और

भावनायुक्त किया जाना अनिवार्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि 'इबादत' के ठीक अर्थ का जानना स्वयं इस्लाम की ठीक-ठीक पैरवी के लिए भी बिलकुल ज़रूरी है। क्योंकि इस जानकारी और ज्ञान के बिना मानव अल्पाधिक और असन्तुलन का शिकार होने से कभी भी नहीं बच सकता। जिस चीज़ को वह 'इबादत' समझेगा, मनोवैज्ञानिक रूप से उसपर अपना ध्यान केन्द्रित किए रहेगा और जिसे इबादत का काम न समझेगा, उसे लाज़िमी तौर से पीछे डाले रहेगा।

'इबादत' का शब्द जब क़ुरआन और हदीस की ज़बान से अदा होता है तो उसका भाव क्या हुआ करता है और उसकी सीमाएँ कहाँ तक पहुँचती हैं? यह जानने के लिए हमें हर उस चीज़ पर नज़र डालनी चाहिए जो इस बारे में कोई महत्त्व रखती हो और इबादत का अर्थ निश्चित करने में प्रमाण का स्थान रखती हो ताकि इस अति महत्त्वपूर्ण धार्मिक प्रकरण के शोध का पूरा-पूरा हक़ अदा हो जाए और जो परिणाम निकले वह हर पहलू से सन्तोषजनक हो।

शब्दकोश की दृष्टि से 'इबादत' का अर्थ

इबादत का अर्थ – अन्तिम सीमा तक पस्त होने और बिछ जाने के हैं।
(मुफ़रदाते-इमाम राग़िब)

'इबादत' से अभिप्रेत आज्ञानुपालन है।

"उसने अल्लाह की इबादत की" के मानी हैं उसने अराधना (परस्तिश) एकाग्रचित होकर की। इसी प्रकार 'अब्द' ग़ुलाम को और 'तरीक़े मुअब्बद' उस रास्ते को कहते हैं जो आने-जाने की अधिकता से रौंदकर बिलकुल समतल और सरल मार्ग हो गया हो। (लिसानुल अरब)

बाह्य रूप में शब्दकोश वालों के बताए हुए 'इबादत' के ये अर्थ एक-दूसरे से भिन्न हैं, किन्तु वस्तुतः भिन्न नहीं हैं, बल्कि इनमें बड़ी गहरी घनिष्टता मौजूद है। 'इबादत' का मौलिक अर्थ तो वही है जो सबसे पहले अंकित किया गया है, यानी किसी के आगे पूरी तरह झुक जाना, पराभूत होकर रहना, बिछ जाना। लेकिन स्पष्ट है कि आख़िरी दर्जे का झुकाव

अनिवार्य रूप से पूर्ण आज्ञानुपालन का रूप अपना लेता है, इसलिए 'इबादत' का अर्थ यथार्थ रूप से 'आज्ञानुपालन' भी हुआ। फिर यदि वह हस्ती जिसके आगे इनसान अपने को पूरी तरह डाल देता और अंतिम सीमा तक अपने को पराभूत कर देता है, उसकी दृष्टि में कृपा और अनुग्रह की उपास्यात्मक शान भी रखती हो, तो यह झुकाव अनुग्रह-स्वीकारोक्ति करने के एहसास से रिक्त नहीं हो सकता। वह झुकाव जिसके अन्दर अनुग्रह स्वीकारोक्ति की आत्मा काम कर रही हो, अनिवार्य रूप से परस्तिश (उपासना) की शक्ल धारण कर लेता है। इसलिए फ़ितरी तौर पर 'इबादत' का अर्थ 'परस्तिश' भी हुआ।

इन शब्दकोशीय व्याख्याओं को यदि सामने रखा जाए तो 'इबादत' का धार्मिक और इस्लामी अर्थ बहुत कुछ इन्हीं से समझ में आ जाएगा। इनसे बड़ी सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है कि 'अल्लाह की इबादत' का असल जौहर क्या है ? और अल्लाह की इबादत करनेवाला कौन होता है और क्या होता है ? 'इबादत' का वास्तविक और मौलिक अर्थ यदि अंतिम दर्जे का झुकाव है तो इसके अर्थ अनिवार्यत: ये होंगे कि यही झुकाव 'अल्लाह की इबादत' का भी वास्तविक जौहर है। फिर चूँकि अल्लाह तआला इनसान का वास्तविक शासक भी है और उसका वास्तविक उपकारक भी है, इसी लिए बुद्धि मान नहीं सकती कि उसका यह झुकाव बस झुकाव बनकर रह जाएगा, आज्ञानुपालन की और फिर उपासना की शक्लें न अपनाएगा। यह बात कुछ ऐसी ही असम्भव है जैसे यह बात असम्भव है कि आग तो भड़क रही हो, लेकिन इससे गरमी न निकलती हो। अभिप्राय यह कि अल्लाह तआला के सामने इनसान के झुकाव का जो स्वाभाविक रूप हो सकता है, उसकी दोटूक माँग यही है कि अल्लाह की इबादत के अन्दर तीनों चीजें मौजूद हों – अन्तिम दर्जे का झुकाव भी, आज्ञानुपालन भी और परस्तिश (उपासना व अराधना) भी।

धार्मिक मान्यताओं की रौशनी में 'इबादत' का अर्थ

यह तो शब्द कोश के अनुसार 'इबादत' का अर्थ था। अब यह देखना चाहिए कि इस सम्बन्ध में धर्म क्या कहता है ? और धर्म की आधारभूत और

मान्य वास्तविकताओं की रौशनी में इबादत का भाव क्या दिखाई देता है ?

सभी पैग़म्बर (अलै.) इनसानों की हिदायत के लिए आए थे। उन महानुभावों ने आकर लोगों को जिस बात का उपदेश दिया वह, जैसा कि अभी मालूम हो चुका, स्पष्ट और दोटूक शब्दों में सिर्फ़ यह था कि "अल्लाह की इबादत करो", और यक़ीनन उनका उपदेश यही होना भी चाहिए था। इनसान तो पैदा ही अल्लाह की इबादत के लिए किया गया है। ऐसी स्थिति में उसकी हिदायत (मार्गदर्शन) के उद्देश्य से पैग़म्बर (अलै.) पर अवतरित किया जानेवाला ख़ुदा का पैग़ाम बौद्धिक रूप से इबादत के उपदेश के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता था।

जब वस्तुस्थिति यह है कि पैग़म्बरों का मिशन सिर्फ़ एक ख़ुदा की 'इबादत' का सन्देश देना और इनसानों को उसका 'आबिद' अर्थात् ख़ुदा का उपासक व दास बनाना था, तो इसका स्पष्टत: अर्थ यह है कि उन महान विभूतियों ने पैग़म्बर की हैसियत से जो कुछ भी बताया और सिखाया वह पूरे का पूरा 'इबादत' का काम था। उसका कोई एक शब्द और कोई अंश भी 'इबादत' के अतिरिक्त कुछ और न था। क्योंकि यह अनर्गल बात तो एक आम इनसान से भी आशा-विरुद्ध ही समझी जाएगी कि उसे मुक़र्रर तो एक निश्चित मिशन पर किया गया हो, लेकिन वह अपनी उस ड्यूटी पर रहते हुए कुछ असम्बन्धित काम भी करने लगे। फिर एक पैग़म्बर के बारे में इस तरह के किसी आचरण का गुमान कैसे किया जा सकता है ? पैग़म्बर तो वह होता है जो सिर से पाँव तक ख़ुदा के आज्ञानुपालन ही में होता है, जिसकी दृष्टि सदैव अपने पद के कर्त्तव्य ही पर जमी रहती है, जो अल्लाह के बन्दों को वही कुछ बताता और सिखाता है जिसका उसके पालनहार की ओर से आदेश दिया गया हो, या जिसकी उसे आज्ञा प्राप्त हो और वह अपनी ओर से एक शब्द भी नहीं बोलता। फिर यह किस प्रकार सम्भव है कि अपने पद की ज़िम्मेदारियों को पूरा करते हुए वह कुछ असम्बद्ध बातों से भी दिलचस्पी लेने लगे और लोगों को ऐसी बातों का भी उपदेश करता रहे जो उसके मिशन से कोई लगाव न रखती हों ? इसलिए मानना पड़ेगा कि पैग़म्बर दीन के मौलिक अक़ीदों और

कर्मों से लेकर सभ्यता व समाज के विस्तृत मसलों व मामलों तक के बारे में जो कुछ भी बताता और सिखाता है, वह किसी विभाजन या किसी बँटवारे के बिना सब-का-सब 'इबादत' ही का काम होता है। उन आदेशों का अनुपालन भी इबादत होता है जिनमें अल्लाह की परस्तिश (उपासना) का उपदेश दिया गया हो, और उन आदेशों का अनुपालन भी इबादत होता है जिनमें वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के मामलों के सम्बन्ध में नियम और क़ानून बताए गए हों। दूसरे शब्दों में यह कि पूरे धर्म और पूरी शरीअत की इत्तिबाअ (अनुपालन) ही वह 'इबादत' है जिसके लिए इनसान को पैदा किया गया और पैग़म्बरों को भेजा गया है। इस पूरे आदेश-समूह में से जितने अधिक आदेशों की इनसान ठीक तरह से पैरवी करेगा, उसकी इबादत उतनी ही पूर्ण होगी और जितनी ही यह पैरवी अधूरी होगी उसकी इबादत उतनी ही त्रुटिपूर्ण मानी जाएगी।

धर्म की आधारभूत वास्तविकताओं और उसके सर्वमान्य सिद्धान्तों की रौशनी में एक और दृष्टि से भी इबादत का यही अर्थ निश्चित होता है। क़ुरआन ने जिस प्रकार इनसान की पैदाइश का मक़सद सिर्फ़ अल्लाह की इबादत बताया है, स्वाभाविक बात थी कि उस तरह उसकी पैदाइशी हैसियत भी वह सिर्फ़ अल्लाह के 'अब्द' (ग़ुलाम, दास) होने को क़रार देता। अतएव उसके पृष्ठ-पृष्ठ पर इस बात को एक मान्य और स्पष्ट हक़ीक़त के तौर-पर दोहराया गया है कि इनसान की पहली और अंतिम हैसियत मात्र 'अब्द' होने की है। इसके अतिरिक्त वह किसी पहलू से भी कुछ और नहीं है। ग़ौर कीजिए कि 'अब्द' और ग़ुलाम का व्यावहारिक जीवन क्या होता है? एक व्यक्ति जब कोई ग़ुलाम ख़रीदता है तो वह उसका चौबीस घण्टे का ग़ुलाम होता है और वह अपने आक़ा (मालिक) के इशारों पर जो कुछ करता है वह सब-का-सब ग़ुलामी और 'अब्दियत' का काम कहलाता है, यद्यपि यह व्यक्ति उसका वास्तविक मालिक और हक़ीक़ी आक़ा नहीं होता और न वह उसका मुकम्मल अब्द (ग़ुलाम) होता है। क्योंकि वह उसकी जिस चीज़ को ख़रीदे हुए होता है वह उसकी सिर्फ़ कार्यशक्ति होती है। उसका पूरा

अस्तित्व उसके मूल्यधन में नहीं आता। लेकिन इनसान अल्लाह तआला का वह 'अब्द'और वह ग़ुलाम है जिसकी एक-एक चीज़ का वह हक़ीक़ी मालिक है और वह उसकी पूर्ण मिल्कियत और उसका पैदाइशी और हमेशा का ग़ुलाम है। और जहाँ तक एक मुस्लिम और ईमानवाले इनसान का सम्बन्ध है, वह तो उसका सिर्फ़ पैदाइशी ग़ुलाम ही नहीं, बल्कि इक़रारी ग़ुलाम भी है। क़ुरआन मजीद खुलकर कहता है कि –

> ''निस्सन्देह अल्लाह ने मोमिनों से उनकी जानें और उनके माल ख़रीद लिए हैं, इस बदले में कि उनको जन्नत मिलेगी।'' (क़ुरआन, 9:111)

इसलिए एक मुसलमान अल्लाह तआला का ऐसा 'अब्द' (ग़ुलाम) है जिसकी मात्र क्रियाकलाप की शक्ति ही नहीं, बल्कि जिसका सब कुछ अल्लाह ही का है। वह उसका पैदा किया हुआ भी है और उसका ''ख़रीदा हुआ'' भी है और यह 'क्रय-विक्रय' का मामला भी उस ग़ुलाम की आज़ाद मरज़ी से हुआ है। ऐसा जन्मजात ग़ुलाम और अपने पूरे अस्तित्व को विक्रय कर चुकनेवाला ऐसा पूर्णदास अपने स्वामी की अधीनता में जो कुछ करेगा, उसका कोई भी अंग उसकी दासता की हैसियत से अलग और असम्बद्ध नहीं हो सकता। जब ग़ुलामी और अब्दियत (दासता) के अतिरिक्त उसकी कोई हैसियत सिरे से है ही नहीं, तो अनिवार्यत: उसका एक-एक कर्म 'अब्दियत' और 'इबादत' ही का कर्म होगा। यहाँ तक कि यदि वह खाने और पीने, सोने और जागने के काम भी स्वामी की इच्छाओं को सामने रखते हुए करता है – जैसाकि उसे करना ही चाहिए – तो ये सारे काम भी बिलकुल 'इबादत' ही के काम होंगे।

कहने को तो यह उपरोक्त तर्क-वितर्क केवल एक अनुमान और एक ऐसा वैचारिक निष्कर्ष है जो कुछ प्रकरणों को तरतीब देकर और दीन (धर्म) की कुछ बुनियादी हक़ीक़तों को सामने रखकर निकाला गया है। लेकिन सत्य बात यह है कि ये तर्क-वितर्क सच्चे अनुमान पर आधारित होते हुए भी क़ुरआन और हदीस की प्रमाणित दलीलों से बस एक ही दर्जा कम है और उसे आसानी के साथ बहस के लिए भी चैलेंज नहीं किया जा सकता।

क़ुरआन में 'इबादत' शब्द का इस्तेमाल

अन्त में इस शब्द 'इबादत' के क़ुरआनी इस्तेमालों को लीजिए। क़ुरआन मजीद ने इस शब्द को जिन अर्थों में प्रयोग किया है, वही इसके वास्तविक अर्थ स्वीकार किए जाएँगे। इसके बाद फिर किसी सन्देह या दुविधा का स्थान भी शेष न रह जाएगा। इन प्रयोगों का जाइज़ा हमें उस फ़ैसले तक पहुँचा देगा। यक़ीनी तौर पर वही सबसे अधिक मज़बूत और सन्तोषजनक फ़ैसला होगा।

क़ुरआन मजीद के अन्दर इस शब्द को विविध शैलियों में अनगिनत अवसरों पर प्रयोग किया गया है। उनमें से कुछ चुनी हुई आयतों का क्रमबद्ध अध्ययन कीजिए –

(अ) "तुम लोग तो अल्लाह को छोड़ कर बस ऐसे कुछ (तथ्यहीन) नामों की 'इबादत' (पूजा) कर रहे हो जिनको तुमने और तुम्हारे बाप-दादा ने स्वयं ही रख लिया है।" (क़ुरआन, 12:40)

"उन्होंने कहा हम कुछ बुतों की 'इबादत' किया करते हैं और बराबर उनसे लगे बैठे रहते हैं।" (क़ुरआन, 26:71)

ये आयतें बताती हैं कि किसी की पूजापाठ करना और उससे दुआएँ माँगना, उसकी 'इबादत' करना है। क्योंकि बहुदेववादी अपने बुतों के साथ जो कुछ किया करते थे उसे इन आयतों में 'इबादत' कहा गया है और स्पष्ट है कि बहुदेववादियों का संबंध अपने बुतों से पूजा-पाठ और दुआ व प्रार्थना ही का हुआ करता था। इससे अधिक या इसके अतिरिक्त किसी और चीज़ का संबंध नहीं होता था।

(ब) "जो लोग 'तागूत' की 'इबादत' से दूर रहे और अल्लाह की ओर झुके उनके लिए शुभ-सूचना है।" (क़ुरआन, 39:17)

".............. वे, जिन पर अल्लाह की फिटकार पड़ी और उसका प्रकोप हुआ, और उनमें से कितनों ही को उसने बन्दर और सूअर बना दिया, और जिन्होंने कि तागूत (अल्लाह के विद्रोहियों) की इबादत की, वे लोग (तुमसे भी) निकृष्ट दर्जे के थे।" (क़ुरआन, 5:60)

इन आयतों से मालूम हुआ कि किसी को आराध्य व उपास्य मानकर अपने इरादे और अपनी मर्ज़ी से उसके आदेशों पर चलना उसकी 'इबादत' करना है। क्योंकि इन आयतों में उस कार्यशैली को इबादत कहा गया है जो ताग़ूत के साथ उसके अनुयायीगण अपनाते हैं। ताग़ूत के शाब्दिक अर्थ "सीमोल्लंघन करनेवाले" और "बड़ी उद्दण्डता दिखानेवाले" के हैं। क़ुरआन की भाषा में 'ताग़ूत' से अभिप्रेत प्रत्येक वह सृष्टि (रचना) होती है जो अल्लाह की बन्दगी से निकल गई हो, या निकल जाने का साधन बनी हो। इस प्रकार यदि शैतान और बुत 'ताग़ूत' हैं तो वे शासक वर्ग और सरदार और वे राजनेता और मज़हबी पेशवा भी 'ताग़ूत' ही हैं जो ख़ुदा के ख़ौफ़ से दूर और अल्लाह की हिदायत से बेनियाज़ होते हैं और अपना मत और अपनी मर्ज़ी ही को सामजिक क़ानून व विधान ठहराते व मनवाते हैं। ईश्वर के इन बाग़ियों के साथ उनके अनुयायियों का रवैया यह होता है कि वह उनको अपना पूज्य समझते हैं, उनको किसी प्रतिबन्ध व शर्त के बिना क़ानून बनाने, हुक्म चलाने और फ़ैसले करने के योग्य मानते हैं और पूरे हार्दिक भाव के साथ उनका आज्ञानुपालन व अनुसरण करते हैं। उनके इस व्यावहारिक आचरण को क़ुरआन ने अगर 'ताग़ूत' की 'इबादत' कहा है, तो यह इस बात का प्रमाण है कि उसके निकट वह आज्ञानुपालन (इताअत) भी 'इबादत' ही होती है जिसके पीछे इरादे की स्वतन्त्रता और हार्दिक प्रसन्नता मौजूद हो और जो किसी को स्वतन्त्र आज्ञानुपालन का पात्र समझकर किया जाए।

> (स) "................. तो (फ़िरऔनियों ने) कहा कि क्या हम अपने ही जैसे दो आदमियों की बात मान लें (और वह भी) इस स्थिति में कि उनकी क़ौम हमारी आबिद (आज्ञाधीन) है?" (क़ुरआन, 23:47)
>
> "(हज़रत मूसा अलै. ने वार्ता जारी रखते हुए फ़िरऔन से कहा) .... यह है तेरा वह उपकार जो तू मुझपर जता रहा है कि तूने बनी इसराईल को अपना अब्द (ग़ुलाम) बना रखा है।" (क़ुरआन, 26:22)

ये आयतें इस बात का सुबूत हैं कि केवल वही इताअत (आज्ञानुपालन) 'इबादत' नहीं होती जिसके पीछे नीयत, हार्दिक तत्परता और बिना अंकुश व शर्त आज्ञानुपालन का पात्र होने का विचार, तीनों ही चीज़ें मौजूद हों, बल्कि

इससे आगे बढ़कर वह आज्ञा अनुपालन भी 'इबादत' ही होती है जो यद्यपि अपनी इच्छा के विरुद्ध करनी पड़ रही हो, मगर विवेक और नीयत के साथ और बिना तर्क-वितर्क की जा रही हो, और जिसका आज्ञानुपालन किया जा रहा हो वह स्वयं को किसी उच्चतम क़ानून का पाबन्द न समझता हो – क्योंकि इन आयतों में बनी इसराईल की ग़ुलामी को क़िब्तियों की 'इबादत' करना कहा गया है। ज़ाहिर बात है कि बनी इसराईल यद्यपि अपनी ग़ुलामी की इस दर्दनाक हालत के ख़िलाफ़ दम नहीं मारते थे, लेकिन उसे बर्दाश्त भी ख़ुशी के साथ नहीं कर रहे थे, बल्कि यह केवल शासन-शक्ति का भय और अपनी विवशता थी, जिसके कारण वे चुपचाप फ़िरऔनी हुक्मों के जूए तले अपनी गर्दन दिए हुए थे। इससे मालूम हुआ कि किसी स्वतन्त्र शासन करने की दावेदार शक्ति का वह बिना तर्क-वितर्क आज्ञानुपालन भी उसकी 'इबादत' होती है जिसमें यद्यपि दिल की रज़ामन्दी न हो, मगर शुऊर व इरादा मौजूद हो।

> (द) "ऐ आदम की सन्तान! क्या हमने तुम्हें इस बात की ताकीद न की थी कि 'शैतान' की इबादत न करना। निस्सन्देह, वह तुम्हारा खुला हुआ शत्रु है।" (क़ुरआन, 36:60)
>
> "(इबराहीम ने कहा था) पिता जी! शैतान की इबादत न कीजिए।" (क़ुरआन, 19:44)

इन आयतों से 'इबादत' का एक और अर्थ या उसका एक और रूप भी मालूम हुआ। वह यह कि अनैच्छिक रूप से किसी की इच्छा की पैरवी और आदेश का पूरा करना भी 'इबादत' ही है। उक्त आयतों में शैतान की 'इबादत' करने की बात कही गई है। यद्यपि वे लोग जिनके सम्बन्ध में ऐसा कहा गया है, उन्होंने शैतान को कभी अपना माबूद (पूज्य) नहीं बनाया था। बात सिर्फ़ इतनी होगी कि उनके अक़ीदे और कर्म वैसे ही थे जैसा शैतान चाहता था। अन्यथा जहाँ तक ज़ाहिरी वस्तुस्थिति का सम्बन्ध है, उनमें से कोई भी शैतान को सजदा न करता था। कोई उससे दुआएं नहीं माँगता था, कोई उसको अपना स्वामी व आक़ा या रहनुमा स्वीकार नहीं करता था, कोई

उससे मुहब्बत और अक़ीदत (आस्था) नहीं रखता था। बल्कि सारी दुनिया की तरह वे भी उसे बुराई की साकार मूर्ति ही मानते थे और उनके पास भी उसके प्रति नफ़रत और लानत के अतिरिक्त और कुछ न था। इन समस्त तथ्यों के बावजूद अगर यह फ़रमाया गया है कि ये लोग शैतान की "इबादत" करते थे, तो यह इस वास्तविकता का खुला इज़हार है कि चाहे इत्तिबाअ और इताअत (आज्ञानुपालन और अनुसरण) की बिलकुल नीयत न हो, यहाँ तक कि अपने अक़ीदे और अमल के बारे में यह शुऊर क्या, गुमान भी न हो कि यह अमुक के आदेश और इच्छानुसार हों, लेकिन यदि वस्तुस्थिति यही हो तो यह बग़ैर सोचे समझे और बग़ैर इरादे के किए जानेवाला आज्ञानुपालन भी क़ुरआन के निकट 'इबादत' ही है।

'इबादत' से सम्बन्धित क़ुरआन के इन चारों प्रयोगों में से किसी एक के सम्बन्ध में भी यह कहना सही न होगा कि इसमें लक्षणात्क वर्णनशैली अपनाई गई है। क्योंकि यह एक ऐसा दावा होगा जिसके पक्ष में कोई दलील नहीं दी जा सकती, न तो शब्दकोश से, न क़ुरआन से, न सही हदीसों से। ऐसा दावा अगर किया जा सकता था तो उसी समय किया जा सकता था जब क़ुरआन मजीद की उन अनगिनत आयतों में से जिनके अन्दर 'इबादत' का शब्द प्रयोग किया गया है, किसी एक से भी यह अभिप्राय निकलता होता कि 'इबादत' केवल परस्तिश (उपासना) का नाम है परस्तिश के कामों के अलावा और कोई काम इबादत नहीं होता। किन्तु क़ुरआन के अन्दर किसी ऐसी आयत का पाया जाना दुर्लभ है। हाँ, इसमें ऐसी आयतें बहुत मिलेंगी जिनमें 'इबादत' का शब्द बोलकर केवल परस्तिश के अर्थ-अभिप्राय लिए गए हैं (जिसके कुछ उदाहरण भी ऊपर आ चुके हैं), लेकिन बड़ा अन्तर है इस बात में कि इबादत के अर्थ केवल परस्तिश व अराधना के हैं और इस बात में कि 'इबादत' के मानी परस्तिश के भी हैं।

शब्द 'इबादत' का जो शब्दकोशीय विवेचन ऊपर गुज़र चुका है, उसको अगर सामने रखें तो महसूस होगा कि 'इबादत' की ये चारों शक्लें जो क़ुरआन के अध्ययन से अभी मालूम हुईं, इबादत के चार स्थाई और पारस्परिक असम्बद्ध अर्थ नहीं हैं, बल्कि वस्तुतः एक ही सटीक अर्थ व भाव के चार

भिन्न पहलू या भिन्न अंग है। परस्तिश भी इबादत है और जानते-बूझते या अनजाने इताअत (आज्ञानुपालन) भी इबादत है। इबादत के अतिरिक्त कुछ और न यह है, न वह है। लेकिन इनमें से कोई भी स्वयं में पूर्ण इबादत नहीं है। अगर इनमें से कोई चीज़ भी अकेली पूर्ण इबादत होती तो फिर दूसरी को इबादत कहने की कोई गुंजाइश और जायज़ होने का कारण शेष न रह जाता। लेकिन हम देख रहे हैं कि क़ुरआन मजीद ने अगर परस्तिश को इबादत कहा है, तो साथ ही आज्ञानुपालन (इताअत) की उपरोक्त तीनों शक्लों को भी 'इबादत' ही कहा गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसके निकट इबादत का भाव पूरा उसी समय होता है जब परस्तिश और आज्ञानुपालन – दोनों चीज़ें इकट्ठी हो जाएँ।

बहस व तहक़ीक़ के तीनों पहलू हमारे सामने आ चुके – (1) शब्दकोश के अनुसार भी, (2) धार्मिक मान्यताओं की अपेक्षाओं का भी, और (3) क़ुरआनी प्रयोगों का भी। तीनों इस बात पर एक मत हैं कि – इबादत एक बहुअर्थी पारिभाषिक शब्द है, जो परस्तिश और इताअत (आज्ञानुपालन) दोनों को पूरी तरह समोए हुए है। इसकी व्यापकता वहाँ से पहले ख़त्म नहीं होती जहाँ पहुँचकर शरीअत के अर्थ और आदेश ख़त्म होते हैं।

वह इबादत जो क़ुरआन को अभीष्ट है

अल्लाह तआला ने अपनी जिस इबादत को इनसान के अस्तित्व का कारण बताया है और जिस के उपदेश व हिदायत के लिए उसके रसूल आते रहे हैं, वह कोई अधूरी और आधी तिहाई प्रकार की इबादत नहीं है, और न हो सकती थी। वह न केवल परस्तिश तक सीमित है और न केवल इताअत तक सीमित है। यही बुद्धि की भी स्पष्ट माँग है और यही क़ुरआन का भी स्पष्ट फ़ैसला है। बुद्धि की स्पष्ट माँग यह इसलिए है कि जो ख़ुदा इनसान का स्रष्टा और स्वामी, अन्नदाता और उपकारी शासक और उपास्य (माबूद) सभी कुछ है, उसे सभी प्रकार की 'इबादतों' का हक़दार भी होना चाहिए। क़ुरआन का फ़ैसला यह इस तरह है कि उसकी आयतें इस्लाम के अनुयायियों से अल्लाह तआला की परस्तिश और उसकी इताअत (आज्ञानुपालन) दोनों ही

बातों का समान रूप से मुतालबा करती देखी जा रही हैं। वे जहाँ यह कहती हैं कि अल्लाह ही को सजदा करो, उसी के नाम की पाकी बयान करो, उसी से दुआएँ माँगो, उसी की बड़ाई की उद्घोषणा करो, उसी को मदद के लिए पुकारो और उसी के सामने नेमत पाने का कृतज्ञता- ज्ञापन करो, वहीं यह भी कहती हैं और बार-बार कहती हैं कि – अल्लाह ही को बिना शर्त प्रतिबन्ध के आज्ञानुपालन का पात्र और वास्तविक शासक तथा हाकिम मानो, उसी को शाश्वत क़ानून निर्माता स्वीकार करो, उसी के आदेशों की पैरवी करो, उसी के दिए हुए क़ानूनों के मुताबिक़ फ़ैसले करो, उसी के प्रदत्त सिद्धांत को जीवन का सिद्धांत बनाओ और उसी के ठहराए हुए वैध को वैध और उसी के ठहराए हुए अवैध को अवैध समझो। इसलिए उस 'इबादत' का अर्थ जिसे इनसान की पैदाइश का उद्देश्य और लक्ष्य कहा गया है, जो हर नबी के आह्वान का मूल उद्देश्य रहा है और जिसका क़ुरआन ने हमें आदेश दिया है, अनिवार्यत: वही व्यापक और पूर्ण अर्थ होगा जिसमें परस्तिश और इताअत दोनों चीज़ें सम्मिलत हों।

इस सम्बन्ध में और इत्मीनान के लिए एक और पहलू से ग़ौर कर लीजिए। क़ुरआन मजीद इनसान के पैदा किए जाने का उद्देश्य एक जगह इन शब्दों में भी बयान करता है –

> " अल्लाह ने मौत और ज़िंदगी का सिलसिला इसलिए जारी किया है ताकि तुम्हें आज़माकर देखे कि तुममें से कौन लोग कर्म की दृष्टि से बेहतर हैं।"
>
> (क़ुरआन, 67:2)

एक और स्थान पर इस तरह फ़रमाता है –

> "..... याद करो उस समय को जब तुम्हारे 'रब' ने फ़रिश्तों से कहा था कि मैं पृथ्वी पर अपना एक नायब (प्रतिनिधि) पैदा करनेवाला हूँ।"
>
> (क़ुरआन, 2:30)

इन दोनों आयतों से मालूम हुआ कि इनसान के जन्मदाता ने उसके पैदा करने का उद्देश्य व ग़रज़ बताने के लिए जहाँ 'इबादत' का पर्याय अपनाया है वहीं 'अच्छे कर्म' और 'नायब होने' के पर्याय भी अपनाए हैं। इसका अर्थ यह

हुआ कि मानो अलग-अलग शब्द हैं, किन्तु उनका उद्देश्य और मन्तव्य अलग-अलग नहीं है, बल्कि एक ही चीज़ है जिसकी अभिव्यक्ति और वर्णन के लिए अवसर की अनुकूलतानुसार तीन भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है। दूसरे शब्दों में यह कि क़ुरआन के निकट अल्लाह की इबादत, कर्म की बेहतरी, ख़िलाफ़त व नियाबत (प्रतिनिधित्व तथा स्थानापन्न) वास्तव में एक ही मुद्दे के विविध पक्ष हैं। इसलिए 'इबादत' का कोई ऐसा अर्थ नहीं लिया जा सकता, जिससे श्रेष्ठ कर्म और 'ख़िलाफ़ल व नियाबत' की अवधारणाएँ पूरी तरह मेल न खाती हों, बल्कि इसका वही भाव लिया जाना ज़रूरी है जिसके अन्दर इन दोनों अवधारणाओं की आत्मा भी अनिवार्यत: मौजूद है। खुली हुई बात है कि 'अच्छा और उत्तम कर्म' केवल अराधना व परस्तिश को या केवल आज्ञानुपालन को नहीं कहा जा सकता। यही स्थिति 'ख़िलाफ़त व नियाबत' की भी है। यद्यपि इसका ऊपरी भाव परस्तिश के मुक़ाबिले में आज्ञानुपालन से अधिक निकट है, लेकिन परस्तिश भी इसके अर्थ से किसी स्थिति में विलग नहीं है। इस प्रकार इन दोनों पर्यायों से यह वास्तविकता और खुलकर सामने आ जाती है कि इस्लाम में अल्लाह की इबादत का जो अर्थ है वह परस्तिश और आज्ञानुपालन दोनों पर प्रभावी है और शरीअत का कोई बिन्दु भी ऐसा नहीं जो उसके घेरे से बाहर हो।

इस्लाम के महान विद्वानों पर यह वास्तविकता छिपी न थी और न छिपी रह सकती थी। शैख़ुल इस्लाम इब्ने-तैमिया (रह.) से जब पूछा गया कि आयत – "ऐ लोगो! अपने रब की इबादत करो" में जिस 'इबादत' का आदेश दिया गया है, उसका भाव व अर्थ क्या है? तो आपने इस मसले पर एक सविस्तार भाषण देते हुए कहा कि –

> "इबादत एक व्यापक शब्द है। इसके अन्दर वे समस्त भौतिक और आध्यात्मिक कर्म और कथन सम्मिलित हैं जो अल्लाह तआला को प्रिय हैं, और जो उसकी प्रसन्नता का साधन बनते हैं। उदाहरणार्थ – नमाज़, ज़कात, रोज़ा, हज, सच बोलना, अमानतदारी, परिवारजनों पर अनुग्रह व कृपा, सत्यनिष्ठता, माता-पिता का आज्ञानुपालन, वचन पूरा करना, भलाई का आदेश करना, बुराई से रोकना, अल्लाह की राह में जीतोड़

संघर्ष करना, पड़ोसियों और यतीमों और निर्धनों व मोहताजों और ग़ुलामों व सेवकों के साथ – चाहे ये सेवक मानव हों या जानवर – अच्छा सुलूक, दुआ, अल्लाह का ज़िक्र, क़ुरआन की तिलावत और इसी प्रकार के समस्त भले काम 'इबादत' के अंग हैं। इसी प्रकार अल्लाह की और उसके रसूल की मुहब्बत, अल्लाह की कृपालुता व रहमत की उम्मीद और अल्लाह के अज़ाब का डर और भय, धरोहर, निष्ठा, धैर्य, कृतज्ञता, (अल्लाह पर) भरोसा और (उसके निर्णय को) स्वीकार करना और उसपर राज़ी रहना आदि समस्त अच्छे गुण इबादत के अन्दर सम्मिलित हैं।

(अल-अबूदिया)

आगे चलकर एक स्थान पर फिर फ़रमाते हैं—

इन स्पष्ट आदेशों से जहाँ एक ओर यह सच्चाई प्रकाश में आती है कि इबादत किसी सृष्टि की श्रेष्ठता व सम्मान और उसके सौभाग्य की पराकष्ठा है, वहाँ दूसरी ओर यह बात भी खुल जाती है कि धर्म अपने समस्त अंगों के साथ इबादत में शामिल है। समस्त पैग़म्बर अल्लाह का धर्म (दीन) सिखाने आए थे, जैसा कि क़ुरआन में कई जगह इसकी व्याख्या मौजूद है और फिर प्रत्येक नबी (अलै.) ने अपने सम्बोधित लोगों को "उसकी (ख़ुदा की) इबादत करो" का उपदेश दिया। इससे मालूम हुआ कि 'धर्म' और 'इबादत' एक ही मन्तव्य के दो भाव हैं।" (अल-अबूदिया)

ये व्याख्याएँ इस सम्बन्ध में कोई सन्देह शेष नहीं रहने देतीं कि इबादत पूरे 'दीन' (धर्म) की पैरवी का नाम है। धर्म के किसी अंग के बारे में चाहे वह परस्तिश (उपासना) के प्रकार का हो, चाहे आज्ञानुपालन के प्रकार का – यह नहीं कहा जा सकता कि वह इबादत का नाम नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि इबादत का फ़र्ज़, शरीअत के एक-एक आदेश को पूरा करने के बाद ही अदा हो सकता है। यह एक ऐसी इकाई है जिसे हम विभाजित नहीं कर सकते। ठीक उसी तरह जिस तरह कि मानवीय अस्तित्व एक पूर्ण एकत्व है, जिसे भिन्न अस्तित्वों में विभाजित नहीं किया जा सकता।

इस्लाम के स्तम्भों (अरकान) का विशिष्ट महत्त्व

जिस प्रकार मानवीय शरीर एक पूर्ण एकत्व होते हुए भी दिल और दिमाग़, हाथ और पाँव, नाक और कान आदि भिन्न अंगों पर व्याप्त है और इन समस्त अंगों का महत्त्व हर पहलू से एक समान नहीं है; इसी प्रकार इबादत भी अगणित अंगों पर व्याप्त है और इन सबका महत्त्व और आदर-मूल्य हर पहलू से एक समान नहीं है। यहाँ तक कि इनमें कुछ ऐसे भी हैं जो शेष सभी अंगों की तुलना में विशिष्ट और श्रेष्ठ महत्व रखते हैं, कुछ वैसा ही विशिष्ट और श्रेष्ठ महत्व जैसा कि दिल और दिमाग़ आदि सर्वश्रेष्ठ अंगों को शरीर के शेष हिस्सों के मुक़ाबले में हासिल है। इबादत के ये विशेष अंग वही हैं, जिनको इस्लाम के व्यावहारिक अंग (अरकान) कहा जाता है। – अर्थात् नमाज़, रोज़ा, हज और ज़कात। इन कर्मों को जिन कारणों से यह सर्वश्रेष्ठ महत्त्व प्राप्त है वे ये हैं :–

(1) ये पूरे-के-पूरे तअल्लुक़-बिल्लाह अर्थात् अल्लाह से लगाव पैदा करनेवाले होते हैं। उनमें से अधिकांश का सम्बन्ध ज़ाहिर में भी सबसे अधिक केवल वास्तविक उपास्य (अर्थात् अल्लाह) से रहता है। इस लगाव और सम्बन्ध में किसी और के ज़िक्र या विचार का किसी ओर से भी कोई समावेश नहीं होता। इन कर्मों के पूरा होते समय एक ओर इनसान होता है, दूसरी ओर उसका अल्लाह होता है। जबकि दूसरे धार्मिक कर्मों की स्थिति इस प्रकार की यकसूई की नहीं होती। यद्यपि वे भी अल्लाह ही के आदेश की पैरवी में और उसी की प्रसन्नता के लिए होते हैं, लेकिन उनके पूरा करने के समय सृष्टि का ज़िक्र और विचार भी अनिवार्यत: मौजूद होता है और उसके बिना वे पूर्ण हो ही नहीं सकते। जब इनसान नमाज़ पढ़ता है तो उसका सम्बन्ध सीधे अपने ख़ुदा से होता है, किन्तु जब वह अदालत की कुर्सी पर बैठकर शरीअत के क़ानून के मुताबिक़ फ़ैसले कर रहा होता है तो वस्तुस्थिति ऐसी नहीं होती। ऐसा नहीं होता कि वह अपने 'रब' के साथ सीधे और पूरी यकसूई के साथ व्यस्त हो, बीच में किसी और का ज़िक्र व ख़याल मौजूद न हो। बल्कि

होता यह है कि उसका ज़ेहन अगर एक ओर शरीअत के हुक्म को पूरा करने और अल्लाह की प्रसन्नता की आकांक्षा पर केंद्रित होता है, तो दूसरी ओर मुक़द्दमे से सम्बन्ध रखनेवाले लोगों के साथ भी व्यस्त रहता है और जहाँ तक उसकी ज़बान, उसके कान और उसकी आँखों का सम्बन्ध है तो ये तो केवल उन्हीं लोगों में व्यस्त रहती है।

(2) इन कर्मों का स्वरूप भी 'इबादत' ही की अवधारणा के साथ विशिष्ट है। वे जिस रूप में पूरे किए जाते हैं उसपर इबादत की वास्तविकता की गहरी छाप पड़ी होती है। उनके देखते ही ज़ेहन आप से आप इस विश्वास की ओर दौड़ पड़ता है कि यह इबादत का काम है, यह गुमान बिलकुल नहीं होता कि यह कोई और काम है। लेकिन दूसरे कर्मों का मामला ऐसा नहीं है। उनके बाह्यरूप पर इबादत की अवधारणा की कोई छाप नहीं होती और उन्हें देखने के बाद तुरन्त ही ज़ेहन आप से आप इस तरफ़ शायद ही जा पाता हो कि यह 'इबादत' का काम है।

(3) मानव के अन्दर ख़ुदा की दासता की आत्मा और बन्दगी का शौक़ पैदा करने में इन कर्मों का विशिष्ट स्थान है, जो दूसरे धार्मिक कर्मों को प्राप्त नहीं। यद्यपि यह प्रत्येक शुभ कर्म और हर इबादत के कर्मों की विशेषता होती है कि इससे मानवीय मन में पवित्रता आती है, बन्दगी की भावना ताज़ा हो जाती है और अल्लाह से सम्बन्ध बढ़ जाता है। किन्तु जहाँ तक आम हालात का सम्बन्ध है, जितनी मात्रा में, जितनी आसानी के साथ और जिस सीधे तरीक़े पर यह दिल की दौलत उन विशिष्ट कर्मों से मिला करती है, किसी और कर्म से नहीं मिलती। अधिक सही बात यह है कि उन कर्मों के यानी उन ख़ास इबादतों के बिना इनसान में वह आत्मिक शक्ति पैदा ही नहीं हो सकती जो पूरी इबादत के पूरे कर्त्तव्य को निभा पाने के लिए अनिवार्य है। यही कारण है कि उन्हें अनिवार्य कर्त्तव्य यानी फ़र्ज़े-ऐन ठहराया गया है और नियमों व सिद्धान्तों के पूर्ण स्पष्टीकरण के साथ ठहराया गया है; ताकि कोई व्यक्ति आध्यात्मिक शक्ति के उन स्रोतों से कभी असावधान हो जाने के ख़तरे में न फँसा रहे जिनसे ऊर्जा प्राप्त किए बिना वह पूरी इबादत के किसी अंग पर भी

अमल नहीं कर सकता। मतलब यह कि विशिष्ट कर्म भी यद्यपि 'इबादत' ही के अंग हैं, मगर ऐसे असाधारण अंग हैं जो स्वयं में महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ दूसरे सभी अंगों को पूरा करने के लिए भी अनिवार्य हैं।

इन विशेषताओं को अगर दृष्टि में रखकर ग़ौर किया जाए तो साफ़ महसूस होगा कि शरीअत के इन चारों आदेशों या इस्लाम के अंगों (अरकान) को 'इबादत' क़ी परिभाषा के साथ एक विशिष्ट सम्बन्ध प्राप्त है और ये विशिष्ट सम्बन्ध उन्हें इस बात की विशिष्ट पात्रता प्रदान करता है कि उनपर यह परिभाषा सर्वप्रथम चरितार्थ हो। जब यह शब्द कानों में पड़े तो ज़ेहन सबसे पहले उन्हीं की ओर स्थानांतरित हो। यहाँ तक कि जब इन चारों कर्मों की विशिष्ट महत्ता स्पष्ट करनी हो, तो उन्हीं को पूर्ण इबादत का नाम भी दे दिया जाए और इबादत का शब्द बोलकर केवल यही कर्म मुराद ले लिए जाएँ। चुनांचे ऐसा वस्तुतः किया भी गया है। फिर यह कोई ग़लत और ज्ञानरहित व्याख्या-शैली नहीं, बल्कि नाम और उपनाम की जानी पहचानी शैली के ठीक अनुकूल है। यही शैली है जिसके अनुसार सारे आसमानी मज़हबों के वास्तव में 'इस्लाम' ही होने के बावजूद 'इस्लाम' नाम केवल आख़िरी धर्म (मज़हब) का रखा गया है। इसी तरीक़े से यहाँ भी काम लेते हुए सिर्फ़ उन्हीं चार कर्मों (आमाल) को इबादत का नाम दिया गया है। अर्थात् यद्यपि प्रत्येक शरीअत के आदेशों की पैरवी वास्तव में इबादत ही का काम है लेकिन नमाज़, रोज़े और हज व ज़कात के मर्तबे व मक़ाम की असाधारण श्रेष्ठता के कारण 'इबादत' का शब्द केवल उन्हीं चार कर्मों के लिए विशिष्ट करके भी बोला गया है, जिसका मंशा केवल यह है और यही होना चाहिए कि इस तरह 'इबादत' की समष्टि व्यवस्था में इन कर्मों की श्रेष्ठतम शान और विशिष्ट महत्त्व को नुमायाँ रखा जाए। यह मंशा हरगिज़ नहीं है और न हो सकता है कि इबादत के काम केवल यही हैं और बाक़ी सारा दीन (धर्म) इबादत की अवधारणा से रिक्त है।

ग़लत अवधारणाएँ और उसके कारण

'इबादत' के वास्तविक अर्थ और सटीक भाव के सम्बन्ध में बुद्धि की स्पष्ट अपेक्षा अल्लाह के कलाम की खुली गवाही और सूक्ष्मदर्शी विद्वानों (साहिबे नज़र) उलमा की सत्यपरक खोज तो यह है जो ऊपर की बहसों में आपके सामने आई। मगर दूसरी ओर आम तौर से यह विचार फैला हुआ है कि 'इबादत' केवल परस्तिश (उपासना) का नाम है। नमाज़, रोज़ा आदि कुछ जानी पहचानी 'इबादतों' के अतिरिक्त धर्म में और जो कुछ है वह इबादत नहीं है। शरीअत के आदेशों के बहुत से विभाग हैं। उनमें से केवल एक विभाग इबादत का है। पूरी शरीअत और उसके समस्त विभाग इबादत नहीं हैं। यह विचार आम जनता ही के नहीं, कितने ही ख़ास लोगों तक के ज़ेहनों में भी घर किए हुए है। इसके कतिपय बड़े दूरस्थ परिणाम भी सामने आए हैं; इसलिए इसे नज़रअन्दाज़ करके आगे बढ़ जाना सही न होगा। अनिवार्य है कि इसके कारण मालूम किए जाएँ। पता चलाया जाए कि ऐसे स्पष्ट तर्कों के होते हुए आख़िर ये ग़लत अवधारणाएँ कहाँ से पैदा हुईं और दिन के उजाले में इतनी बड़ी ठोकर कैसे लगी ? –– ताकि इसकी 'वास्तविकता' का सही अनुमान हो जाए और ज़ेहन इस बात पर पूरी तरह सन्तुष्ट हो सके कि यह बहरहाल एक रद्द करने योग्य विचार है।

जहाँ तक अनुमान की बात है, इस भ्रांति के कारण वैचारिक से अधिक मनोवैज्ञानिक हैं और वे दो हैं :

(1) एक तो यह कि इस्लाम से बाहर के लगभग समस्त धार्मिक जगत् में इबादत की यही सीमित धारणा प्रचलित है। वहाँ इबादत और पूजा-पाठ दोनों को बिलकुल समानार्थक समझा जाता है, और कितने ही धर्म तो ऐसे हैं जो उपासना-स्थलों से बाहर झाँकना भी इबादत और दीनदारी (धार्मिकता) की शान के विरुद्ध समझते हैं। जो धारणा पूरब और-पश्चिम, हर ओर फैली हुई और दूर व निकट के सारे वातावरण में छाई हुई हो, फ़ितरी तौर पर उसमें वशीकरण की असाधारण शक्ति आ जाती है और उससे उन ज़ेहनों का भी सुरक्षित रहना कुछ आसान नहीं रह

जाता, जिन्हें उसे अनिवार्य रूप से ग़लत समझना चाहिए। विशेषकर ऐसे समय यह ख़तरा और ज़्यादा हो जाता है जब यह ज़ेहन वैचारिक गिरावट की धार में आ चुके हों। क्योंकि उस समय उनके अपने विचारों व कल्पनाओं में इतनी शक्ति शेष नहीं रह जाती कि वे दूसरे विचारों का कोई प्रभाव स्वीकार न करें। स्वयं इस्लामिक इतिहास इस बात की एक-दो नहीं बीसियों मिसालें पेश कर सकता है। इस्लाम जब तक चिंतन व व्यवहार के श्रेत्र में एक प्रभावी व्यवस्था की हैसियत से छाया हुआ था और उसके अन्दर अग्रसरता की आत्मा दौड़ रही थी, उस समय तक ग़ैर इस्लामी दृष्टिकोण और मतों की ज़मीन अत्यन्त तंग थी, वे इस्लामी धारणाओं से क्या आखें मिलाते। लेकिन जब यह वस्तुस्थिति शेष न रह गई तो मुसलमानों के ज़ेहन भी धीरे-धीरे विवेक शक्ति को खो बैठे और भौतिक विचारों के लिए उन्होंने अपने द्वार खोल दिए। अब तो स्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी है कि अनगिनत ग़ैरइस्लामी दृष्टिकोण व विचार विशुद्ध इस्लाम बने हुए हैं और धर्म की अति महत्त्वपूर्ण परिभाषाओं तक का भी, अर्थ की दृष्टि से, सम्मान बेदाग़ नहीं रह गया है। शब्द निस्सन्देह वही हैं जो अल्लाह और रसूल (सल्ल.) से मिले थे, लेकिन उनके अर्थ ठीक-ठीक वही नहीं रह गए, जो बताए गए थे। ऐसी स्थिति में प्रभावी गुमान यही है कि 'इबादत' की इस्लामी परिभाषा पर भी वैचारिक गिरावट का यही अमल जारी हो गया और उसका वही सीमित भाव, जो दूसरे लोगों में प्रचलित था, धीरे-धीरे मुसलमानों ने भी स्वीकार कर लिया।

(2) दूसरा कारण यह है कि नमाज़ आदि इबादत की ख़ुसूसी शान देखकर निगाहें चकाचौंध हो गईं। उन कर्मों की जो सर्वश्रेष्ठ विशेषताएँ ऊपर बयान की जा चुकी हैं, मानना पड़ेगा कि उनके अन्दर ऐसा हृदयाकर्षण है, जो ज़ेहनों को यथार्थ विचारों से सरलतापूर्वक हटा ले सकता है। इबादत के कुछ कर्म अगर ऐसे हों कि उनका बाह्य और अन्तर दोनों ही कुछ विशिष्ट सर्वश्रेष्ठ गुणों से सुसज्जित हों, अगर वे अब्द (दास) और माबूद (पूज्य) का सीधा सम्बन्ध प्रकट कर रहे हों, अगर बन्दगी का शौक़ और ईमान की रूह जगाने में वे अपनी मिसाल न रखते हों और

अगर उनकी सूरत भी पूरी इबादत के रंग में रंगी हुई हो– तो मनोवैज्ञानिक रूप से बिलकुल सम्भव है कि कुछ लोग केवल उन्हीं को इबादत मान बैठें, यहाँ तक कि अगर इस्लाम की इबादत की सटीक अवधारणा ज़ेहनों में अच्छी तरह बैठी हुई न हो तो केवल इन्हीं कुछ कर्मों को इबादत के कर्म समझ लेना और दूसरे समस्त शरीअत के कर्मों को इबादत की सीमाओं से बाहर विचार कर बैठना न केवल सम्भव है, बल्कि व्यावहारिक रूप में शायद केवल यही सम्भव है।

ज़ाहिर में यही दो ख़ास कारण हैं जिन्होंने इस ग़लत धारणा को जन्म दिया है, वरना वस्तुतः कोई बौद्धिक या लिखित प्रमाण ऐसा नहीं जो इस दृष्टिकोण के पक्ष में प्रस्तुत किया जा सकता हो।

मुस्लिम समुदाय की ज़िम्मेदारियाँ

इस्लाम की ख़ास हैसियत की ख़ास माँग

इस्लाम के सामान्य और अनिवार्य परिचय की वार्ता अब प्रकट रूप में पूर्ण हो जाती है। किन्तु स्वयं इस परिचय ने एक ऐसी महत्त्वपूर्ण समस्या उत्पन्न कर दी है, जिसका स्पष्टीकरण ज़रूरी है और जिसका समाधान मालूम होना भी ज़रूरी है। यह समस्या इस्लाम की उस विशिष्ट और श्रेष्ठ हैसियत से सम्बन्ध रखती है जो उसे दूसरे समस्त धर्मों की तुलना में प्राप्त है। अर्थात् यह कि केवल वही हर हैसियत से पूर्ण धर्म है, समस्त इनसानों के लिए है, अंतिम धर्म है और मुक्ति तथा नजात के लिए ज़रूरी है कि इसी की पैरवी की जाए। बुद्धि कहती है कि इस्लाम को अगर यह विशेषता प्राप्त है तो इस विशेषता की एक ख़ास ज़रूरी माँग भी होगी और वह यह कि उसे संसार के कोने-कोने तक पहुँचना चाहिए और अनवरत रूप से पहुँचते रहना चाहिए। क़ौम-क़ौम के सामने उसका ख़ुलासा व स्पष्टीकरण होना चाहिए और निरन्तर होता रहना चाहिए। जन-जन को इसका सन्देश दिया जाना चाहिए और लगातार दिया जाता रहना चाहिए। अन्यथा संसार उसे जान-पहचान न सकेगा और जब जान ही न सकेगा तो उसपर ईमान किस प्रकार ला सकेगा, जबकि इसपर ईमान लाना उसके लिए ज़रूरी ठहराया गया है, और अगर वह ईमान नहीं लाता तो यह उसके लिए बड़े दुर्भाग्य की बात होगी। यह तो कोई न्याय की बात न होगी कि अनगिनत लोगों के लिए उनके मालिक की भेजी हुई हिदायत एक रहस्य बनी रहे और उन्हें बेख़बरी में पकड़ लिया जाए। इसलिए अगर सर्वसाधारण मानवता का यह अनिवार्य कर्त्तव्य है कि वह इस्लाम ही की पैरवी करे, तो इस अनिवार्य कर्त्तव्य से पूर्व उसका यह हक़ है कि उसे इस दीन से अवगत कराया जाए। यदि ऐसा नहीं होता तो यह स्वयं इस्लाम पर भी अत्याचार व ज़ुल्म है। क्योंकि इस प्रकार वह बड़ी हद तक निरर्थक बनकर रह जाएगा। इस्लाम से

अवगत न कराना मानवता पर भी अत्याचार है, क्योंकि इस तरह वह इस नेमत से अनिवार्यतः वंचित रह जाएगी, जिसपर उसकी मोक्ष और कल्याण निर्भर है। जब तक इस्लाम का लानेवाला रसूल दुनिया में मौजूद था, निस्सन्देह उसने बड़े ही अच्छे तरीक़े से मानवता का यह 'हक़' अदा किया लेकिन उसके चले जाने के बाद भी तो यह हक़ अपने अदा किए जाने की माँग कर रहा है, और क़ियामत तक करता रहेगा। अब तो कोई नबी भी आनेवाला नहीं कि यह 'हक़' उसकी प्रतिक्षा करे।

यदि इस्लाम की इस ख़ास हैसियत की इस लाज़िमी माँग का किसी प्रकार इनकार नहीं किया जा सकता और यक़ीनन नहीं किया जा सकता तो ज़रूरी है कि वह माँग पूरी हो, चाहे उसका पूरा होना कितना ही मुशकिल काम क्यों न हो। इसकी कोई प्रभावकारी और सुदृढ़ व्यावहारिक व्यवस्था निश्चित रूप से होनी चाहिए, और इतनां ही नहीं बल्कि इसका निर्धारण इस्लाम की अपनी ज़बान से होना चाहिए। क्योंकि जब वह अल्लाह का भेजा हुआ धर्म है और उसे वस्तुतः समस्त संसार के लिए और शाश्वत बनाकर भेजा गया है तो फ़ितरी तौर से उसकी यह ज़िम्मेदारी भी ठहरती है कि वह लोगों तक अपने पहुँचने और पहुँचते रहने का कोई स्थाई और प्रभावकारी तथा कार्यकुशल व व्यवस्था भी स्थापित करे और स्थापित रखे।

मुस्लिम समुदाय की ख़ास ज़िम्मेदारी

मुस्लिम समुदाय की ख़ास ज़िम्मेदारी क्या है ? यह जानने के लिए जब हम क़ुरआन मजीद पढ़ते हैं तो हमें मालूम हो जाता है कि उसने इस समस्या का हल पूरे आयोजन के साथ कर रखा है, और जितना महानतम यह सत्य-प्रचार का कार्य था उसी महानतम ढंग से उसका प्रबन्ध भी किया है। यह समाधान और यह व्यवस्था यह है –

> "..... इसी प्रकार हमने तुम (ईमानवालों) को सन्तुलित उत्तम समुदाय बनाया है, ताकि तुम दूसरे सभी लोगों के लिए (हमारे अवतरित किए हुए सत्य-धर्म के) साक्षी बनो और हमारा रसूल तुम्हारे लिए साक्षी बने।"
>
> (क़ुरआन, 2:143)

अल्लाह तआला के इस फ़रमान से इस समाधान और इस व्यवस्था का व्यावहारिक रूप यह सामने आता है –

(1) इस्लाम को अल्लाह के बन्दों तक पहुँचाने का जो काम रसूल (सल्ल.) अपने जीवनकाल में करता रहा है, उसके दुनिया से रुख़सत हो जाने के बाद वह उसके अनुयायियों के ज़िम्मे हो गया है और अब ये लोग उस समय तक उस काम के ज़िम्मेदार रहेंगे जब तक वे इस ज़मीन पर मौजूद हैं।

(2) इस्लाम को दूसरों तक पहुँचाने का मतलब केवल आम ढंग की तबलीग़ व सत्य का प्रसारण नहीं है, बल्कि ऐसा प्रचार-प्रसार है जिसे 'साक्ष्य' (गवाही) कह सकें।

(3) इस्लाम की गवाही या सत्य के प्रचार का एक सुनिश्चित भाव है, जिसका निर्धारण अल्लाह के रसूल (सल्ल.) का व्यवहार करता है। अर्थात् इस्लाम को लोगों तक पहुँचाने का काम मुसलमान अपने प्रयास-भर ठीक उसी तरह करेंगे और बराबर करते रहेंगे, जिस तरह रसूल (सल्ल.) ने स्वयं उन तक (यानी सहाबा रज़ि. तक) उसके पहुँचाने का किया था।

मालूम हुआ कि पिछली उम्मतें अगर केवल एक ज़िम्मेदारी रखती रही हैं, और वह यह कि अपने 'दीन' (धर्म) की निष्ठापूर्ण पैरवी करती रहें, तो मुस्लिम समुदाय इस आम ज़िम्मेदारी के साथ-साथ ख़ास तौर से एक ज़िम्मेदारी और भी रखता है, और वह यह कि बाहरी दुनिया के सामने वह इस्लाम की इस प्रकार गवाही देता रहे, जिस प्रकार की गवाही देने का हक़ है और जिसका व्यावहारिक आदर्श उसका रसूल उसके समक्ष रख गया है। वास्तव में इस सम्बन्ध में वस्तुस्थिति है ही यह कि नबी (सल्ल.) यद्यपि समस्त जगत् के लिए और क़ियामत (महाप्रलय) तक के लिए नबी थे, लेकिन इस विश्वव्यापी आह्वान के अनवरत जारी रहने की व्यावहारिक स्थिति अल्लाह तआला ने यह निश्चित की थी और स्वाभाविक रूप से यही सही भी थी और यही सम्भव भी थी कि नबी (सल्ल.) अपना स्थानापन्न

(क़ायम मक़ाम) एक ऐसा गिरोह तैयार कर दें, जो अपने ईमान में इतना पक्का और अपने अमल में इतना अच्छा 'मुस्लिम' हो कि वह नबी (सल्ल.) के बाद नबी (सल्ल.) ही की तरह हक़ की ठीक-ठीक गवाही दे सके, और फिर यह गिरोह अपने बाद की नस्ल को इस काम के लिए तैयार करे, और यह क्रम अंतिम दिन तक यूँ ही चलता रहे। अतः हम देखते हैं कि जब अरबवाले फ़ौज-दर-फ़ौज इस्लाम में दाख़िल होने लगे और नबी (सल्ल.) के प्रशिक्षण प्राप्त सहाबा (रज़ि.) का पवित्र गिरोह अस्तित्व में आ गया, तो नबी (सल्ल.) की अपनी असल ड्यूटी मानो कि पूरी हो गई। इसलिए नबी (सल्ल.) को वापस बुला लिया गया। इसके बाद ख़ुदा के दूसरे बन्दों के सामने इस्लाम का प्रचार व गवाही का काम उस समय के मुस्लिम समुदाय (यानी सहाबा किराम रज़ि.) के द्वारा पूरा किया जाने लगा, जिसे नबी (सल्ल.) – "सारे मनुष्यों पर गवाह" बना गए थे। इस प्रकार वस्तुस्थिति यह स्पष्ट होती है कि नबी (सल्ल.) की नियुक्ति तो अरबवालों की ओर सीधे तौर पर हुई थी लेकिन शेष दुनिया की ओर उस 'मुस्लिम समुदाय' के माध्यम से थी जिसे नबी (सल्ल.) तैयार कर गए थे और जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी अस्तित्व में आती और तैयार होती रहेगी। इसलिए अल्लाह के नबी (सल्ल.) के तशरीफ़ ले जाने के बाद अब क़ियामत तक यह काम इस समुदाय का है कि दुनिया के सामने हक़ की गवाही देता रहे और अपने बस भर उस तरह देता रहे जिस तरह देने का हक़ है। संक्षेप में यह कि यह समुदाय अपने पूरे वुजूद में अपने पैग़म्बर का स्थानापन्न (क़ायम मक़ाम) है और अनुयायी होने की हैसियत से उसके जीवन का लक्ष्य ठीक वही है जो नबी (सल्ल.) के जीवन का लक्ष्य था।

मुस्लिम समुदाय की यह ज़िम्मेदारी कोई मामूली ज़िम्मेदारी नहीं है, बल्कि बहुत बड़ी और अत्यन्त विश्वव्यापी ज़िम्मेदारी है। अल्लाह तआला का यह फ़रमाना कि "हमने तुम्हें एक सन्तुलित उत्तम समुदाय बनाया है, ताकि तुम सारे मनुष्यों के लिए सत्य-धर्म के गवाह बनो।" इस समुदाय की हैसियत स्पष्ट रूप से यही निश्चित कर रहा है। इसकी और व्याख्या उसके इस फ़रमान से हो रही है –

"तुम एक उत्तम समुदाय हो जो समस्त मनुष्यों के लिए अस्तित्व में लाया गया है......।" (क़ुरआन, 3:110)

अल्लाह तआला के ये पवित्र शब्द साफ़-साफ़ बताते हैं कि यह समुदाय कुछ उसी प्रकार का एक समुदाय नहीं है, जिस प्रकार के समुदाय तथा उम्मतें अब तक अस्तित्व में आती रही हैं, बल्कि यह ऐसा समुदाय व उम्मत है जो शेष सारे इनसानों को हिदायत देने वाली और पूरी मानवता की निगहबान बनाई गई है। यही उसके अस्तित्व का प्रथम और अंतिम उद्देश्य है। किसी चीज़ की प्रतिष्ठा व मूल्य उसी समय तक शेष रहा करती है जब तक वह अपने अस्तित्व के उद्देश्य को पूरा करती रहती है। उस उद्देश्य से असंबद्ध हो जाने के बाद वह अपनी प्रतिष्ठा व मूल्य खो देती है। इसलिए मुस्लिम समुदाय की असल प्रतिष्ठा भी इसी 'गवाही व साक्ष्य' पर निर्भर है। वह 'सन्तुलित उत्तम समुदाय' और 'श्रेष्ठतम समुदाय' वस्तुतः उसी समय तक है जब तक कि वह दुनिया के सामने सत्य का गवाह बनकर ख़ड़ा रहता है, अन्यथा वह इन लक़बों व उपाधियों की पात्रता से वंचित हो जाएगा। यहाँ तक कि वह अपने असल नाम "उम्मते-मुस्लिमा" (मुस्लिम समुदाय) तक का पात्र न रह जाएगा। क्योंकि जैसाकि बताया जा चुका है कि इसका यह नाम कोई रस्मी क़िस्म का नाम नहीं, बल्कि एक गुणवाचक नाम है और उसे ख़ास तौर से केवल इसलिए मिला है कि उसकी मुसलिमाना ज़िम्मेदारियाँ दूसरे समुदायों के मुक़ाबिले में दोहरी थीं। क़ुरआन के इन शब्दों पर ग़ौर कीजिए –

"उसने तुम्हें चुना है और तुम्हारे लिए धर्म में कोई तंगी नहीं रखी है। अपने पूर्वज इबराहीम के मार्ग की पैरवी करो। उसने पहले ही से तुम्हारा नाम 'मुस्लिम' (आज्ञाकारी) रखा है और इसी विशिष्टिता में रखा है, ताकि रसूल तुम्हारे लिए (सत्य-धर्म का) गवाह हो और तुम दूसरे समस्त मनुष्यों के लिए गवाह बनो।" (क़ुरआन, 22:78)

इस आयत में मुस्लिम समुदाय की ख़ास हैसियत और उसकी ख़ास ज़िम्मेदारी दोनों चीज़ों को पूरी तरह उजागर कर दिया गया है। सबसे पहले

इसके शब्द (मूल में) 'इज्तबा कुम' को देखिए, "इज्तबा" के लगभग वही अर्थ हैं जो शब्द 'इस्तफ़ा' के हैं। यानी चीज़ों में से सबसे अच्छी चीज़ का चुना जाना। ये शब्द क़ुरआन मजीद में सामान्य रूप से नबियों के चुनाव के लिए प्रयुक्त हुआ है। एक ऐसा शब्द जो नुबुव्वत के पद के लिए किए जानेवाले चुनाव का पर्याय हो, उसे अगर एक समुदाय के चुनाव के लिए भी प्रयुक्त किया गया है तो यह इस बात की ओर इशारा है कि उसकी हैसियत और प्रतिष्ठा पैग़म्बराना हैसियत और प्रतिष्ठा का प्रतिबिम्ब है। इसके बाद "हु-व-सम्माकुमुल मुस्लिमी-न मिन क़ब्ल" (अर्थात् पहले से उसी ने तुम्हारा नाम मुस्लिम रखा) के शब्दों की ओर आइए। ये शब्द बताते हैं कि विशेष रूप से इसी समुदाय को 'मुस्लिम' नाम प्रदान किया गया है। यह आज नहीं, बहुत समय पहले इसका यह नाम रखा जा चुका था। यह इस समुदाय के एक सर्वश्रेष्ठ और असाधारण हैसियत का स्वामी समुदाय होने का दूसरा प्रमाण है। इसके अर्थ ये हैं कि जिस प्रकार नबियों के क्रम-समापक हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) के आने की शुभ-सूचना आप (सल्ल.) के आने से सैकड़ों साल पहले ही दी जा चुकी थी और दुनिया इस शुभ-सूचना के साकार होने के लिए एक लम्बी अवधि से आँखें लगाए प्रतीक्षा कर रही थी, कुछ वैसा ही मामला आप (सल्ल.) के अनुयायियों का था। अभी उसके अस्तित्व में आने में दिन-रात की हज़ारों गर्दिशें शेष थीं, किन्तु उसके नाम की, उसके काम की और उसके गुणों की उद्घोषणा पहले ही से कर दी गई थी। कुछ ऐसा महसूस होता है कि यह उद्घोषणा मात्र एक उद्घोषणा न थी, बल्कि शुभ-सूचना की उद्घोषणा थी और यह शुभ-सूचना इस समुदाय के एक असाधारण समुदाय होने का प्रमाण थी, क्योंकि किसी व्यक्ति या गिरोह के अस्तित्व में आने की सूचना इतना पहले उसी समय दी जाती है, जब वह कोई विशेष महत्त्व रखता हो। अब तीसरी चीज़ "व-फ़ी हाज़ा" (अर्थात् और इसी विशेषता में रखा है) के शब्दों को लीजिए। ये शब्द उस प्रयोजन और उस उद्देश्य के चेहरे से परदा हटाते हैं जिसके लिए इस समुदाय को यह ऊँचा नाम और उच्च स्थान प्रदान हुआ था। ये बताते हैं कि इस समुदाय को यह नाम और यह स्थान प्रदान किया गया है, तो यूँ ही नहीं प्रदान किया गया है। बल्कि उस 'इज्तिबा' (अर्थात् चुनाव) के आधार पर प्रदान हुआ है, जिसका उल्लेख अभी हो चुका

है। यह केवल इस बात का प्रमाण नहीं है कि यह एक उच्चतम दर्जे का समुदाय है, बल्कि इस वास्तविकता का भी प्रदर्शन है कि इस समुदाय की पदानुकूल ज़िम्मेदारी बहुत बड़ी और अत्यधिक असाधारण है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि इस समुदाय को यह नाम केवल इसलिए प्रदान हुआ है कि उसे काम भी उसी नाम के वैभव और शान के अनुकूल करने थे। सबसे अन्त में "लियकू-नर्रसूलु शहीदन अलै-कुम व तकूनू शुह-दा-अ अ-लन्नासि (अर्थात्, ताकि रसूल तुम्हारे लिए गवाह हो और तुम दूसरे समस्त लोगों के लिए गवाह बनो) के शब्दों पर नज़र डालिए। ये शब्द इस प्रश्न का उत्तर हैं कि मुस्लिम समुदाय का 'चुनाव' जिस काम के लिए हुआ है, निश्चित रूप में वह क्या है और उसे ठीक तौर पर किस शक्ल में अदा किया जाना चाहिए?

मतलब यह कि इस आयत में जहाँ यह बताया गया है कि मुस्लिम समुदाय का नाम और स्थान क्या है, वहीं उसपर और सारी दुनिया पर वास्तविकता भी स्पष्ट कर दी गई है कि उसे इस नाम और मक़ाम के मिलने का कारण और आधार उसका वह काम है जो उसके सुपुर्द किया गया है। अगर वह उस काम को पूरा करता है, तो निस्सन्देह 'मुस्लिम समुदाय' (उम्मते-मुस्लिमा) है और अगर पूरा नहीं करता तो चाहे परिचय में उसका यही नाम चलता रहे, किन्तु वास्तव में उससे यह नाम छिन चुका होगा।

जब "सत्य-धर्म की गवाही" ही इस समुदाय के अस्तित्व का असल प्रयोजन व उद्देश्य है जैसाकि ऊपर की वार्ता से पूरी तरह स्पष्ट हो चुका है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह इसके सम्बन्ध में अल्लाह के समक्ष जवाबदेह भी होगा। अर्थात् अल्लाह तआला के सामने जहाँ एक-एक मुसलमान को अपनी व्यक्तिगत ज़िम्मेदारियों के बारे में जवाबदेही करनी होगी, वहीं पूरे समुदाय को भी एक समुदाय की हैसियत से सामूहिक जवाबदेही करनी पड़ेगी। यह जवाबदेही कोई मामूली जवाबदेही न होगी, बल्कि कुछ उसी प्रकार की होगी जिस प्रकार की अन्य नबियों (अलै.) की उनकी अपनी-अपनी पैग़म्बराना हैसियतों में होगी, क्योंकि वह (अर्थात् मुस्लिम समुदाय) यद्यपि पारिभाषिक रूप में पैग़म्बर नहीं, मगर पैग़म्बरी का अनिवार्य कर्त्तव्य (फ़रीज़ा) ज़रूर रखता है। क़ियामत के हिसाब-किताब के

बारे में क़ुरआन कहता है–

> "अतः हम अवश्य पूछगच्छ करेंगे, उन लोगों से जिनके पास पैग़म्बर भेजे गए थे और उन पैग़म्बरों से भी सवाल करेंगे।" (क़ुरआन, 7:6)

इस आयत से मालूम हुआ कि जिस प्रकार आम लोगों से उनके अपने अनिवार्य कर्त्तव्यों के बारे में पूछा जाएगा कि उन्होंने नबियों की दावत व आह्वान का क्या जवाब दिया था, उसी प्रकार स्वयं नबियों से भी पूछा जाएगा कि उन्होंने अल्लाह का सन्देश लोगों तक किस प्रकार पहुँचाया था और उसका उन्हें क्या उत्तर मिला था? मुस्लिम समुदाय एक पैग़म्बर की ज़िम्मेदारियाँ रखता है, तो इस सैद्धांतिक उद्घोषणा की अपेक्षा है कि वह सवाल उससे भी हो जो पैग़म्बरों से होनेवाला है। उससे पूछा जाए कि हमारे बन्दों के सामने तूने हमारे दीन व धर्म की गवाही किस प्रकार दी थी और उन्होंने इसका क्या उत्तर दिया था? विचार कीजिए, अगर अपने इस अनिवार्य कर्त्तव्य के पालन में मुस्लिम समुदाय ने कोताही की होगी तो कितनी सख़्त होगी उसके लिए यह घड़ी! और कितनी मुशकिल होगी यह जवाबदेही! और अगर, ख़ुदा न करे मामला इससे भी आगे का निकला और स्पष्ट यह हुआ कि न केवल इस गवाही का हक़ नहीं अदा किया गया, बल्कि इसे छिपाया भी गया, तो फिर यह जवाबदेही केवल मुशकिल ही न रह जाएगी, बल्कि कुछ और बन जाएगी, क्योंकि यह एक अत्यन्त ख़तरनाक अपराध है, और इसके बारे में अल्लाह तआला सचेत कर चुका है कि –

> "उससे बड़ा ज़ालिम और कौन होगा जिसने अल्लाह की किसी गवाही को जो उसके पास थी, छिपाया हो।" (क़ुरआन, 2:140)

हक़ की गवाही क्या है?

सत्य-धर्म की यह 'गवाही' क्या चीज़ है? इसका अभिप्राय और इसका व्यावहारिक रूप क्या है? यह एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न है जो यहाँ पहुँचकर अनिवार्य रूप से उत्पन्न होता है। इस प्रश्न का उत्तर मालूम कर लेने के लिए स्वयं इस्लाम को समझने की आवश्यकता है।

इस क्रम में सैद्धांतिक रूप में और संक्षिप्त में इतना तो मालूम हो चुका है कि जिस प्रकार 'इस्लाम' और 'सत्य-धर्म' एक सुनिश्चित चीज़ है, उसी प्रकार इस 'सत्य-धर्म' की 'गवाही' का भाव और इसका व्यावहारिक रूप भी निर्धारित ही है और यह निर्धारण अल्लाह के रसूल (सल्ल.) का पवित्र आचरण व चरित्र करता है। किन्तु उचित न होगा कि इतनी संक्षिप्त बात को इतने महत्त्वपूर्ण मामले का पर्याप्त और निर्णायक उत्तर समझ लिया जाए। इसलिए आइए इस संक्षेप का विस्तार मालूम करें –

'गवाही' (शहादत) आम तौर से उस बात को कहते हैं कि आदमी किसी घटना या किस चीज़ के सम्बन्ध में जो कुछ यक़ीन के साथ जानता है, दूसरों को ठीक-ठीक बता दे। इसलिए 'सत्य-धर्म की गवाही' का शब्दकोशीय और आम भाव यह होगा कि लोगों के सामने इस्लाम को, जैसा कुछ वह है, पूरी तरह स्पष्ट कर दिया जाए। रहा इसका क़ुरआनी पारिभाषिक भाव, तो यद्यपि यह भाव भी मौलिक रूप में यही है, किन्तु इसकी पूर्ण अवधारणा बड़ी व्यापकता और विभुता रखती है, जिसका स्पष्टीकरण नबी (सल्ल.) के पवित्र चरित्र व आचरण की रौशनी में यह है –

'सत्य की गवाही' के दो पक्ष हैं –

(1) कथनात्मक, (2) दूसरा व्यावहारिक

1. 'कथनात्मक गवाही' तो यह है कि इस्लाम की आधारभूत धारणाओं से लेकर उसके विस्तृत आदेशों तक को ग़ैर-मुस्लिमों के सामने अत्यन्त अनुकूल शब्दों और इबारतों में पेश किया जाए, यहाँ तक कि यह धर्म उनके लिए खुली किताब बन जाए और उनके लिए अपने पंथ की ग़लती और इस्लाम की सच्चाई का अन्तर कर लेने में कोई बौद्धिक रुकावट बाक़ी न रह जाए।

इस काम को सही तरीक़े से पूरा करने के लिए कुछ बातें ज़रूरी हैं –

(i) पहली बात तो यह कि इस्लाम की आधारभूत धारणाओं (अक़ीदों) पर ज्ञान तथा बुद्धि पर आधारित ऐसी दलीलें और स्वाभाविक

सूझबूझ के ऐसे प्रमाण प्रस्तुत किए जाएँ जिनसे उनकी सच्चाई पूरी तरह खुल जाए। क़ुरआन मजीद ने तौहीद (एकेश्वरवाद), रिसालत और आख़िरत पर जिस बल व शक्ति के साथ और जिस व्यापकता और प्रभावपूर्ण शैली में तर्क प्रस्तुत किए हैं, उसका अनुकरण करना हर स्थिति में अनिवार्य है। इसी प्रकार जीवन के विविध क्षेत्रों में इस्लाम ने जो आदेश दिए हैं, उन्हें भी विस्तार से पेश किया जाए और सप्रमाण बताया जाए कि वह जीवन की समस्याओं को किस सुन्दरता और ख़ूबी के साथ हल कर देता है और उसकी पैरवी किस प्रकार सांसारिक जीवन की भी ख़ुशहालियों की ज़मानतदार है।

(ii) दूसरी बात यह कि ग़ैर-इस्लाम की गम्भीरतापूर्वक और सतर्क समीक्षा की जाए। इस समीक्षा के लिए ज़रूरी है कि पहले उन विचारों और दृष्टिकोणों की गहरी जानकारी हासिल कर ली जाए जिन की ग़ैर-मुस्लिम दुनिया पैरवी कर रही है और जो इस समय के धर्मों, दर्शनों और व्यवस्थाओं की आधारशिलाएँ हैं। अच्छी तरह मालूम कर लिया जाए कि वे कौनसे तर्क हैं जिनपर ये मत व दृष्टिकोण स्थित हैं। इसके बाद उन दृष्टिकोणों की पूरी शक्ति से काट की जाए और इस प्रकार की जाए कि उनका अबौद्धिक, अतार्किक और अस्वाभाविक होना बिलकुल खुल जाए। इसके-साथ उन दृष्टिकोणों के पैदा किए हुए उन व्यावहारिक परिणामों को भी उंगली रख-रखकर गिनाया जाए, जिन्हें किसी तरह भी मानवता के लिए उचित नहीं कहा जा सकता, ग़ैर-इस्लाम की यह तार्किक काट इस्लाम की गवाही के मार्ग का एक अपरिहार्य चरण है। इसके बिना सही तरीक़े से अपना अनिवार्य कर्त्तव्य पूर्ण हो ही नहीं सकता। क्योंकि इस्लाम का आह्वान एक नये निर्माण की हैसियत रखता है। जब कोई नई इमारत बनानी हो तो अनिवार्य होता है कि पहले उसके लिए बुनियादें खोदी जाएँ। ज़मीन के ऊपर ही ऊपर से कोई इमारत नहीं उठा करती। अपेक्षित सीमा तक नींव खुद जाने के बाद ही दीवारों की चिनाई शुरू की जाती है। इसी प्रकार जिन हृदयों और

दिमाग़ों में आप इस्लाम की जड़ें उतारनी चाहते हैं, पहले उनमें वह जगह पैदा कीजिए जहाँ ये जड़ें जाकर उतर सकें। स्पष्ट है कि यह जगह उसी समय बन सकेगी जब उनके अन्दर से उन ग़लत विचारों और दृष्टिकोणों को खोदकर निकाल दिया जाए जो पहले से पीढ़ी-दर-पीढ़ी गहरे जमे चले आ रहे हैं। आप किसी बर्तन में कोई चीज़ उसी वक़्त रख सकते हैं जब वह ख़ाली हो। इसी प्रकार किसी के दिल व दिमाग़ में इस्लाम भी उसी समय घर कर सकता है जब वहाँ किसी और 'धर्म' या किसी और 'दृढ़संकल्प' ने क़ब्जा न कर रखा हो। क़ुरआन मजीद ने अपने आह्वान के सिलसिले में केवल इसी बात को पर्याप्त नहीं समझ लिया था कि तौहीद, रिसालत और आख़िरत पर दलीलें दे दे, बल्कि यह भी ज़रूरी समझा था शिर्क (अनेकेश्वरवाद), कुफ़्र (सत्य का इनकार) और इल्हाद (हक़ से फिर जाना) के दर्शनों और रिसालत तथा आख़िरत के इनकार के दृष्टिकोणों का पूरे ज़ोर-शोर से रद्द कर दे। अतः सत्य से विमुख होने और इनकार की जो-जो शक्लें थीं, उन्हें उसने एक-एक करके लिया। जिन-जिन राहों से ये धारणाएँ ज़ेहनों में प्रविष्ट थीं, उनमें से एक-एक को निगाह में रखा। उन दृष्टिकोणों के पक्ष में लोगों के पास जो कुछ भी दलीलें थीं, उन्हें एक-एक करके नोट किया, और फिर उन ग़लत विचारों व दृष्टिकोणों पर वार्ता की। उनकी निरर्थकता स्पष्ट की और उन्हें ध्वस्त कर दिया। तब जाकर अल्लाह के घर में रख दिए जानेवाले 360 बुत सजदे में गिरे –

> "सही बात नासमझी की बात से अलग होकर स्पष्ट हो गई।"
>
> (क़ुरआन, 2:256)

(iii) तीसरी बात यह कि इस्लाम को सत्य और ग़ैर-इस्लाम को असत्य साबित करने का यह काम मनमोहक और अत्यन्त आधुनिक ढंग का और उस भाषा में हो जिससे वक़्त का इनसान परिचित है। उस ढंग का हो जो आज के ज़ेहनों को अपील कर सकता हो। उस तरीक़े का हो जिसे विज्ञान का यह दौर बहस व तर्क का तरीक़ा

स्वीकार करता हो, क्योंकि इस्लाम को सत्य और ग़ैर-इस्लाम को असत्य साबित करने की यह कोशिश मात्र एक व्यावहारिक शास्त्रार्थ के लिए न होगी, बल्कि सत्य-धर्म की व्याख्या और उसकी ओर आह्वान के लिए होगी। वह व्याख्या, व्याख्या नहीं होती जिसके बाद भी सम्बोधित बात को न पा सके और वह आह्वान आह्वान नहीं कहा जा सकता जो अपने सन्देश को दिलों और दिमाग़ों तक पहुँचा न दे। इसलिए ज़रूरी है कि अपनी बात कहते वक़्त मुख़ातब का ज़ेहन् और उसकी अभिरुचि भी अनिवार्य रूप से सामने रहे और बहस व दलील पेश करने की शैली वह हो जिसे वह पसन्द करता व समझता हो। क़ुरआन मजीद ने अपनी दावत (पैग़ाम) पेश करने के लिए भाषा, वर्णनशैली, तर्कशैली सबकुछ वही इख़्तियार किया और पूरी पाबन्दी के साथ इख़्तियार किया, जिससे अरबवाले परिचित थे। एक ओर तो उसने जो कुछ कहा 'स्पष्ट अरबी भाषा' में कहा (क़ुरआन, 26:195)। सबसे अच्छी शैली में और समय की आदर्श और स्पष्ट भाषा में कहा, ताकि बात समझने में इबारत और वर्णनशैली की कोई अनुचित बात वस्तुतः रुकावट न बन सके। अपने कलाम में आयतों के विभागों की, छोटे-छोटे वाक्यों की बिजली की कड़क जैसे सम्बोधन की, पूरी-पूरी रिआयत रखी। क्योंकि अरब ऐसी चीज़ों के बड़े दीवाने थे। दूसरी ओर उसने दलील देने के लिए बौद्धिक मान्यताओं, नैसर्गिक संकेतों और भौतिक व आन्तरिक अवलोकनों से काम लिया, क्योंकि यह तर्क देने की शैली स्वयं में लाभदायक तथा प्रभावशाली तो थी ही इसके साथ-साथ अरबी ज़ेहन को उससे एक ख़ास सम्बन्ध भी था।

अल्लाह तआला ने अपने नबी को सत्य की ओर आह्वान करने के बारे में हिदायत की थी कि –

"(लोगों को) अपने पालनहार के मार्ग की ओर तत्वदर्शिता और सदुपदेश के साथ बुलाओ और उनसे ऐसे ढंग से वाद-विवाद करो जो उत्तम हो।" (क़ुरआन, 16:125)

ये तीनों बातें जो दावत व आह्वान के काम को ठीक-ठीक पूरा करने के लिए ज़रूरी बताई गई हैं, वास्तव में इसी सैद्धांतिक क़ुरआनी सदुपदेश की टीका व व्याख्या थीं।

(iv) चौथी बात यह है कि इस प्रचार-प्रसार व आह्वान के पीछे कोई क़ौमी गर्व, किसी प्रकार का अभिमान, कोई अधार्मिक उत्प्रेरक – मतलब यह कि कोई भी मिथ्या-भावना बिलकुल न काम कर रही हो; बल्कि ज़बान व क़लम से जो कुछ निकले निष्ठा और ईशपरायणता के साथ निकले, मात्र अपने कर्त्तव्य के एहसास और मानवजाति की मुहब्बत और ख़ैरख़्वाही के आधार पर निकले। इस दशा में निकले कि अल्लाह के बन्दों की गुमराहियों पर अन्दर से दिल कुढ़ रहा हो और उन्हें ऐसा महसूस हो रहा हो, या हो सकता हो कि यह इस्लाम की ओर बुलानेवाला हमसे कुछ ले नहीं रहा है, बल्कि हमें कुछ दे रहा है और एक बड़ी नेमत दे रहा है। नबी (सल्ल.) के अन्दर लोगों के ईमान लाने के बारे में जो निष्ठापूर्ण तमन्ना और धुलादेनेवाली बेक़रारी थी, उसका उल्लेख अल्लाह तआला इन शब्दों में करता है–

> "ऐ नबी ! ऐसा मालूम होता है कि अगर ये लोग ईमान न लाए तो तुम उनके पीछे अपने आपको मारे ग़म के हलाक कर लोगे।"
>
> (क़ुरआन, 18:6)

2. 'व्यावहारिक गवाही' यह है कि इस्लाम की जो तसवीर शब्दों में पेश की जाए, वह पेश करनेवाले की अपनी ज़िन्दगी में भी देखी जा सके। मुस्लिम समुदाय के लोग अपनी वैयक्तिक हैसियतों में और पूरा समुदाय अपनी समष्टि हैसियत में, सब के सब इस्लाम के व्यावहारिक नमूने हों। उन्हें तौहीद (एकेश्वरवाद), आख़िरत (परलोक) और रिसालत (ईशदूतत्त्व) आदि अक़ीदों पर गहरा यक़ीन हो और यह यक़ीन उनकी एक-एक अदा से टपक रहा हो। उनके अख़लाक़ व आचरण वे हों जिनकी इस्लाम ने नसीहत की है। उनके मामले उन्हीं रेखाओं पर अंजाम

पाएँ जो क़ुरआन व हदीस ने खींच रखी हैं। उनका समाज, उनकी अर्थनीति और राजनीति, मतलब यह कि उनके जीवन की सारी व्यवस्था और उस व्यवस्था का एक-एक विभाग उसी नक़्शे के अनुकूल निर्मित हो जो अल्लाह और रसूल ने बनाकर दे दिया है। ताकि दुनिया अपनी आँखों से भी देख ले कि इस्लाम किसे कहते हैं? वह किस प्रकार के लोग, किस प्रकार का समाज तथा किस प्रकार का राज्य अस्तित्व में लाता है?

'व्यावहारिक गवाही' का दर्जा 'मौखिक गवाही' से आगे भी है और ज़्यादा महत्त्वपूर्ण भी। एक तो इसलिए कि जब तक कोई व्यक्ति या समुदाय स्वयं ही किसी धर्म की पैरवी न कर रहा हो, उसे किसी प्रकार शोभा नहीं देता कि वह दूसरों को उसकी पैरवी का आह्वान करे। न केवल यह कि इस निमंत्रण का देना उसे शोभा नहीं देता, बल्कि परिणाम की दृष्टि से भी यह एक ऐसी कोशिश होगी जिसका शायद ही किसी पर कोई प्रभाव पड़ सके। दूसरे इसलिए कि लोगों की बहुत बड़ी संख्या शायद सौ में निन्यानवे से भी अधिक बड़ी बहुसंख्या वस्तुतः 'व्यावहारिक तर्कों' की ही भाषा समझती है। बौद्धिक तर्कों तक उसकी पहुँच बहुत कम हो पाती है।

इस सिलसिले में नबी (सल्ल.) के शुभ-आचरण व व्यवहार के सम्बन्ध में कुछ व्याख्या करना बिलकुल अनावश्यक होगा। सारा संसार जानता है कि आप (सल्ल.) ने जब लोगों को ईमान की दावत दी तो इस स्थिति में दी कि पहले स्वयं ईमान व यक़ीन का पैकर बन चुके थे और दूसरों को जब अल्लाह का कोई आदेश सुनाया तो इस प्रकार सुनाया कि सरे-मुबारक उसके आगे पहले ख़ुद झुक चुका होता था।

यह है 'इस्लाम की गवाही' का पूरा भाव और आदर्श तरीक़ा। मुस्लिम समुदाय की व्यावहारिक कोशिशें इस आदर्श के जिस सीमा तक क़रीब पहुँचेंगी उसी सीमा तक वे अपने कर्त्तव्य में सफल और अपने उद्देश्य में कामयाब साबित होंगे, और जिस सीमा तक ये कोशिशें इस आदर्श से दूर होंगी उसी सीमा तक वे असफल व नाकाम रहेंगे।

इस्लाम की सांसारिक बरकतें

सांसारिक सफलता और नबियोंवाला आह्वान

ऊपर के पृष्ठों में इस्लाम का जो साधारणतया परिचय कराया गया है, उसमें एक वास्तविकता बार-बार उभरकर सामने आई है और वह यह कि– 'इस्लाम' वास्तव में अल्लाह की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए जीने और उसी के लिए मरने का नाम है और 'मुसलमान' वह है जो अपनी नज़रें हमेशा आख़िरत पर जमाए रखे और उसके फ़ायदे पर दुनिया के फ़ायदे को कभी भी प्राथमिकता न दे। ऐसी स्थिति में फ़ितरी तौर से यह प्रश्न पैदा होता है कि इस दीन (इस्लाम-धर्म) की सही पैरवी के बाद मुसलमान की 'दुनिया' का क्या हाल होगा? क्या उसके पास इस संसार की कोई उल्लेखनीय भलाई शेष रह जाएगी? क्या वह वैयक्तिक हैसियत से ख़ुशहाल और सामूहिक हैसियत से सम्माननीय व सत्ताधारी भी हो सकेगा? स्पष्ट है कि यह एक साधारण प्रकार का प्रश्न है और उसे केवल एक इस्लाम ही के बारे में नहीं, बल्कि प्रत्येक उस धर्म के सम्बन्ध में उठना चाहिए जो अल्लाह तआला की ओर से आया हो। क्योंकि अपनी यथार्थ वस्तुस्थिति की दृष्टि से 'इस्लाम' और दूसरे आसमानी धर्मों में कोई अन्तर नहीं रहा है। इस्लाम ही की तरह प्रत्येक धर्म, धर्म-परायणता (दीनदारी) और ईशपरायणता (ख़ुदापरस्ती) का जौहर यही बताता रहा है कि मानव अपने आपको अल्लाह के सुपुर्द कर दे और दुनिया पर आख़िरत को प्राथमिकता देता रहे। इसलिए उचित यह है कि इस सम्बन्ध में क़ुरआनी आह्वान का उत्तर सुनने से पूर्व दूसरे नबियों के आह्वान का उत्तर भी सुन लिया जाए।

इस उद्देश्य के लिए जब हम नबियों के आह्वानों का विवेचन करते हैं तो हमें इस प्रश्न का उत्तर वह नहीं मिलता जिसका बाह्यतः विचार आता है। यानी यह कि धर्म की सच्ची पैरवी और आख़िरत की चाह का नतीजा दुनिया

की अनिवार्य रूप से महरूमी ही की शक्ल में निकल सकता है। इसके विपरीत हमें देखने को यह मिलता है कि जिस नबी ने भी अपनी क़ौम को अल्लाह के दीन (धर्म) की ओर बुलाया, यह विश्वास दिलाते हुए बुलाया कि मेरी पैरवी तुम्हें आख़िरत ही की नहीं, दुनिया की भी भलाई प्रदान करेगी। उदाहरणत: हज़रत नूह (अलै.) ने अपनी क़ौम को सम्बोधित करके कहा था–

> "अपने पालहार से क्षमा माँगो। निस्सन्देह, वह बड़ा ही क्षमा करनेवाला है। (अगर ऐसा करोगे तो) वह तुम पर मूसलाधार बारिश बरसाएगा, तुम्हें धन और सन्तान प्रदान करेगा, (हरियाले) बाग़ उपलब्ध करेगा और तुम्हारे लिए नदियाँ जारी करेगा।" (क़ुरआन, 71: 10-12)

इसी प्रकार हूद (अलै.) ने भी अपनी क़ौम को हक़ की ओर आह्वान करते हुए उसे सन्तोष दिलाया था –

> "ऐ मेरी क़ौम के लोगो! अपने पालनहार से क्षमा माँगो और फिर उसकी ओर उन्मुख रहो, वह तुमपर मूसलाधार बारिश बरसाएगा और तुम्हारी शक्ति में अनवरत अभिवृद्धि करता रहेगा।" (क़ुरआन, 11:52)

नबियों के आह्वानों का यह यक़ीन दिलाना समय पर किस प्रकार पूरा होकर रहता था, अगर यहाँ यह भी देख लेना हो तो बनी इसराईल के उस इतिहास पर नज़र डालिए जो हज़रत मूसा (अलै.) की पैदाइश के पूर्व से आरम्भ होता है। उस समय से लेकर हज़रत मूसा (अलै.) के नुबूवत पाने तक की उन लोगों की ज़िन्दगी अत्यन्त ज़लील, दर्दनाक और ठुकराई हुई ज़िन्दगी थी। लेकिन जब वे अपने पालनहार की ओर पलटे और उसके धर्म की पैरवी में उन्होंने साबित-क़दमी दिखाई तो उनके ज़मीन व आसमान बदल गए। ज़िल्लत की ज़िन्दगी की जगह इज़्ज़त की ज़िन्दगी ने ले ली। क़ुरआन का बयान है कि –

> "....तेरे रब का अच्छा वादा बनी इसराईल के पक्ष में पूरा हो गया, इस कारण से कि वे (सत्य-पथ पर) डटे रहे थे।" (क़ुरआन, 7:137)

केवल यही नहीं कि उन्हें अपने पालनहार की ओर पलटने और सत्य-मार्ग में डटे रहने पर ज़िल्लत की ज़िन्दगी की जगह इज़्ज़त व इक़्तिदार

का जीवन मिल गया, बल्कि एक सर्वसामान्य रूप में यह शाश्वत शुभ-सूचना भी उन्हें दे दी गई कि अल्लाह की शुक्रगुज़ारी (कृतज्ञता) और उसके आदेशों के अनुपालन में तुम जितना ही आगे बढ़ोगे उसकी नेमतों से उतने ही अधिक नवाज़े जाओगे –

> "........जब मूसा ने अपनी क़ौम से कहा था कि अल्लाह के उस एहसान को याद रखो जिससे उसने तुम्हें नवाज़ा है, जब उसने तुमको फ़िरऔनियों से मुक्ति प्रदान की।" (क़ुरआन, 14:6)

> "........याद करो उस वक़्त को (भी) जब तुम्हारे रब ने तुम्हें अवगत किया था कि यदि तुमने कृतज्ञता का आचरण अपनाया तो तुम्हें और अधिक नवाज़ूँगा........।" (क़ुरआन, 14:7)

अतः जब तक वे शुक्रगुज़ारी और कृतज्ञता का आचरण अपनाए रहे, संसार ने देखा कि अल्लाह तआला का यह शुभ-वचन भी पूरा होकर रहा, बल्कि इस गरिमा के साथ पूरा हुआ कि वे क़ौमी सम्मान और सौभाग्य की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिये गए और इस ज़मीन पर कोई क़ौम ऐसी न रही जो महानता और शान-शौकत में उनकी समतुल्य होती। उनके इस स्वर्ण काल की अभिलाषापूर्ण याद क़ुरआन मजीद ने इन शब्दों में उन्हें दिलाई है –

> "ऐ बनी इसराईल! याद करो मेरी उस नेमत को जिससे मैंने तुम्हें नवाज़ा था, और यह बात कि मैंने तुम्हें दुनिया की सारी क़ौमों पर श्रेष्ठता प्रदान की थी।" (क़ुरआन, 2:47)

फिर जब उन्होंने 'कृतज्ञता' अर्थात् ख़ुदापरस्ती और दीन की पैरवी का यह आचरण छोड़ दिया, तो उनके ऊपर से महानता और शान-शौकत का यह चोग़ा भी उतार लिया गया। अंतिम नबी हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) के पधारने के वक़्त यह क़ौम ज़िल्लत की उसी हालत में ग्रस्त थी। क़ुरआन मजीद ने उनकी इस दुर्दशा का कारण और इससे छुटकारे की तदबीर, दोनों चीज़ों की ओर संकेत करते हुए कहा –

> "अगर ये किताबवाले तौरात को और इनजील को और उन हिदायतों को

क़ायम करते, जो उनके रब की ओर से उनको भेजी गई थीं, तो रिज़्क़ उनके ऊपर से भी बरसता और नीचे से भी उबलता।" (क़ुरआन, 5:66)

अन्त में अलग-अलग क़ौमों के बजाय इकट्ठी सारी क़ौमों के बारे में अल्लाह तआला का यह सर्वसामान्य आदेश भी सुन लीजिए–

"......अगर बस्तियोंवाले ईमान लाते और तक़वा के मार्ग पर चलते तो हम उनके ऊपर ज़मीन और आसमान की बरकतों के दरवाज़े खोल देते।"

(क़ुरआन, 7:96)

यह अल्लाह का फ़रमान तो उन लोगों से सम्बन्धित था, जो ईमान और ख़ुदापरस्ती के रास्ते से दूर जा पड़े थे और इसी कारण से तिरस्कार और दरिद्रता उनका भाग्य बन गई थी। इसकी अपेक्षा उन समस्त क़ौमों और गिरोहों के सम्बन्ध में, जिन्होंने सत्य के सन्देश को बढ़कर स्वीकार किया था, अल्लाह तआला का आम फ़रमान यह है –

"......कितने ही नबी ऐसे रहे हैं, जिनके साथ होकर बहुत-से ख़ुदापरस्तों ने युद्ध किया, ... अल्लाह ने उन्हें दुनिया का भी बदला दिया और आख़िरत का भी बेहतरीन बदला दिया।" (क़ुरआन, 3:146-148)

नबियों के आह्वानों की ये गवाहियाँ हमारे सामने हैं। उनसे अल्लाह तआला के जिस स्थायी वादे और कभी न बदलनेवाले फ़ैसले का पता चलता है, वह क़तई तौर पर यही है कि अपनी इताअत (आज्ञानुपालन) और बन्दगी के बदले वह आख़िरत की सफलता के साथ-साथ इस संसार की भी सफलता और सम्पन्नता, इज़्ज़त और सम्प्रभुता प्रदान करता है। अतः जब भी किसी क़ौम ने इताअत और बन्दगी की यह राह अपनाई, उसके पक्ष में यह नियम और वादा अनिवार्यतः पूरा हुआ और वह, जिनकी आख़िरत सँवर रही थी, उनकी दुनिया भी सदाबहार बनी रही।

इस्लाम, सांसारिक सफलता का ज़मानतदार

कोई कारण नहीं कि इस्लाम और मुस्लिम समुदाय के बारे में भी अल्लाह की ओर से ऐसा ही वादा न होता और उसे भी हक़ की इत्तिबा

(अनुपालन) के नतीजे में सांसारिक सफलता का भी विश्वास न दिलाया गया होता। अतएव, ठीक उसी प्रकार का वादा इस मुस्लिम समुदाय से भी किया गया, जैसाकि विगत समुदायों से किया जाता रहा है और प्रत्येक चरण में किया गया। मक्का के अंधकारमय वातावरण में भी किया गया और मदीना के ख़तरनाक दौर में भी किया गया। उन्हें भी सम्बोधित करके किया गया जो अभी इस्लाम नहीं लाए थे और उन्हें भी सम्बोधित करके किया गया जो इस्लाम ला चुके थे। उदाहरणार्थ– मक्का में क़ुरैश को ईमान की दावत देते हुए अल्लाह तआला ने सपष्ट शब्दों में कहा था –

"......यह कि तुम अपने पालनहार से क्षमा चाहो, और उसकी ओर पलट आओ, वह तुम्हें एक नियत अवधि तक जीवन व्यतीत करने का अच्छा सामान प्रदान करता रहेगा।" (क़ुरआन, 11:3)

और अल्लाह के रसूल (सल्ल.) ने उन्हें विश्वास दिलाया था कि –

"अगर तुम मेरा लाया हुआ पैग़ाम स्वीकार कर लोगे तो वह दुनिया में भी तुम्हारे सौभाग्य का साधन होगा और आख़िरत में भी।"

(सीरत इब्ने-हिशाम, भाग-1)

इस सांसारिक 'सौभाग्य' की व्याख्या आप (सल्ल.) ने एक और अवसर पर अपने चचा अबू तालिब के सामने इस प्रकार की थी –

"मैं उन्हें (यानी क़ुरैश को) केवल एक बात का उपदेश देता हूँ, ऐसी बात का उपदेश, जिसके कारण सारा अरब उनका आज्ञाकारी और सारा अजम (ग़ैर-अरब) उनके अधीन आ जाएगा।"

यह तो उन लोगों से किए गए वादे की बात थी जो अभी इस्लाम के अन्दर दाख़िल नहीं हुए थे। जो लोग दाख़िल हो चुके थे उन्हें तो उनकी दुर्बलता और कमज़ोरी के दौर में इस बात का और अधिक विस्तार से विश्वास दिलाया गया था। मक्का में उन्हें इस तरह विश्वास दिलाया गया था–

"तुममें जो लोग ईमान लाए हैं और सुकर्म करते हैं, अल्लाह का उनसे यह वादा है कि उन्हें ज़मीन में सत्ताधिकार प्रदान करेगा, जिस प्रकार कि उसने

उनसे पहले के लोगों को सत्ताधिकार प्रदान किया था, और उनके लिए उनके उस धर्म की जड़ें मज़बूती से जमा देगा जिसे उसने उनके लिए पसन्द किया है, और उनकी वर्तमान भय की स्थिति को शांति और निश्चिंतता में बदल देगा।''
(क़ुरआन, 24:55)

मदीना के आरंभिक काल में यही बात इस प्रकार कही गई थी –

''न कमज़ोर पड़ो, न दुखी हो; तुम्हीं प्रभावी रहोगे, अगर तुम ईमानवाले हुए।''
(क़ुरआन, 3:139)

'ईमान और सुकर्म' की शर्तें पूरी हो जाने के बाद ये वादे किस प्रकार पूरे हुए इससे दुनिया अपरिचित नहीं है। वह अच्छी तरह जानती है कि इस्लाम ने मुसलमान को वह सब कुछ दिया जो दुनिया में किसी क़ौम को अपेक्षित हो सकता है।

धर्मानुपालन और सांसारिक सफलता का सम्बन्ध

इन समस्त व्याख्याओं और गवाहियों के बाद ज़ेहन इस बात पर तो बिलकुल सन्तुष्ट हो जाएगा कि इस्लाम अपनी पैरवी करनेवालों को सांसारिक सफलता से भी बहुत ज़्यादा नवाज़ता है। लेकिन अब वह यह जानना चाहेगा कि ऐसा क्यों और कैसे होता है? धर्म तो इनसानों को आख़िरत की ओर भगाता और दुनिया से बेपरवाह बनाता है, फिर धर्म का दामन पकड़ने के नतीजे में उसे यह दुनिया भी किस प्रकार हाथ आ जाती है? इस प्रश्न का उत्तर मालूम करने और इस मसले को समझने के लिए हमें पहले कुछ सैद्धांतिक सच्चाइयाँ समझ लेनी चाहिएँ।

एक तो यह कि यह सम्पत्ति, यह सत्ताधिकार जिन्हें 'सांसारिक सफलता' कहा जाता है, धर्म की दृष्टि में स्वयं में कोई बुरी चीज़ नहीं हैं, बल्कि अल्लाह तआला की 'नेमतें' और उसका 'अनुग्रह' हैं। चुनांचे क़ुरआन मजीद ने अपने बयानों में उन चीज़ों को यही हैसियत दी है। उदाहरण के रूप में सूरा माइदा की बीसवीं आयत को देखिए जिसमें बनी इसराईल का उल्लेख करते हुए उनकी उस सामुदायिक सरबलन्दी और उस सत्ताधिकार को अल्लाह

तआला ने स्पष्टत: अपनी 'नेमत' कहा है जो भूतकाल में उन्हें प्राप्त था –

"......... अल्लाह की उस नेमत को याद करो जो उसने तुम्हें प्रदान की है। उसने तुममें नबी पैदा किए और तुम्हें शासक बनाया और तुमको वह कुछ दिया जो संसार में किसी को नहीं दिया था।" (क़ुरआन, 5:20)

इसी प्रकार सूरा नह्ल की उस आयत पर नज़र डालिए जिसमें जीवन-साधनों और आजीविका की प्रचुरता को 'अल्लाह की नेमतें' कहा गया है –

"अल्लाह ने एक मिसाल बयान की है, एक बस्ती थी जो निश्चिन्त और सन्तुष्ट थी, हर जगह से उसकी आजीविका प्रचुरता के साथ चली आ रही थी कि वह अल्लाह की नमेतों के प्रति अकृतज्ञता दिख़ाने लगी।"

(क़ुरआन, 16:112)

इसी प्रकार क़ुरआन के बहुत-से स्थानों पर उन चीज़ों को अल्लाह का 'अनुग्रह' (फ़ज़्ल) भी ठहराया गया है। उदाहरणत:–

"ज़मीन पर फैल जाओ और अल्लाह का अनुग्रह (आजीविका) तलाश करो।" (क़ुरआन, 62:10)

दूसरी यह कि इनसान इस संसार में अल्लाह तआला का 'ख़लीफ़ा' और प्रतिनिधि बनाकर पैदा किया गया है। उसका इस पद के प्रति उत्तरदायित्व ही यह है कि वह इस भूमि का प्रबन्ध अपने हाथ में रखे और उसे अपने स्वामी के आदेशों और उसकी मर्ज़ी के अनुकूल चलाए, (जैसाकि पिछली वार्ता में विस्तार से बताया जा चुका है)।

ये दोनों आधारभूत वास्तविकताएँ, यदि सामने हों, तो वार्ताधीन प्रश्न कोई प्रश्न नहीं रह जाता और स्पष्टत: मालूम हो जाता है कि संसारिक मान, दौलत और सत्ताधिकार हरगिज़ ऐसी चीज़ें नहीं हैं जिनसे सम्बन्ध रखना और लाभ उठाना धर्म और ईमान के प्रतिकूल हो। क्योंकि जो चीज़ें 'अल्लाह की नेमत' और 'अल्लाह का अनुग्रह' हों वे उसके हक़ को पहचानने वाले बन्दों के लिए घृणा योग्य या अनापेक्षित नहीं हो सकतीं। इस प्रकार की चीज़ों के बारे में अल्लाह तआला का फ़रमान यह है कि –

"कह दो, कि समस्त (पवित्र चीज़ें) सांसारिक जीवन में (भी वस्तुत:) ईमानवालों (ही) के लिए हैं और क़ियामत के दिन तो केवल उन्हीं के लिए होंगी।"

(क़ुरआन, 7:32)

इसका अर्थ यह हुआ कि उन चीज़ों के असल हक़दार अल्लाह के आज्ञाकारी बन्दे ही हैं। अब यदि उन चीज़ों के असल हक़दार अल्लाह के आज्ञाकारी बन्दे ही हैं, तो वे उनके लिए अप्रिय और अनापेक्षित कैसे हो सकती हैं। ख़ुदा का जानने-पहचाननेवाला बन्दा उसकी यातनाओं से भागता है, नेमतों से नहीं भागता।

यह तो हुई सांसारिक इज़्ज़त व दौलत के 'नेमत' और 'अनुग्रह' होने की अपेक्षा। इसके बाद इनसान के जन्मगत अधिकार और उसकी सृजनात्मक हैसियत को सामने रखकर ग़ौर कीजिए कि उसकी माँग क्या है? ऊपर यह बात विस्तार और दलील के साथ मालूम हो चुकी है कि अल्लाह तआला ने इनसान को इस ज़मीन पर अपना 'ख़लीफ़ा' बनाया है, अर्थात् उसका अपरिहार्य जीवन-कर्त्तव्य उसने यह निश्चित किया है कि वह उसके आदेशों और मर्ज़ी के मुताबिक़ अपने अधिकारों को इस्तेमाल करे, ताकि यहाँ भी उसकी मर्ज़ी उसी प्रकार पूरी होती रहे, जिस प्रकार कि शेष ब्रह्माण्ड में पूरी होती रहती है। मानव जाति की इस सृजनात्मक हैसियत और उसके जन्मगत कर्त्तव्यों की खुली हुई माँग यह है कि जब भी अपनी इस हैसियत का ज्ञान और उस पद के प्रति अपने कर्त्तव्य का सही शुऊर व एहसास रखनेवाले लोग मौजूद हों, इस दुनिया की लगाम उन्हीं के हाथों में हो। क्योंकि इसी स्थिति में इनसान को अल्लाह का ख़लीफ़ा बनाकर पैदा किए जाने का प्रयोजन और उद्देश्य पूरा हो सकेगा। दूसरे शब्दों में यह कि यह बात जगत-पालनहार अल्लाह तआला की हिकमत व सूझ-बूझ और उसके न्याय के बिलकुल विरुद्ध होगी कि उन्हें इस ज़मीन के सत्ताधिकार व स्वामित्व से वंचित रखे, और उनके होते हुए यह सत्ताधिकार उन लोगों के सुपुर्द कर दे जो अपने इस पद के प्रति उत्तरदायी न हों और उसके इनकारी हों। अपने सम्बन्ध में 'ख़लीफ़ा' और अल्लाह तआला का नायब (Representative) होने की स्थिति को स्वीकार ही न करते हों, इस दुनिया में अपने स्वतंत्र प्रभुत्व के या किसी और के प्रभुत्व के दावेदार हों।

दूसरी तरफ़ स्वयं उन लोगों के लिए भी, जो अपने कर्त्तव्य को जानते हैं और ख़ुदा के फ़रमाबरदार बन्दे हैं, यह बात किसी प्रकार सही न होगी कि वे उस सत्ताधिकार के हासिल करने से लापरवाही बरतें, जिसके बिना वे अपने ख़िलाफ़त के कर्त्तव्य से किसी प्रकार मुक्त हो ही नहीं सकते। जिस चीज़ से उनके जीवन का असल फ़र्ज़ जुड़ा हो, वह तो उनके लिए केवल प्रिय ही नहीं, बल्कि अनिवार्य भी ठहरेगी।

इन समस्त पक्षों को सामने रखिए तो यह बात अच्छी तरह समझ में आ जाएगी कि मुसलमान केवल आख़िरत की सफलता ही का नहीं, बल्कि सांसारिक सफलता का भी हक़दार और आकांक्षी होता है। उसकी यह आकांक्षा उसकी सच्ची दीनदारी (धर्मपरायणता) ही की माँग होती है। यही कारण है कि एक सच्चे, सही सोच रखनेवाले मुसलमान की दुआ अपने ख़ुदा से यह होती है कि –

> ''परवरदिगार ! हमें दुनिया में (दुनिया की) भलाई और आख़िरत में (आख़िरत की) भलाई प्रदान कर।'' (क़ुरआन, 2:201)

यह दुआ निस्सन्देह स्वीकार होकर रहती है यदि वह अपने को इसका हक़दार साबित कर देता है।

अब विचाराधीन प्रश्न का केवल एक पक्ष और शेष रह जाता है और वह यह कि अगर मुसलमान आख़िरत की सफलता के साथ सांसारिक सफलता का भी हक़दार और इच्छुक हो सकता है, और होता है, तो क़ुरआन और हदीस में सांसारिक चाह की इतनी निन्दा क्यों की गई है ? तथा इस स्थिति में इस बात का अर्थ क्या होगा कि ''मुसलमान वह है जो अपनी नज़रें आख़िरत पर जमाए रखे और दुनिया के किसी लाभ को आख़िरत पर प्राथमिकता न दे ?''

पहली बात का उत्तर यह है कि जिस संसार व दुनिया को तिरस्कृत और उसकी चाह को निन्दित ठहराया गया है, वह और चीज़ है और वह 'दुनिया' जिसकी सफलता का सच्चा मुसलमान हक़दार और आकांक्षी होता है, बिलकुल दूसरी चीज़ है। इस्लाम की दृष्टि में निन्दित और उपेक्षणीय केवल वे

चीज़ें हैं जो इनसान को ख़ुदा से ग़ाफ़िल (लापरवाह) और उसके धर्म की अपेक्षाओं से बेपरवा बना देनेवाली हों। और वह दुनिया, जिसकी क़ुरआन और हदीस में निन्दा की गई है, वास्तव में इन्ही चीज़ों का नाम है। किन्तु जो चीज़ें इनसान को ख़ुदा से ग़ाफ़िल न बनाएँ और जो अल्लाह के धर्म की अपेक्षाओं को पूरा करने में रोक बनने के बजाय उलटे मददगार साबित हों, वे कभी भी निन्दित और उपेक्षणीय नहीं हैं, बल्कि हर प्रकार से प्रिय और अभीष्ट हैं और उन्हें क़ुरआन मजीद में निन्दित व तिरस्कृत नहीं, बल्कि "फ़िद्दुन्या ह-स-नः" अर्थात दुनिया की भलाई, "हयातन् तय्यिबः" अर्थात् अच्छी ज़िन्दगी अज्र और "सवाबद्दुन्या" अर्थात दुनिया का सवाब (फल) कहा गया है। एक मुसलमान के लिए 'दुनिया की सफलता' का शब्द जब बोला जाता है तो इससे अभिप्रेत वस्तुतः ऐसी ही चीज़ें होती हैं। कहा जा सकता है कि ख़ुदा से ग़फ़लत और धर्म के तक़ाज़ों से बेपरवाही का सम्बन्ध तो वस्तुतः इनसान के अपने मन की सोच से है न कि दुनिया की चीज़ों से। एक ही चीज़ होती है जो एक व्यक्ति की लिए ख़ुदा से ग़ाफ़िल हो जाने का कारण बन जाती है, लेकिन दूसरे के लिए नहीं बनती। आम लोग तो एक मामूली-सी जायदाद पाकर भी आपे से बाहर हो जाते हैं, लेकिन उमर बिन अब्दुल अज़ीज़ (रह.) जैसे लोगों को तात्कालिक सर्वोच्च सल्तनत का शासन भी ख़ुदा से किंचितमात्र ग़ाफ़िल न बना सका। इसलिए निश्चित रूप से कोई चीज़ न इस प्रकार की दुनिया रही और न उस प्रकार की दुनिया। निस्सन्देह वस्तुस्थिति यही है। दुनिया की दौलत, इज़्ज़त और सत्ताधिकार आदि चीज़ों में से कोई चीज़ भी स्वयं में बुरी और उपेक्षणीय नहीं है। यह तो वास्तव में मनुष्य की अपनी त्रुटिपूर्ण चिंतनशैली और ग़लत कार्यशैली है जो उन चीज़ों को उसके पक्ष में ज़हर बना देती है। किन्तु 'सच्चे मुसलमान' के बारे में चूँकि क़ुरआन और इस्लाम की अवधारणा यही है कि वह अल्लाह तआला की प्रदान की हुई चीज़ों का प्रयोग ग़लत तरीक़े से नहीं करता बल्कि उसकी मर्ज़ी और हिदायत के अनुसार ही करता है, इस लिए उसके लिए ये चीज़ें वह 'दुनिया' नहीं हैं जो तिरस्कृत और निन्दित है, बल्कि वह 'दुनिया' है जो प्रिय और अभीष्ट है।

दूसरी बात का उत्तर यह है कि आख़िरत को दुनिया पर प्राथमिकता देने

से अभिप्रेत दुनिया से विरक्त हो जाने के नहीं हैं, बल्कि यह है कि उसके हासिल करने में और हासिल कर चुकने के बाद उसे क्रियान्वित करने में धर्म के तक़ाज़ों को पददलित न किया जाए और आख़िरत के हित को ठेस न लगने दी जाए। धर्म के तक़ाज़े और आख़िरत के हित ऐसे तो ज़रूर हैं कि उनसे इनसान की इच्छाओं पर रोक लगती है, वे उसे मनमानी करने से रोकते हैं और उससे उसके सांसारिक हितों की क़ुरबानियाँ चाहते हैं। लेकिन ऐसे हरगिज़ नहीं हैं कि दुनिया की चीज़ों को हासिल करने के दौरान लाभ प्राप्त करने के प्रति बिलकुल ही उदार न हों। अतः हदीस में मोमिन की मिसाल उस घोड़े से दी गई है, जो एक सीमित लम्बाई रखनेवाली रस्सी के द्वारा खूँटे से बँधा रहता है। स्पष्ट है कि ऐसे घोड़े की हालत उस घोड़े जैसी नहीं होती जिसके पावँ खूँटे से बिलकुल मिलाकर इस तरह बांध दिए गए हों कि वह हिल-डुल भी न सके। पहले घोड़ें को जहाँ एक ख़ास सीमा तक चलने-फिरने और चरने-चुगने की आज़ादी होगी वहाँ दूसरा घोड़ा इस तरह की किसी आज़ादी से बिलकुल वंचित होगा। इस उदाहरण से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि दुनिया पर आख़िरत को प्राथमिकता देने के बावजूद मोमिन के लिए सांसारिक सफलता व भलाई की राह भी मुनासिब और ज़रूरी सीमा तक बिलकुल खुली ही रहती है। अर्थात् जहाँ वास्तविकता यह है कि मोमिन का असल लक्ष्य आख़िरत की सफलता होती है, वहाँ यह भी एक मान्य सच्चाई ही है कि इस्लाम ने आख़िरत की सफलता का जो मार्ग बताया है वह सांसारिक सफलता से कतरा कर नहीं जाता, बल्कि इसके अन्दर से होकर गुज़रता है। अभी सूरा आले-इमरान की जिस आयत का हवाला गुज़र चुका है, उसके शब्दों को फिर ग़ौर से देख लीजिए। यह आयत साफ़-साफ़ कहती है कि जो लोग सच्चे ईमान और अच्छे कर्म करनेवाले होते हैं, उन्हें स्वयं इस ईमान और कर्म के परिणाम में 'आख़िरत के सर्वश्रेष्ठ प्रतिफल' के साथ-साथ 'सांसारिक प्रतिफल' भी मिला करता है जो ख़ुदापरस्ती (ईशपरायणता) और आख़िरत-पसन्दी के 'सवाब' (प्रतिफल और बदले) में शामिल है। इसलिए आख़िरत को संसार (दुनिया) पर प्राथमिकता देने का परिणाम स्वयं संसार के सही फ़ायदे व लाभ भी हासिल कर लेना है, उससे वंचित हो जाना हरगिज़ नहीं है।

सांसारिक सफलता की अनिवार्य शर्त

अंत में इस वास्तविकता का याद दिला देना भी उचित होगा कि जिस प्रकार सच्चा ईमान और अच्छा कर्म आख़िरत की सफलता के लिए अनिवार्य है, उसी प्रकार सांसारिक बरकतों के दरवाज़े भी मुसलमान पर उसी वक़्त खोले जाते हैं जब वह ईमान व कर्म की शर्त पूरी कर देता है। चुनांचे ऊपर की पंक्तियों में आप देख चुके हैं कि जिस किसी क़ौम से भी सांसारिक सफलता का वादा किया गया था, ईमान व कर्म की शर्त के साथ ही किया गया था। स्वयं मुस्लिम समुदाय को भी जब सत्य के इनकारियों पर प्रभावी होने की शुभ-सूचना दी गई तो "इन कुनतुम-मुअमिनीन" अर्थात् अगर तुम मोमिन हुए (क़ुरआन, 3:139) की शर्त के साथ ही दी गई थी और जब सत्ताधिकार प्रदान करने का वादा किया गया था तो इस स्पष्टीकरण के साथ किया गया था कि "यह वादा केवल उन लोगों से है जो ईमान व अच्छे कर्मवाले हैं" (क़ुरआन, 24:55)। मतलब यह कि जहाँ अल्लाह तआला का यह सर्वसामान्य वादा है कि वह अपने धर्म के माननेवालों को सांसारिक सफलता से भी नवाज़ता है, वहीं उसका यह एक सर्वसामान्य नियम भी है कि यह वादा ईमान और अच्छे कर्म करने की अनिवार्य शर्त के साथ प्रतिबन्धित है। इसका मतलब यह है कि ईमान और कर्म के बिना केवल आख़िरत ही की नहीं, संसार की सफलता भी हाथ नहीं आ सकती, धर्म के बिना सही अर्थों में दुनिया भी नहीं मिल सकती। यह विधान, चाहे मिल्लत के लोग हों या पूरी मिल्लत व जमाअत, दोनों ही के लिए है। कोई भी इससे विमुक्त नहीं। लोगों को भी अपने वैयक्तिक जीवन की सांसारिक सफलता – उदाहरणतः अम्न व दिल की शांति, इज़्ज़त व प्रियता और जीवन की आवश्यकताएँ आदि – उसी समय मिलेंगी जब वह अपनी हद तक ऐसे ख़ुदा-शनास और आख़िरत पसन्द हों जैसाकि एक मुसलमान को होना चाहिए। नबी (सल्ल.) ने इसी सच्चाई का ख़ुलासा किया था जब आप (सल्ल.) ने यह कहा था कि –

> "जिसने अपनी समस्त चिंता, एक ही चिंता – अपनी आख़िरत की चिंता–को बना लिया, अल्लाह तआला उसकी दुनिया का इन्तिज़ाम कर देने के लिए काफ़ी है और जिसके ज़ेहन को अनगिनत विचारों— दुनिया के

विचार व मामलों — ने दूषित कर रखा हो, अल्लाह तआला को उसकी कोई चिंता नहीं कि वह इस दुनिया की किस घाटी में हलाक होकर रहता है।" (हदीस : इब्ने-माजा)

अल्लाह के रसूल (सल्ल.) का एक और फ़रमान है –

"........... जो व्यक्ति आख़िरत को अपना लक्ष्य बना लेता है, अल्लाह तआला उसके मामलों को दुरुस्त कर देता और उसके दिल को निस्पृह (बेनियाज़) बना देता है और दुनिया आज्ञानुपालक बनकर उसके समक्ष आ खड़ी होती है।" (हदीस : इब्ने-माजा)

इसी प्रकार पूरे समाज व समुदाय को भी अपने समष्टीय जीवन की सफलता -- स्वतन्त्रता, धनसम्पन्नता, प्रतिष्ठा, सत्ताधिकार और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान आदि — उसी समय प्राप्त हो सकते हैं; जब वह अपनी सामाजिक हैसियत में वस्तुत: 'मुस्लिम समुदाय' हो। यानी एक ओर तो वह ऐसे लोगों पर आधारित हो, जो समष्टीय दृष्टिकोण से ईमान के सच्चे और कर्म के अच्छे हों, दूसरी ओर उसमें वह सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था व एकता हो जिसके बिना कोई पार्टी, पार्टी नहीं होती, और जिसकी अल्लाह व रसूल की ओर से उसे अत्यन्त चेतावनी दी गई है।

इस विषय में इस समुदाय की दूसरी क़ौमों से तुलना करना सही न होगा। दूसरी क़ौमें तो अपनी सारी नाफ़रमानियों के बावजूद ऊँचे से ऊँचा शासनाधिकार प्राप्त कर सकती हैं, लेकिन मुस्लिम समुदाय के लिए इस प्रकार की कोई सम्भावना नहीं है। उसके लिए तो सम्मान व अधिकार के पाने का बस एक ही रास्ता है, और वह है इस्लाम का रास्ता, इस्लाम की फ़रमांबरदारी का आचरण, हक़ की गवाही का सीधा मार्ग। इस अन्तर का कारण यह है कि मुस्लिम समुदाय के लिए उत्थान और पतन का क़ानून अल्लाह तआला ने वह नहीं रखा है, जो दूसरी क़ौमों के लिए निश्चित है। दूसरी क़ौमों के लिए उसका क़ानून तो यह है कि यदि कुछ भौतिक प्रकार की मानवीय नीतियाँ उनके अन्दर मौजूद हों और उन्नति के अनिवार्य भौतिक उपायों को अपना लें, तो ऊँची उठ सकती हैं। लेकिन जहाँ तक मुस्लिम

समुदाय का मामला है, केवल यही चीज़ें उसके लिए उन्नति की सीढ़ी बनने के लिए पर्याप्त नहीं हो सकतीं। क्योंकि यह समुदाय इस दुनिया में अल्लाह के धर्म का ध्वजावाहक और दूसरी क़ौमों के सामने सत्य का गवाह है, दूसरी किसी क़ौम की स्थिति यह नहीं है। स्थिति की यह भिन्नता अनिवार्य करती है कि क़ुदरत की निगाह में उन दोनों के अधिकार भी और उनकी ज़िम्मेदारियाँ भी भिन्न हों। फिर अधिकारों और ज़िम्मेदारियों की भिन्नता अनिवार्य ठहराती है कि उनके विधान व नियम भी भिन्न हों, जिनके मुताबिक़ उनसे मामले हों। दूसरी क़ौमें अगर सत्य का रास्ता छोड़कर चलें तो न्याय कहता है कि उनका यह जुर्म इतना सख़्त और घृणास्पद न होगा जितना सख़्त और घृणास्पद मुस्लिम समुदाय की ओर से घटित होने की शक्ल में हो सकता है। इसलिए दूसरी क़ौमों को ख़ुदा की ओर से अगर यह छूट मिली है कि वे ख़ुदा की फ़रमाँबरदारी अपनाए बिना भी दुनिया में फूल-फल सकती हैं और मुस्लिम समुदाय को नहीं मिली है, तो ऐसा होना ही चाहिए था। जिसे अल्लाह तआला का विशिष्ट अनुग्रह प्राप्त हो, उसे उस अनुग्रह की नाक़द्री की शक्ल में उसके विशिष्ट प्रकोप का पात्र भी होना चाहिए। क़ुरआन मजीद ने एक जगह नबी (सल्ल.) की पवित्र पत्नियों (रज़ि.) को सम्बोधित करके वार्ता करते हुए सन्दर्भगत अल्लाह के क़ानून की इस ख़ास दफ़ा का भी विस्तार से वर्णन कर दिया है (क़ुरआन, 33:30-31)।

यह बात कि मुस्लिम समुदाय संसार का वास्तविक उत्थान और सत्ताधिकार उसी समय प्राप्त कर सकता है, जब वह वास्तविक रूप में भी 'मुस्लिम समुदाय' हो, उसके चौदह सौ वर्षों से भी अधिक के इतिहास से भी पूरी तरह स्पष्ट है। जब तक यह समुदाय वास्तव में 'मुस्लिम समुदाय' रहा, पूरी सुसभ्य दुनिया में राजनीतिक प्रभाव और इहलौकिक ऐश्वर्य की दृष्टि से उसकी वह स्थिति (Position) रही जो अमेरिका और रूस को भी प्राप्त नहीं, लेकिन ज्यों-ज्यों वह 'मुस्लिम समुदाय' के बजाय केवल 'समुदाय' बनता गया, अपनी इस स्थिति से वंचित होता चला गया। यहाँ तक कि इस दशा को पहुँच गई जहाँ दुनिया में उसका कोई उल्लेखनीय स्थान शेष नहीं रह गया। यह वस्तुस्थिति स्वयं बताती है कि इस समुदाय की यह दशा वास्तविक सम्मान व ऐश्वर्य से उस समय तक नहीं बदल सकती, जब तक कि वह स्वयं अपने को

न बदल ले, और बदलकर फिर वही न बन जाए जो पहले था। अहले-किताब के बारे में अल्लाह तआला का वह फ़ैसला हमारे सामने मौजूद है जो अंतिम नबी हज़रत मुहम्मद (सल्ल.) की ज़बान से उसने उन्हें सुनाया था। वह यह था –

> "ऐ अहले-किताब! तुम्हारी कोई बुनियाद नहीं है जब तक कि तुम तौरात को, इंजील को और उस हिदायत को क़ायम न कर लो जो तुम्हारे रब की ओर से तुम्हारी तरफ़ उतारी गई है।" (क़ुरआन, 5:68)

यही फ़ैसला 'मुस्लिम समुदाय' के भविष्य को भी प्रदर्शित करता है। यदि उसने क़ुरआन के लाए हुए सत्य-धर्म को पुनः स्थापित नहीं किया, तो उस ख़ुदा के क़ानून की अपेक्षा यह है कि उसे भी किसी 'असल' पर न समझा जाए और न उसे उस इज़्ज़त व सत्ताधिकार का पात्र ठहराया जाए जिसका वादा अल्लाह तआला ने उससे 'मुस्लिम समुदाय' की हैसियत से किया था। इसलिए उसके वर्तमान से उसका भविष्य उसी समय भिन्न हो सकता है जब वह अपने अतीत की ओर वापस जाए। और उसे वास्तविक सम्मान तथा सत्ताधिकार की नेमत उसी समय प्राप्त हो सकती है जब वह अपने जीवन पर अल्लाह के धर्म को प्रभावी कर ले। यह धर्म उसकी मस्जिदों का भी धर्म हो और उसकी विधान सभाओं और संसदों का भी हो। अल्लाह तआला का 'प्रिय वादा' सदैव पूरा होने के लिए तैयार है। मुस्लिम समुदाय जब भी सच्चे दिल से उसकी आकांक्षा करेगा, वह पूरा होकर रहेगा।

इस अवसर पर अल्लाह तआला का एक और क़ानून भी याद रखना चाहिए। वह यह कि सामाजिक स्वतन्त्रता और सम्मान व प्रतिष्ठा 'जमाअत' ही को मिल सकती है, व्यक्ति को नहीं। अतः उक्त चीज़ों का वादा भी 'जमाअत' ही से किया गया है, व्यक्ति से नहीं। इसलिए अगर यह समुदाय कुल मिलाकर उस तरह की जमाअत है जिस तरह की जमाअत अल्लाह व रसूल (सल्ल.) को अभीष्ट है, अर्थात् वह जमाअत की हैसियत से 'मोमिन' (सच्चा मुस्लिम), 'सालेह' (सत्यकर्मनिष्ठ) और 'शाहिदे-हक़' (सत्य की गवाही देनेवाली) जमाअत है, तो वह निस्सन्देह स्वतन्त्र और प्रतिष्ठित होगी, सम्मान उसके क़दम चूमेगा और सत्ताधिकार उसकी रिकाबें थामेगा। अगर यह

समुदाय ऐसी 'जमाअत' नहीं है, तो चाहे वह संख्या में रेत के ज़र्रों से भी अधिक हो, अपने लोगों की वैयक्तिक नेकियों की बदौलत इस्लाम की उन सांसारिक बरकतों का कभी भी योग्य न ठहरेगा। और जब ऐसा होगा तो फ़ितरी तौर से उसके दुर्भाग्य में उसके दुष्कर्मी और अकर्मनिष्ठ लोगों के साथ-साथ कर्मनिष्ठ लोग भी बराबर के शरीक ही होंगे। यह दूसरी बात है कि इन कर्मनिष्ठ और सदाचारी लोगों को उनके वैयक्तिक जीवन की कुछ सांसारिक बरकतें बदस्तूर मिलती रहें। क्योंकि इन बरकतों की हद तक जो शर्त है वह पूरी हो रही है तो समाज की सामूहिक ग़लतकारियाँ और उनके बुरे परिणाम अपनी जगह पर, उन बरकतों को तो प्राप्त होना ही चाहिए। रेत के ढेरों में दबे हुए कुछ सच्चे मोती उस पूरे ढेर को सुसज्जित मुकुट तो न बना देंगे कि वह मानवता के सिर की शोभा बन सके, लेकिन स्वयं में उनका अपना जो मान-सम्मान है रेत कणों की अधिकता उसे हज़म भी नहीं कर सकती।

एक उलझन और उसका निराकरण

सांसारिक सफलता के सम्बन्ध में यह जो कुछ बताया गया, परिस्थितियों का विहंगम दृष्टि से जायज़ा लेनेवाले उसके बारे में सन्देह और असमंजस की कतिपय उलझनों में पड़ सकते हैं। वे कह सकते हैं कि अवलोकन इस दावे का समर्थन करता दिखाई नहीं देता। क्योंकि ऐसे अनगिनत उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं कि जो लोग अच्छे मुसलमान होते हैं, उनका जीवन बड़ा मोटा-झोटा होता है और कभी-कभी बड़ी तकलीफ़ों के साथ व्यतीत होता है। इसके विपरीत जिन लोगों को इस्लाम से बस यूँ ही थोड़ा-बहुत लगाव होता है, वे भारी ख़ज़ानों और बड़ी शोहरतों के मालिक होते हैं। इसी प्रकार कुछ ऐसे मुस्लिम देश जो अपनी राजनीति और शासन के माथे पर इस्लाम का नाम 'तबर्रुक' के रूप में भी लिखना पसन्द नहीं करते स्वाधीनता और सत्ताधिकार प्राप्त हैं। लेकिन वे मुस्लिम हुकूमतें, जिन्होंने अपने यहाँ शरीअत के अहकाम लागू कर रखे हैं, दूसरों के चापलूस बने हुए हैं। ऐसे हालात में सांसारिक सफलता के इन वादों और विधानों की बात कुछ समझ में नहीं आती, जिन्हें यहाँ वर्णन किया गया है। अनिवार्य है कि यहाँ उन उलझनों को भी दूर कर दिया जाए–

● जहाँ तक वैयक्तिक सफलता का सम्बन्ध है, यह उलझन केवल उस व्यक्ति को हो सकती है जिसको 'सांसारिक सफलता' की इस्लामी धारणा का ज्ञान न हो, जो वस्तुतः आम धारणा से बहुत कुछ भिन्न है। इसलिए इस उलझन का हल यह है कि यह अवधारणा मालूम कर ली जाए। इस धारणा की ओर संकेत इन आयतों में किया गया है, जिनमें एक सच्चे मुसलमान को सांसारिक सफलता की शुभ-सूचना दी गई है :

> "जो व्यक्ति भी चाहे वह पुरुष हो, चाहे महिला, अच्छे कर्म करेगा और वह ईमानवाला भी होगा, हम उसका जीवन अनिवार्यतः अच्छा व्यतीत कराएँगे।" (क़ुरआन, 16:97)

> "अतः जो कोई मेरे मार्गदर्शन का अनुकरण करेगा, वह न गुमराह होगा, न दुर्भाग्यों में फँसेगा, और जो कोई मेरी याद से मुँह मोड़ेगा, उसका जीवन यक़ीनन कठिनाई भरा जीवन होगा।" (क़ुरआन, 20:123-124)

ये आयतें बताती हैं कि ईमान और अच्छे कर्म के परिणाम में इस संसार के अन्दर एक सच्चे मुसलमान को जो सफलता मिलती है वह 'हयातन तय्यि-बः' यानी अच्छा जीवन और 'ला य-शक़ा' यानी कठिनाइयों और दुर्भाग्यताओं से सुरक्षित – की सफलता है। दूसरे शब्दों में यह कि इस सफलता का वास्तविक भाव धन-दौलत की तिजोरियाँ, ऊँची-ऊँची कोठियाँ, क़ीमती कारें, नौकरों की फ़ौज, तरह-तरह के भोजन और क़ीमती कपड़े रखना व पहनना नहीं है; बल्कि वस्तुतः अनिवार्य जीवन-सामग्री की उपलब्धता और हृदय-सम्पन्नता है। ऐसा धन-दौलत जिसके द्वारा इनसान को नींद जैसी स्वाभाविक आवश्यकता पूरी करने के लिए भी नींद लानेवाली औषधियाँ लेनी पड़ें, ज़ेहन परेशानियों का स्थायी निवास-स्थल बना रहे, सीने में डर और लालच की भट्टियाँ सुलगती रहें, किसी प्रकार भी सुख-सामग्री नहीं होती, बल्कि एक अज़ाब होती है, सफलता नहीं, बल्कि दयनीय दुर्भाग्य होता है। और यह एक यक़ीनी बात है कि ख़ुदा की मुहब्बत और आख़िरत की आकांक्षा दिल से निकाल देने के बाद इनसान को केवल ऐसी ही दौलत मिलती है जिसके होते हुए वह भुखमरों से भी अधिक 'ग़रीब' और तबाहहाल

बना रहता है। इसके विपरीत जिस किसी का दिल ख़ुदा की मुहब्बत और आख़िरत की चाहत का मधुर-स्वाद ले चुका होता है वह दो वक़्त की रोटी पाकर भी, जो उसे ज़रूर मिलती है, एक धनाढ्य से भी अधिक सन्तुष्ट रहता है। क्योंकि जिस चीज़ का नाम दिल का सुकून व इत्मीनान है, उसका स्रोत केवल अल्लाह की याद है –

> ".....जिनके दिलों को अल्लाह की याद से आराम और चैन मिलता है।"
>
> (क़ुरआन, 13:28)

और अगर इनसान का दिल अल्लाह की याद से परिपूर्ण हो तो उसके अन्दर अनिवार्य रूप से और निस्सन्देह तक़वा होगा। और जिस व्यक्ति के अन्दर तक़वा होगा, अल्लाह तआला का फ़रमाना है कि वह नंगा-भूखा नहीं रह सकता। यह मेरा काम है कि मैं उस तक रोज़ी पहुँचाऊँ –

> "जो कोई अल्लाह का डर रखेगा उसके लिए वह (परेशानी से) निकलने की राह पैदा करेगा और उसे वहाँ से रोज़ी देगा, जिसका उसे गुमान भी न होगा।"
>
> (क़ुरआन, 65:2-3)

● रही समष्टीय जीवन की सफलता की बात तो यह उलझन अत्यन्त सतही अवलोकन का नतीजा है। अन्यथा वास्तव में वह इस योग्य भी नहीं कि उसका इज़हार किया जाए। जिन मुसलमान शासकों को आज आप, इस्लाम से असम्बद्धता की उद्घोषणा करने के बावजूद, 'स्वाधीन' और 'सत्ताधिकारी' देखते हैं, उनके चेहरों पर स्वाधीनता और सत्ताधिकार की केवल नक़ाब पड़ी हुई है, अन्यथा उनके पास वास्तविक अर्थों में न सत्ताबल है, न सत्ताधिकार। उनकी दशा यह है कि उनमें से कोई अमेरिकी 'बैसाखियों' के बल पर खड़ा है, तो कोई रूसी 'छत्रछाया' में सांस ले रहा है। यह अगर सामुदायिक सम्मान व सत्ताधिकार है तो इस्लाम इस 'सम्मान व सत्ताधिकार' से विरक्त है।

इसी प्रकार जिन मुसलमान देशों को अपने यहाँ शरई क़ानून को लागू किए जाने के बावजूद आप कमज़ोर और दूसरों को चापलूस पाते हैं, उनमें से कोई एक भी ऐसा नहीं जहाँ इस्लामी क़ानून के लागू होने की बात पचास क्या पच्चीस प्रतिशत भी सही हो। उनमें से किसी के अन्दर यह साहस और सामर्थ्य

नहीं है कि जीवन के महत्त्वपूर्ण समष्टीय मामलों में इस्लाम के दिए हुए क़ानून और हिदायतों को अपना सकें। अधिक से अधिक जो बात उनके यहाँ पाई जाती है वह केवल यह है कि 'धार्मिक कामों' और कुछ दूसरे मामलों की हद तक इस्लामी क़ानून को अपनाए रखा गया है। लेकिन स्पष्ट है कि इस्लामी व्यवस्था के केवल कतिपय अंगों को ले लेना और बाक़ी को छोड़े रखना इस्लाम पर ईमान व यक़ीन का प्रमाण नहीं बल्कि विश्वास-अल्पता का प्रमाण है, और इसके लिए वास्तविक परम सत्ताधिकारी अल्लाह की ओर से ज़िल्लत की सज़ा निश्चित की गई है, प्रतिष्ठा प्रदान करने का वादा नहीं किया गया है। इसलिए ये मुस्लिम हुकूमतें अगर दूसरों की चापलूस बनी हुई हैं तो उसी पोज़ीशन की वे हक़दार भी हैं। उनका वर्तमान रवैया और आधी-तिहाई प्रकार की इस्लाम की पैरवी उन्हें कभी सच्ची आज़ादी और सत्ताधिकार से आलिंगनबद्ध न होने देगी। यह 'नेमत' तो इस्लाम की पूरी पैरवी और उसकी जीवन-प्रणाली को पूरी तरह लागू किए जाने के बाद ही मिल सकती है, क्योंकि अल्लाह तआला का इहलौकिक सफलता सम्बन्धी वादा केवल उसी परिस्थिति से सम्बद्ध और उसी शर्त के साथ सम्बद्ध है। इस वादे के सिलसिले में अपने बन्दों से उसका फ़रमाना यह है कि–

> "तुम मेरे साथ किए हुए वादे को पूरा करो, मैं तुम्हारे साथ किए हुए अपने वादे को पूरा करूँगा।" (क़ुरआन, 2:40)

—●—●—